"शैली की दृष्टि से इन्द्र सूक्तों का अध्ययन"

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी. फिल्. उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध प्रबन्ध

निर्देशक
डा. हरि शंकर त्रिपाठी एम. ए. डी. फिल्.
रीडर, संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्त्री
श्रीमती हेमलता पाण्डे एम. ए. बी. एड.

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलालहाबाद

१९९०

आत्म-निवेदन

" जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते
वेदपाठाद् भवेद् विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः "

उपर्युक्त पंक्ति में स्पष्ट है कि प्रत्येक जीवधारी जन्म से शूद्र ही उत्पन्न होता है । उसे संस्कारों से सुसंस्कृत करने के पश्चात् "द्विज " कहा जाता है एवं "विप्र" शब्द वेदज्ञानी (अर्थात्) होने पर एवं ब्रह्म का ज्ञान होने पर ही ब्राह्मण कहा जाता है । किन्तु जन्मना ब्राह्मण वर्ण एवं चान्द्रायण गोत्र में उत्पन्न एवं माता पिता के रूप में श्रीमती सरस्वती पाण्डे एवं श्रीरामअवतार पाण्डे को पाकर मेरा बाल्यकाल सफल हो गया । बाल्यावस्था से विविध संस्कारों, कर्मकाण्डों का आयोजन स्वपरिवार में नियोजित होते हुए देखती रही । पुरोहित द्वारा विविधानुष्ठानों का आयोजन पिता की धार्मिक प्रवृत्ति का परिचायक था । विद्वान् पुरोहित स्व0 पं0 लक्ष्मी नारायण तिवारी द्वारा विद्वतापूर्ण अनुष्ठानों का आयोजन एवं उपस्थित जनों की शंकाओं का दक्षता से समाधान देखकर ही संस्कृत भाषा के प्रति रूचि जाग्रत हुई ।

हाई स्कूल एवं इण्टरमीडिएट की शिक्षा मैंने इण्टर कालेज, खालिसपुर, गाजीपुर, से पूर्ण की । बी0ए0 की शिक्षा हेतु मुझे मेरे अग्रज श्रीकृष्णप्रतापपाण्डे इलाहाबाद लाए। अन्य कई समीपस्थ वि0वि0 का फार्म भरा गया था, किन्तु मेरे भतीजे अविनाश चन्द्र पाण्डे की इच्छा थी कि मैं इलाहाबाद से ही अध्ययन करूँ, अतः उसने प्रवेश फार्म पोस्ट ही नहीं किया । इसप्रकार इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, से बी0ए0 की शिक्षा का सौभाग्यप्राप्त हुआ ।

हाई स्कूल एवं इण्टर में प्रथम श्रेणी प्राप्त होने से स० ना० महिला छात्रावास में आवासीय सुविधा भी मिल गई । वहीं रहकर एम० ए० संस्कृत से किया । शोध कार्य हेतु रजिस्ट्रेशन भी हो गया, किन्तु पति महोदय की असुविधा का ध्यान रखते हुए छात्रावास छोड़ना पड़ा । उस समय वे सीतापुर में नियुक्त थे और सीतापुर से इलाहाबाद आ जा करके शोध पूर्ण करना सम्भव नहीं हुआ, फिर भी पुस्तकों का संग्रह करके वहीं पर स्वाध्याय करती रही ।

इसी मध्य 2 सितम्बर 1980 को मेरे पिता का स्वर्गवास हो गया । इस दु:खद घटना ने मुझे हार्दिक रूप से दु:खी किया । मैं इस आत्मग्लानि से कभी मुक्त नहीं हो सकी कि शोध हेतु ही मैं अपने पिता से अलग हुई और फिर शोध भी कहाँ पूर्ण हुआ ? अगस्त 1980 में सावन पूर्णिमा को पिताजी के जन्म दिन पर सब भाई- बहन एकत्र हुए, किन्तु मैं न पहुँच सकी । जिस समय मेरे पिताको मेरी जरूरत थी, उस समय वे नितान्त अकेले रहे । उनकी मृत्योपरान्त शोध-कार्य लगभग ठप्प हो रहा । 1985 में पतिदेव का स्थानान्तरण गोरखपुर होने पर मैंने डा० विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी, प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग, गोरखपुर वि०वि०, गोरखपुर, के निर्देशन में "तैत्तिरीय आरण्यक" पर शोध प्रारम्भ किया, किन्तु पुन: कानपुर स्थानान्तरण होने से वह भी अवरुद्ध हो गया ।

इस बीच मैं लगभग अर्द्धविक्षिप्तावस्था से गुजर रही थी । कुछ समझ में नहीं आता था । क्या करूँ ? ऐसी स्थिति में मेरे अग्रज भ्राता ने ही मुझे बी० एड० करने हेतु प्रेरित किया । बी० एड० प्रवेश परीक्षा उत्तीर्ण

होने पर स्वयं मुझमें भी उत्साह जग गया और मैंने बड़ी विषम परिस्थितियों में बी०एड० भी पूर्ण किया । उसके बाद खाली व्यर्थ न रहकर मैंने अध्ययन जारी रखना ही उचित समझा । क्योंकि इस बीच मैं अनिद्रा की शिकार हो गई थी । खैर, माँ सरस्वती की असीम कृपा से इस रोग से पूर्ण मुक्ति मिल गई । इस प्रकार ई शोध कार्य पुन: प्रारम्भ किया, किन्तु इसमें आवासीय सुविधा हेतु बहुत भटकना पड़ा । इससंबंध में मैं श्रीमती रञ्जना कक्कड़,अधीक्षिका, स०ना०म०छा०, को धन्यवाद देना चाहूँगी । कुछ समय बाद स्थानाभाव के कारण मुझे अपने भाई श्री गङ्गाप्रताप पाण्डे के यहाँ भी रहना पड़ा । भाभी जी श्रीमती उषा पाण्डे की मैं विशेष रूप से ऋणी हूँ,क्योंकि उन्होंने हर सम्भव मेरी मदद की । अपने पति के प्रति भी ऋणी हूँ,क्योंकि संस्कृत विषय से सर्वथा दूर इंजीनियर होते हुए भी मुझे शोध हेतु प्रेरित किए एवं उसकी पूर्णता में सहयोगी रहे । मेरे शोधकार्य में प्रति- पल अवरोध उपस्थित होते रहे । इसी मध्य भाई साहब का स्थानान्तरण हो गया । पुन:, आवासीय समस्या के निदान हेतु महिला छात्रावास की तरफ ध्यान गया । बहुत प्रयासो- परान्त पी०डी० महिला छात्रावास में स्थान मिला । इस संबंध में मैं वहाँ की अधीक्षिका,जो 1975 में मेरी सीनियर भी रह चुकी हैं,श्रीमती दीपा पुनेठा को साधुवाद देना चाहूँगी ।

पुस्तकीय सहायता हेतु जेनरल लाइब्रेरी , इलाहाबाद वि०वि० एवं गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ पुस्तकालय एवं तद्गत समस्त कर्मचारियों एवं विशेष रूप से उन विद्वानों को साधुवाद देना चाहूँगी, जिनसे मुझे समय-समय पर मदद मिलती रही । निर्देशक के रूप में पूज्यगुरुवर

डा0 हरिशंकर त्रिपाठी एवं उनकी स्नेहमयी धर्मपत्नी की विशेष कृपा प्राप्त होती रही । व्याकरण सम्बन्धी विविध उलझनों से मुक्ति हेतु मैं डा0 के0पी0 दूबे की आभारी हूँ, जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर मेरी समस्याओं का समाधान किया ।

अन्त में मैं इलाहाबाद वि0वि0 के संस्कृत-विभाग एवं अन्य विभागों के उन अनेक प्राध्यापकों, शोध-छात्रों एवं शुभचिन्तकों के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ, जिनका नामोल्लेख स्थान संकोच के कारण नहीं किया जा सका है । वि0वि0 के संस्कृत-विभागाध्यक्ष, डा0 सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव एवं कुलपति, प्रो0 टी0 पति, के प्रति आभार व्यक्त करना, तो वाणी का विषय ही नहीं है । इन महानुभावों की कृपा न रही होती, तो कार्य की पूर्णता ही संदिग्ध थी ।

मैं शोध-प्रबन्ध के टंकक श्री विनोद कुमार द्विवेदी को भी साधुवाद देना चाहूँगी, जिन्होंने अथक परिश्रम करके प्रबन्ध को वर्तमान आकार में प्रस्तुत करने के योग्य बनाया । अन्ततोगत्वा मैं अपने पति एवं परिवार के समस्त बन्धु-बान्धवों एवं स्नेही सुहृदजनों के प्रति आभार व्यक्त करना चाहूँगी, जिनकी प्रेरणा से मैं यहाँ तक पहुँच सकी ।

(हेमलता पाण्डे)

संकेत – सूची

अ०	–	अदादिगण
अ० को०	–	अमर कोष
अग्नि०	–	अग्निपुराण
अथर्व०	–	अथर्ववेदसंहिता
अनु०	–	अनुवादक
अनुशासन०		अनुशासन पर्व
अरण्य०	–	अरण्यकाण्ड
अवे०	–	अवेस्ता
आत्मने०	–	आत्मनेपद
आदि०	–	आदि पर्व, आदि पुराण
इण्डि० मा०		इण्डियन माइथालाजी
उ०	–	उत्तम पुरुष, उभयपद, उव्वट
उ०पु०	–	उत्तम पुरुष
उत्तर	–	उत्तर काण्ड, उत्तरपुराण
उ०सू०	–	उणादि सूत्र
ऋ०	–	ऋग्वेद
ऋ०प्रा०	–	ऋग्वेद प्रातिशाख्य
ऋ०भा०		ऋग्वेद भाष्य
ऋ०सं०	–	ऋग्वेद संहिता
ऋ०सू०वै०	–	ऋक् सूक्त वैजयन्ती

ए०व०	- एक वचन
ऐ०आ०	- ऐतरेय आरण्यक
ऐ०ब्रा०	- ऐतरेय ब्राह्मण
ओ०सं०टे०	- ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्ट
कर्ण०	- कर्ण पर्व ~~कन्स्ककन-श्रैल-सूत्र-~~
का०श्रौ०सू०	- कात्यायन श्रौत सूत्र
कीथ	- ए०बी०कीथ
कूर्म०	- कूर्म पुराण
कौ०ब्रा०	- कौषीतकि ब्राह्मण
क्र्य०	- क्रयादि गण
गेल्ड	- के० एफ० गेल्डनर
गो०ब्रा०	- गोपथ ब्राह्मण
ग्रा०	- एच० ग्रासमान
ग्रि०	- टी०एच० ग्रिफिथ
च०	- चतुर्थी
चु०	- चुरादिगण
छा०उ०	- छान्दोग्योपनिषद्
ज०बा०यू०	- जर्नल आफ द बाम्बे यूनिवर्सिटी
जु०	- जुहोत्यादिगण
जै०उ०ब्रा०	- जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ।
जै० ब्रा०	- जैमिनीय ब्राह्मण
जै०सू०	- जैमिनीय सूत्र
त०	- तनादिगण

ता०म०ब्रा० - ताण्ड्य महाब्राह्मण

तु० - तुदादिगण

तु० - तुलनीय

तृ० - तृतीया

तै० आ० - तैत्तिरीयारण्यक

तै०उ० - तैत्तिरीयोपनिषद्

तै०सं० तैत्तिरीयसंहिता

द०रि०ऋ० - द रिलीजन आफ द ऋग्वेद ।

दि० - दिवादिगण

द्वि० - द्विवचन, द्वितीया

दे० - देवता, देव

द्र० - द्रष्टव्य

नि० - निपात

निघ० - निघण्टु

निरु० - निरुक्त

प० - परस्मैपद, पञ्चमी विभक्ति

पा०धा०पा० - पाणिनि धातु पाठ

पा० अष्टा० - पाणिनि अष्टाध्यायी

पा०सू० - पाणिनीय सूत्र

पी० - पीटर पीटर्सन

पु० - पुल्लिङ्ग

प्र० - प्रथमा, प्रश्नोपनिषद्, प्रथम पुरुष

प्र०सं० - प्रथम संस्करण

पृ० – पृष्ठ संख्या

पि०सू० – पिट सूक्त

ब०व० बहुवचन

बृ०छ० – बृहती छन्द

बृ०उ० – बृहदारण्यकोपनिषद्

बृ०दे० – बृहद् देवता

ब्र०उ० ब्रह्मोपनिषद्

भ्वा० – भ्वादिगण

भ० – भगवद् गीता

भा० – भाग

भा०धा०पा० – भारतीय धातु पाठ

म०पु० – मध्यम पुरुष

म० – मण्डल, मन्त्र

मत्स्य० – मत्स्य पुराण

मनु० – मनुस्मृति

मही० – महीधर

मु० – मुद्गल

मै०, मैक्डो० – ए०ए० मैक्डोनेल

मै०उ० – मैत्रायणी उपनिषद्

मैक्स० – एफ० मैक्समूलर

मै०सं० मैत्रायणी संहिता

मो०वि० – मोनियर विलियम्स

म्योर	-	जे० म्योर
यजु०	-	यजुर्वेद
यास्क०	-	यास्काचार्य
स्क०	-	स्कादिगण
व०	-	वचन
वा०सं०	वाजसनेयि संहिता	
वि०	-	षष्ठ०पच० विस्मन
वि०वि०	-	विश्व विद्यालय
विशे०	-	विशेषण
विष्णु०	-	विष्णु पुराण
वेङ्कट०	-	वेङ्कटमाधव
वै०दे०	-	वैदिक देवशास्त्र
वै०पुरा०	-	वैदिक पुराकथाशास्त्र
वै०मा०	-	वैदिक माइथालॉजी
वै०री०	-	वैदिक रीडर
वै०व्या०	-	वैदिक व्याकरण
वै०श०को०	-	वैदिक शब्द कोश
श०ब्रा०	-	शतपथ ब्राह्मण
शां०आ०	-	शांखायन आरण्यक
शु०यजु०	-	शुक्ल यजुर्वेद

ष० वि०	-	षष्ठी विभक्ति
स०	-	समास, सप्तमी
सम्बो०	-	सम्बोधन
सं० इं० डि०	-	संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी
सं० हि० को०	-	संस्कृत हिन्दी कोश
सर्व०	-	सर्वनाम
सा०	-	सायण, सामवेद
स्कन्द०	-	स्कन्द स्वामी
स्वा०	-	स्वादिगण
हो० शि०	-	होशियारपुर

****

विषय-सूची

पृष्ठसंख्या

प्रथम अध्याय –

भूमिका –

क•	विषय चयन की उपयोगिता	1-3
ख•	अध्ययन पद्धति	3-7
ग•	वैदिक देवताओं का वर्गीकरण	8-20
घ•	वैदिक देवता और देवता शब्द की व्युत्पत्ति	21-26
ङ•	इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति	27-32
च•	इन्द्र का स्वरूप	51-121
छ•	अष्टधा विभाजन	33-50
ज•	ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों में इन्द्र।	122-139

द्वितीय अध्याय –

इन्द्र सूक्त एवं उनका हिन्दी अनुवाद

क्रम संख्या	मण्डल	सूक्त	मन्त्र	
1•	1	28	9	148-143
2•	1	84	20	144-152
3•	1	100	19	152-162
4•	1	101	11	162-167
5•	2	13	13	168-174
6•	"	14	12	175-180
7•	"	15	9	181-185
8•	5	40	24	186-190

क्रम संख्या	मण्डल	सूक्त	मन्त्र	पृष्ठसंख्या
9.	6	44	24	191-202
10.	7	55	8	203-206
11.	8	12	33	207-219
12.	8	38	10	220-224
13.	8	45	42	224-239
14.	8	80	10	240-243
15.	8	82	9	243-246
16.	8	93	34	247-259
17.	8	96	12	259-264
18.	8	98	12	265-269
19.	10	24	6	270-272
20.	10	47	8	272-276
21.	10	119	13	276-281
22.	10	162	6	282-284

तृतीय अध्याय -

अधीत इन्द्र सूक्तों में प्रयुक्त पदों की व्याकरणिक व्याख्या (वर्णानुक्रम से) 285-476

चतुर्थ अध्याय -

क. कुछ चुने हुए शब्दों की व्युत्पत्ति परक व्याख्या 477-486

ख. इन्द्र सूक्तगत छन्द 487-493

परिशिष्ट -

अधीत ग्रन्थों की सूची 494-514

प्रथम अध्याय

भूमिका–

क– विषय चयन की उपयोगिता	1-3
ख• अध्ययन पद्धति	3-7
ग• वैदिक देवताओं का वर्गीकरण	8-20
घ• वैदिक देवता और देवता शब्द की व्युत्पत्ति	21-26
ङ• इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति	27-32
च• इन्द्र का स्वरूप	51-121
छ• अष्टधा विभाजन	33-50
ज• ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों में इन्द्र	122-139

﴾ प्रथम - अध्याय ﴿

﴾क﴿ विषय चयन की उपयोगिता -

यह विषय बहुत ही गहन विचार के बाद ही शोध हेतु चयन किया गया । वैसे भारतीय वाङ्मय में प्राचीनतम ग्रन्थ के नाम पर ऋग्वेद का नाम ही अब भी अपना वर्चस्व कायम किये है । इसकी प्राचीनता को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं । वेदों की भाषा एवं शैली को लेकर तरह तरह के आक्षेप प्रचलित हैं, जिनसे यह तो निश्चित रूप से स्पष्ट है कि वैदिक भाषा में ऐसा कुछ जरूर है, जिससे सामान्यज्ञानसम्पन्न जिज्ञासु को प्रथमतः वैदिकभाषा का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है ।

वेद का अध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व " षडाङ्ग वेद" का ज्ञान बहुत ही आवश्यक है । इन षडाङ्गों का अध्ययन वेद की भाषा शैली को बिलकुल स्पष्ट कर देता है । यहाँ मेरे विषय का सम्बन्ध ऋग्वैदिक से लेकर परवर्ती वैदिक ग्रन्थों की शैली का अध्ययन करना है । वैसे तो प्रत्येक भाषा का अपना- अपना वैशिष्ट्य होता है, किन्तु हमारी वैदिक भाषा बहुत विरल प्रकृति की है ।

किसी भी ग्रन्थ का समग्रतः ज्ञान प्राप्त करने हेतु सर्वप्रथम इसकी भाषा का ज्ञान परमावश्यक है । भाषा के बाद शैली का भी अध्ययन करना चाहिए । किसी भी ग्रन्थ की भाषा एवं शैली से यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थ किस कोटि का है । कोटि से तात्पर्य हमारा श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर एवं श्रेष्ठतम से न होकर, एक ऐसी कोटि से है, जिसका मानदण्ड सार्वलौकिक एवं सार्वभौमिक होना है । ऐसा वस्तु विषय सम्पादक ग्रन्थ जिसका हर काल में अध्ययन- अध्यापन मनीषियों एवं विद्वानों की जिज्ञासा का केन्द्र हो।

इसी कोटि में हमारा वैदिक प्राचीनतम ग्रन्थ ﴾ऋग्वेद﴿ आता है ।

वैदिक भाषा की प्राचीनता यदि कहीं स्पष्ट दर्शनीय है, तो वह ऋग्वेद ही है । उसके परवर्ती ग्रन्थों में वैदिक एवं लौकिक भाषा का अन्तर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है ।

शैली से तात्पर्य हमारा ऋग्वेद एवं अन्य लौकिक परवर्ती ग्रन्थों की व्याख्या पद्धति से है । वैदिक भाषा का कोई प्रामाण्य वैदिक व्याकरण उपलब्ध नहीं होता । पाश्चात्य विद्वानों ने ही वेद का सर्वप्रथम संग्रह एवं विस्तृत अध्ययन के पश्चात् कुछ ग्रन्थ प्रकाशित करवाये, जिनके आधार पर यह अध्ययन प्रक्रिया काफी पुष्पित एवं पल्लवित हुई ।

वेद व्याख्या पद्धति को दो भागों में बाँटा जा सकता है ।

§1§ भारतीय वेद व्याख्या पद्धति ।

§2§ पाश्चात्य § विदेशी § शैली ।

§1§ भारतीय वेद की व्याख्या की पद्धति तो काफी कुछ हद तक प्रशंसनीय है, किन्तु कुछ दुरूहताएं अब भी बनी हुई हैं । प्राचीन से लेकर नवीन शोध शास्त्री वैदिक शब्दों के रहस्य की परत का भेदन करने में लगे हैं ।

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष एवं छन्द का अध्ययन वैदिक ज्ञान कोष का अभिनव ज्ञान प्राप्त करने में सहायक है । शिक्षा ग्रन्थों के माध्यम से मन्त्रों एवं ऋचाओं का एक पक्ष ही जाना जा सकता है, कल्प मन्त्रों से यज्ञ परक कर्मकाण्डों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । किन्तु व्याकरण का अध्ययन करके वैदिक भाषा की तह तक पहुँचा जा सकता है । कोई लिखित प्रामाण्य व्याकरण ग्रन्थ अप्राप्य होने से निरुक्त के निर्वचन का ही सहारा लेना पड़ता है ।

वैदिक शब्द यौगिक एवं रूढ़ हैं, किन्तु निरुक्त में यास्क ने सभी शब्दों को धातुज मानकर निर्वचन करने का प्रमाण किया है । यास्क पूर्व के व्याख्याकारों ने , " निघण्टु" जो " शब्द- संग्रह" मात्र माना जाता है, का उल्लेख विविध प्रसंगों में किया है ।

किसी भी वैदिक शब्द का निर्वचन होने पर उसकी धातु तो निश्चित की गयी है, किन्तु उसके प्रकृति प्रत्यय पर विस्तृत विचार पाश्चात्य विचारकों का ही अनुशीलनीय है । उनमें सबसे ज्यादा उपयोगी सहयोग मैकडोनल महोदय का मानना चाहिए । रूद्स पर व्हिटने का भी ग्रन्थ उपादेय है । फिर भी कुछ प्रमुख शब्दों के अर्थों की जटिलता अब भी बरकरार है ।

" निरुक्ति " में मात्र " शब्द" की धातु बताने का प्रयास किया जाता है, उससे जुड़े प्रत्ययों पर ध्यान नहीं दिया जाता । और किसी शब्द का समग्रत: ज्ञान तभी सम्भव है, जब उसका प्रकृति प्रत्यय सब कुछ स्पष्ट ज्ञात हो । " व्युत्पत्ति" में यह प्रक्रिया काफी स्पष्ट हो जाती है । कौन सा शब्द किस " धातु " से मूलत: निष्पन्न है; तथा उसके प्रत्यय एवं वर्णों के आगम, लोप तथा अन्य सूक्ष्मतम् परिवर्तन भी जिज्ञासा के विषय होते हैं ।

§ख§ अध्ययन पद्धति -

भारतीय वैदिक व्याख्या पद्धति में इसका बहुत महत्त्व है । यास्क का निरुक्त इस शैली ज्ञान का प्रथम उपलब्ध प्रामाण्य ग्रन्थ है । उसमें अनेक दुरूह शब्दों के निर्वचन प्राप्त होते हैं । जिन शब्दों का " निघण्टु" में उल्लेख

रहा होगा, किन्तु निरुक्त में नहीं है । उनके बारे में ऐसा तर्क दिया जाता है कि वे शब्द अपना वास्तविक अस्तित्व खो चुके थे या फिर इतने ज्यादा प्रचलित थे कि महर्षि यास्क ने उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा ।

सर्वप्रथम जब कोई चिन्तक या शोध विद्यार्थी किसी विषय पर कुछ अन्यथा या कुछ अतिरिक्त सा लिखना चाहता है, तो उसे उसके लिए कुछ आधार बनाने चाहिए जिनके सहारे वह विषय के परिप्रेक्ष्य से परिचित हो सके । उस विषय से सम्बन्धित अधिकांश सन्दर्भ- ग्रन्थ सूची का सूक्ष्मतम अध्ययन करनाचाहिए, ताकि यह पता चल सके कि मुझसे पूर्व इस विषय पर कितना काम, किस विधा से हुआ है ?

मेरे शोध का विषय भी सर्वथा मौलिक या नवीन तो नहीं है । ऋग्वेद या वैदिक वाङ्मय पर काफी कुछ काम हो चुका है, और हो रहा है । विशेष रूप से " इन्द्र "- सूक्त " तो बहुत ही महत्वपूर्ण अंश है । लेकिन " शैली " शब्द के जुड़ जाने से विषय की मौलिकता एवं विशदता का अनुमान लगाया जा सकता है । मैंने पूरे ऋग्वेद से 329 मन्त्रों का हिन्दी अनुवाद किया है । उनको अपनी भाषा में ही अनूदित करने का प्रयास किया है । फिर भी कहीं- कहीं दशम मण्डल में भावानुवाद करना ही उचित जान पड़ा । वैसे हिन्दी अनुवाद कुछ लोगों का मैंने पढ़ा, जिसमें भाषानुवाद कम भावानुवाद ज्यादा प्रतीत हुआ ।

प्रत्येक शब्दावली पर विचार करके उसकी धातु, प्रकृति, प्रत्यय एवं समास का भी स्पष्ट उल्लेख किया है । वैसे इसका मुख्य आधार सायण, स्कन्द,

एवं वेङ्कट ही हैं, जो मुझे विशेष रूप से मौलिक जान पड़े । ग्रीफीथ, विल्सन, मैकडोनल, रॉथ वगैरह विदेशी लेखकों ने इन्द्र के स्वरूप को विकृत रूप दिया है, वह मुझे मान्य नहीं । वैदिक ग्रन्थों की जितनी अच्छी विवेचना भारतीय मनीषी कर पाये हैं, उतना कोई विदेशी लेखक नहीं ।

ऋषियों ने जो कुछ साक्षात् दर्शन से अनुभव प्राप्त किया, उसे ही अभिव्यक्ति दी है। उसमें कहीं भी अतिशयता या अतिरञ्जन समझना हमारी भूल है । यह अलग प्रसङ्ग है कि किसी का वर्णन कितना भावपूर्ण, भाषापूर्ण एवं छन्दोबद्ध शैली में है ।

वैदिक या पूर्ववैदिक भाषा का प्रारूप कैसा रहा होगा ? कितनी सक्षम कितनी सहज एवं वाग्वैचित्र्य से दूर बिलकुल स्वतन्त्र अभिव्यक्ति प्राप्त होती है ? वैदिक सूक्तों का वर्णन अध्ययनोपरान्त ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय मनीषी वैदिक भाषा के इतने अधिक अभ्यस्त थे कि किसी दृश्य का वर्णन, युद्ध का वर्णन, यज्ञ का वर्णन, शब्दशः जैसी अनुभूति होती थी, वैसी ही अभिव्यक्ति करने में निपुण थे । वैसे भी " संस्कृत भाषा " विश्व की उस समृद्ध भाषा में परिगणित है, जिसमें वाक्क्षमता की कमी नहीं है ।

प्राप्त " निघण्टु " ग्रन्थ से यास्क ने " समाम्नायः समाम्नातः " का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उससे ज्ञात होता है कि निघण्टु नामक शब्दों का संग्रह मात्र अवश्य था, जिसे निर्वचन का स्वरूप देकर यास्क ने वैदिक

वाड्गमय को समझने की कुञ्जी प्रदान कर दी । वैदिक मन्त्रों के रूढ़िगत एवं यौगिक शब्दों को समझने का मार्ग प्रशस्त कर दिया ।

दूसरा प्रमुख चिन्तन का अब आधार बनाया मैंने व्याकरण को । निरुक्त से तो वस्तुत: शब्दों की धातु पता चलती है,लेकिन कोई शब्द वास्तव में वैदिक काल में किस रूप में प्रचलित रहा होगा?इसकी गहराई में जाकर चिन्तन करना उपयुक्त प्रतीत हुआ । क्या " ऋतं च सत्यम् च " समानार्थी शब्द है?क्या जो ऋत है,वही सत्य है, या सत्य से कुछ उन्नीस या बीस ?

आवृत्ति प्रकृति का सहज गुण है और उसकी व्यवस्था इतनी सहज है कि उसकी स्वाभाविकता एवं सहजता पर आश्चर्य होता है । काल की गति चलायमान है । इसकी गतिशीलता में कहीं भी कोई अवरोध नहीं दृष्टिगत होता । ऋतुएं क्रमशः आती जाती रहती हैं । दिन रात अपनी गति में आबद्ध नियमित रूप से गतिशील है । क्या रात्रि हुए बिना पूर्ण विश्राम की कल्पना की जा सकती है ? दिन भर परिश्रम के बाद थका व्यक्ति रात्रिदेवी की गोद में सोकर अपनी पूरी विश्रान्ति क्लान्ति को दूर करके पुन: दूसरे दिन उतनी ही ताजगी एवं स्फूर्तियुक्त होकर अपनी दिनचर्या प्रारम्भ करता है । जहाँ 6 महीने के दिन एवं 6 महीने की रात्रि होती है, वहाँ व्यक्ति को अपने विश्राम हेतु स्वयं समय निर्धारित करना पड़ता है, अन्यथा रात्रि के अभाव में विश्राम का उसे समय ही ज्ञात न हो ।

तीसरा प्रमुख आधार है प्रत्येक देवता के बारे में सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करना । भाषा की तह तक जाने से यह पता चल जाता है कि ये शब्द कितने प्राचीनतम

एवं संश्लेषक एवं संघातक हैं । नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात,के आधार पर वाग्वैचित्र्य स्पष्ट दर्शनीय है । नाम , आख्यात तो मूल रूप से द्रष्टव्य हैं ही । वेद में उपसर्गों एवं निपातों का ऐसा विरल प्रयोग अन्यत्र दुर्लभ ही नहीं, अप्राप्य एवं अलौकिक माना गया है । किन्तु कहीं- कहीं इन उपसर्गों का कमाल देखने लायक है । हाँ, यह अलग ही विधा है कि धातु अलग है, उपसर्ग अलग है, मगर दोनों का अन्वय में समायोजन किये बगैर अर्थ का अनर्थ हो जायेगा। भाषा की अर्थवत्ता को मुखर बनाने का कार्य यही उपसर्ग करते हैं । कहीं- कहीं इनका प्रयोग मात्र छन्दों की पूर्णता प्रदान करने हेतु किया गया है किन्तु कहीं-कहीं तो यदि इन्हें हटा दिया जाय,तो पूरा अर्थ ही बदल जायगा ।

आलंकारिक शब्दों की योजना भी भिन्न- भिन्न सूक्तों में विविध रूप में प्राप्त होती है । ऐसा नहीं है कि ऋषियों को इसका ज्ञान नहीं था । चिन्तन का विषय तो यह है कि कितना सहज एवं उपयुक्त ज्ञान था ?

(ग) देवताओं का वर्गीकरण

सर्वप्रथम यास्क कृत वर्गीकरण " स्थान के आधार पर "

लिङ्ग के आधार पर वर्गीकरण - " स्त्री देवता , 2. पुरुष देवता ।

ब्लूम फील्ड का वर्गीकरण -

संख्या के आधार पर विवेचन - (1) एकल देवता (2) युगल देवता,गण देवता

महान् देवता एवं लघु देवता ।

भौतिक एवं मानसिक देवता ।

कर्म काण्ड परक विभाजन ।

कुछ भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों का मत ।

प्राचीन वेद व्याख्याता यास्काचार्य का देवता विभाजन इसप्रकार है -

(1) आकाश स्थानीय देवता - जैसे- वरुण, सूर्य, विवस्वान, विष्णु, इत्यादि ।

(2) अन्तरिक्ष स्थानीय देवता - जैसे इन्द्र, वायु, मातरिश्वन्, पर्जन्य,

रुद्र, आदि ।

(3) पृथ्वी स्थानीय देवता- जैसे पृथ्वी, अग्नि , बृहस्पति, सोम, इत्यादि ।

यास्क ने स्वयं निर्दिष्ट किया है कि प्रत्येक वर्ग में 11, 11 देवता है और इसकी पुष्टि ऋग्वेद का भी एक मंत्र करता है।[क]

क. ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ।ऋ01/139/11।

देवताओं के त्रिधा विभाजन की पुष्टि 3 अन्य ऋ0 मन्त्र भी करते हैं यथा—

शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः (देवाः) (7-135/11)

मां धुरिन्द्रं नाम देवता दिवश्च ग्मश्चापां च जन्तवः । 10·49·2

देवां आदित्या अदितिं हवामहे ये पार्थिवासो अप्सु ये । 10·65·9

अथर्ववेद में भी इस विभाजन सम्बन्धी उल्लेख प्राप्त होता है ।[क] कहीं कहीं 33 देवताओं का भी उल्लेख है । "त्रिभिः एकादश" कहकर उल्लेख प्राप्त होता है । इसी संख्या को त्रिविध स्थलों पर त्रिगुणित रूप में भी कहा गया है । ये ग्यारह देवता क्रमशः 11 द्युलोक में स्वर्ग में 11 अन्तरिक्ष में जल में, 11 पृथ्वी पर स्थित माने गये हैं । निरुक्त[ख] भी इसकी पुष्टि करता है।

अथर्ववेद[ग] एवं यजुर्वेद[घ] भी इस विभाजन की पुष्टि करते हैं । इससे सिद्ध है कि देवताओं की यह स्थिति ऋग्वैदिक ही परवर्ती ग्रन्थों में भी मान्य एवं प्रचलित रही ।

क· ये देवा दिविषदो अन्तरिक्ष सदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि ।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु । अथर्व0वे0 10·9·12

ख· तिस्र एव देवता · · · · द्युस्थानः । निरु0 7·5)

ग· यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः । (अथर्ववेद 10·7·13)

घ· त्रयस्त्रिंशता स्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्
(यजुर्वेद 14/31)

नैघण्टुक काण्ड में यास्क ने प्रत्येक वर्ग में 11 से भी अधिक देवताओं का परिगणन किया है यथा -

§1§ बल, रात्रि, वनस्पति, अश्व, शकुनि, इत्यादि ऐसे महत्वपूर्ण देवता हैं।

§2§ मृत्यु, मन्यु, तार्क्ष्य, निर्ऋति, दधिक्रा।

§3§ वृषाकपि, मनु, वसु, समुद्र एवं दध्यङ्, इत्यादि।

एक विशेष बात ध्यातव्य है कि इतिविवरण सूची में " पृथ्वी " एवं "त्वष्टा" की गणना प्रत्येक वर्ग में की गई है। अग्नि तथा " उषस्" पृथ्वी स्थानीय एवं मध्य स्थानीय §अन्तरिक्ष§ दोनों ही वर्गों में परिगणित हैं। अग्नि, वरुण, यम तथा सवितृ अन्तरिक्ष स्थान में भी परिगणित है, एवं आकाश स्थान में भी।

नैरुक्तों ने मात्र तीन ही देवता स्वीकार किये हैं।शेष सबको इन्हीं में समाहित मानते हैं। यथा -

§1§ पृथ्वी स्थानीय - अग्नि।

§2§ अन्तरिक्ष स्थानीय - वायु एवं इन्द्र।

§3§ द्युस्थानीय- सूर्य।

इनके विभाजन के बारे में पुष्ट तर्क हैं कि कर्म वैविध्यानुसार पृथक्-पृथक् नामकरण कर दिया गया है।जैसे एक ही ब्राह्मण कर्मानुसार कभी §1§ होता कभी §2§ अध्वर्यु कभी §3§ ब्रह्मा §4§ कभी उद्गाता के रूप में मान्य होता है।

निरुक्त[क] भी इसकी पुष्टि करता है। वैदिक वाङ्मय में इस

क॰ तिस्रः एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्नि पृथ्वी स्थानीयः।

क्रमशः ---

देवता के त्रित्ववाद को लेकर स्पष्ट संकेत भी प्राप्त होते हैं। यथा-

सूर्यो नो दिवस्पातु अन्तरिक्षात्।
अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः (1·158·1)

इस मंत्र से यह स्पष्ट है कि समस्त देवों में सूर्य, वायु एवं अग्नि को सर्वप्रमुख मानने और उन्हें क्रमशः आकाश, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी से सम्बद्ध करने की धारणा पर्याप्त प्राचीन है।

बृहद् देवता में भी समस्त देवगण को इन्हीं विभागों में सन्निविष्ट माना गया है। शौनक का तो स्पष्ट कथन है कि मुख्यतः ये ही तीन देवता हैं, शेष इनकी विभूतियाँ हैं। यही कारण है एक देवता को दूसरे देवता का उत्पादक भी कहा गया है, किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि ये विविध विभूतियाँ उस विशिष्ट स्थान के पृथक् एक स्वतन्त्र देवता हैं।

**** वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। तासां महाभाग्याद् एकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति अपि वा कर्मपृथक्त्वात्। यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः। " निरु0 5·2)

** अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च।
सूर्यो दिवीति विज्ञेया तिस्र एवेह देवताः।
एतासामेव माहात्म्यान्नामान्यत्वं विधीयते।
तत्तत्स्थानविभागेन तत्र तत्रेह दृश्यते॥ (1·69·73) बृ0 दे0

पृथ्वी आदि स्थान विशेष के आधार पर पृथक् देवता मानने का मत प्राचीन याज्ञिकों का है[क]। निरुक्त के सप्तम अध्याय में द्वितीय पाद में अपने इस मत का स्पष्ट उल्लेख किया है। याज्ञिकों का तर्क है कि अनेक नामों का होना भी देवताओं के अस्तित्व का प्रमाण है। यदि एक व्यक्ति अनेक या विविधकार्य क्रमानुसार सम्पादित करे, तो सब कार्यों के अनुसार उसका नाम तो परिवर्तित नहीं होता यथा –

"अपि वा पृथगेव स्युः। पृथग्धि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि। यथो एतत्कर्मपृथक्त्वादिति बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः।

निरुक्तकार यास्क का कथन है कि देवों की एकल एवं विकल परिगणना उनके स्थान तथा कार्यों की समानता से ही निर्णीत की गई है[क]। वस्तुतः सब देवता एक ही परमात्मदेव की विविध विभूतियाँ हैं। उनके विविध अंशों को लेकर विविध देवों की सत्ता मानना भी उपयुक्त प्रतीत होता है। जो देवता जिस स्थान से सम्बद्ध हैं, एवं एक ही प्रकार के कार्य सम्पादित करते हैं, उनका एकत्व स्वीकृत होना बिलकुल स्वाभाविक ही है।

महर्षि यास्क के इस वर्गीकरण से प्रत्येक देवता के मूल वास्तविक एवं प्राकृतिक स्वरूप को समझने का विशेष सहयोग मिलता है। अद्देवता एवं उनके स्थान के विषय में अन्वेषण करने पर मूल रूप से उनकी स्थिति का विश्लेषण किया जा सकता है।

क॰ "तत्र संस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं चोपेक्षितव्यम्।"

इसके साथ-साथ प्राचीन देवता, प्रजापति, त्वष्टा, बृहस्पति, श्रद्धा, काम, इत्यादि मूर्त एवं अमूर्त तथा भावात्मक देवता को भी इसमें परिगणित करना उपयुक्त नहीं होगा ।

लिङ्ग के आधार पर वर्गीकरण -

इसके आधार पर दो भागों में विभक्त कर सकते हैं । {क} पुरुष देवता-इन्द्र {ख} स्त्री देवता-उषस् ।

इस वर्ग में यह ध्यातव्य है कि पुरुष देव वर्ग में पुरुषोचित गुणों का प्राकट्य है और स्त्रीदेवता में स्त्र्योचित गुणों का । महिलाएं स्वाभाविक रूप से श्रृंगार प्रिय होती हैं । उषस् सूक्त में भी आलंकारिक वर्णन इस सत्यता को पुष्ट करते हैं । सूर्य की रश्मियों का ऐसा सजीव वर्णन अन्यत्र दुर्लभ सकते हैं।

इन्द्र को परम प्रतापी , पराक्रम युक्त, अद्भुत बल सम्पन्न, सहस्रवेता सहस्राक्ष, वज्रभृत, वृत्रघ्न, वृत्रहा, इत्यादि विशेषणों से सुशोभित किया गया है

ब्लूमफील्ड का वर्गीकरण -

पाश्चात्य विद्वानों ने भी देवता विभाजन का क्रम प्रस्तुत किया है । जिसमें ब्लूम फील्ड का वर्गीकरण कुछ वैज्ञानिक आधार भीत्ति पर स्थित है । प्रथम वर्ग में वे उन देवों को मानते हैं, जिनमें नामकी सादृश्यता तथा " उनी " तत्व का बहुत योगदान है, क्योंकि इसी से वे उत्पन्न एवं विकसित हुए हैं ।

दूसरे वर्ग में वे देवता हैं, जिनके नाम उन प्राकृतिक तत्वों से काफी दूर हट चुके हैं, जिनसे उनका उद्गम सम्भव है । किन्तु कुछ अन्वेषण के बाद उनका मूल रूप जाना जा सकता है । उदाहरण के लिए विष्णु , पूषन् आदि

तीसरे वर्ग में उन देवों का परिगणन किया जा सकता है,जो किसी प्राकृतिक तत्त्व से ही उत्पन्न हुए हैं,किन्तु किस तत्त्व विशेष से उत्पन्न हुए?इसका बिलकुल निश्चित विवरण देना सम्भव नहीं । इस वर्ग में इन्द्र, वरुण, तथा अश्विनौ का नाम लिया जा सकता है ।

(4) प्रागैतिहासिक(5) भारोपीय तथा भारत ईरानी काल के देवताओं का वर्गीकरण । इस प्रकार 5 प्रकार का वर्ग बन जाता है । परवर्ती ऋग्वैदिक काल में श्रद्धा , मन्यु, काम, प्रजापति, आदिअमूर्त देवताओं को भी परिगणित किया गया है ।

अब क्रम से इन देवताओं के बारे में कुछ विवेचन करना उपयुक्त होगा -

(1) प्रागैतिहासिक काल के देवता - इनका उल्लेख अन्य आर्य देवमण्डलों तथा अवेस्ता नामक ग्रन्थ में उल्लिखित है । यथा-द्यौ, वरुण, मित्र, अर्यमा ।

(2) पारदर्शी या स्पष्ट देवता - इनका मानवीकरण अपूर्ण सा प्रतीत होता है । देवता होने के साथ- साथ ये प्रकृति के किसी विशेष तत्त्व को भी सूचित करते हैं।यथा- अग्नि, उषस्, वायु, सूर्य ।

(3) अल्पपारदर्शी अर्ध स्पष्ट या किंचित् धूमिल देवता- इस वर्ग में ऐसे देवता आते हैं,जिनका व्यक्तित्व उस विशिष्ट प्रकृति तत्त्व से,जो उनका मूल कारण है, पृथक् होकर पर्याप्त विकसित हो चुका है,किन्तु फिर भी अदृश्य नहीं हुआ है । किंचित् प्रयत्न करने पर ही स्पष्ट हो जाता है । यथा-विष्णु(सूर्य) ।

(4) अपारदर्शी या अस्पष्ट देवता- इस वर्ग में ऐसे देव गण आते हैं,जो वस्तुतः अनेक उपाख्यानों से जुड़कर अपना मूल स्वरूप खो चुके हैं,और जिनका उद्भव जानने का हमारे पास कोई उपयुक्त सूत्र नहीं है। यथा- इन्द्र, वरुण, तथा अश्विनौ ।

(5) अमूर्त भावात्मक तथा प्रतीकात्मक देवता- इस वर्ग में ऐसे देवगण आते हैं,जो किसी क्रिया विशेष या भाव को सूचित करते हैं,अथवा देवता या राक्षस के रूप में किसी कामना या भय की अभिव्यक्ति करते हैं।यथा - प्रजापति, विश्वकर्मा, बृहस्पति, पुरुष, श्रद्धा , काम, निर्ऋति, मन्यु,इत्यादि ।

ब्लूमफील्ड के इस विभाजन में अनेक त्रुटियाँ हैं । वस्तुतः यदि देखा जाय तो इस विभाजन के मूल सिद्धान्त वैदिक देवता की उत्पत्ति के समय एवं उनकी मूल प्रकृति पर आधारित हैं,इसलिये इनमें दोनों प्रकार के दोष प्राप्त होते हैं ।

ऐतिहासिक विभाजन सम्बन्धी मुख्य दोष इसमें भी दृष्टिगत होता है । निश्चित रूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि कौन से देवता प्रागैतिहासिक हैं ? और कौन से पूर्णतः वैदिक । बहुत से देवता तो ऐसे भी हैं,जो प्रागैतिहासिक होते हुए भी अन्य वर्गों में स्थान पाने के अधिकारी हैं । यथा-" वात" देवता वायु से सम्बन्धित हैं । वैसे तो यह पारदर्शी स्पष्ट देवता है,किन्तु अवेस्ता में भी इस देवता के दर्शन होते हैं । अतः यह प्रागैतिहासिक भी हो सकता है ।

अवेस्ता में इन्द्र का भी उल्लेख है, किन्तु वह अस्पष्ट देवता परिगणित है। ब्लूमफील्ड ने वरुण को भी प्रागैतिहासिक माना है, किन्तु उसके उद्भव का स्पष्ट ज्ञान न होने से वह अस्पष्ट वर्ग में भी परिगणित है। अग्नि पारदर्शक स्पष्ट होते हुए भी प्रागैतिहासिक है, और मित्र देवता प्रागैतिहासिक एवं अस्पष्ट दोनों वर्गों में परिगणित है।

दूसरी कमी इस वर्गीकरण की यह है कि देवताओं की स्पष्टता एवं अस्पष्टता के निर्णय हेतु कोई सर्वमान्य सिद्धान्त निश्चित नहीं है। यह सर्वथा ऐच्छिक सा प्रतीत होता है। कुछ विद्वान् वरुण को आकाश देवता मानकर अर्ध स्पष्ट मानते हैं, तो कुछ लोग उसे अस्पष्ट देववर्ग में रखना चाहते हैं। "पूषन्" अर्धस्पष्ट तथा अर्यमा॰ प्रागैतिहासिक॰ इत्यादि देवताओं को भी अस्पष्ट माना जा सकता है।

इन समस्त विभाजनों में वस्तुतः यास्क का विभाजन सर्वाधिक उपयुक्त है

॰4॰ संख्या के आधार पर विवेचन -

॰क॰ एकल देवता।

॰ख॰ युगल देवता।

॰ग॰ गणदेवता।

संख्या के आधार पर इन्हें 5 वर्गों में विभक्त किया गया है -

॰1॰ इन्द्र, अग्नि, सोम।

॰2॰ अश्विनौ, मरुत् और वरुण।

॰3॰ उषस्, सवितृ, बृहस्पति, सूर्य और पूषन्।

(4) वायु, द्यावापृथिवी, विष्णु और रुद्र ।

(5) यम और पर्जन्य ।

(ग) एकल देवता –

कहीं-कहीं मात्र एक ही देवता की स्वतंत्र रूप से स्तुति की गई है, जिससे यह स्पष्ट है कि उस देवता विशेष सम्बन्धी मंत्र एकल देवता वर्ग में परिगणित किये जा सकते हैं । इन्द्र की भी स्तुति कुछ मन्त्रों में बिलकुल स्वतंत्र रूप से की गई है । उन मन्त्रों में उसे एकल देवताक मन्त्र ही परिगणित करना श्रेयस्कर है । अन्य देवता भी एकल देवता रूप में परिगणित किए जा सकते हैं । यथा- द्यौ, वरुण, मित्र, सूर्य, सविता, पूषा, विष्णु, विवस्वान्, उषस्, अश्विनौ, इन्द्र, त्रित, आप्त्य, अपांनपात्, मातरिश्वा, अहिर्बुध्न्य, अजएकपाद, वायु, पर्जन्य, आपः, नदियाँ, पृथिवी, अग्नि, बृहस्पति, सोम, ऋभुदेव, त्वष्टा, विश्वकर्मा, , प्रजापति, मन्यु, श्रद्धा, अनुमति, अरमति, सूनृता, असुनीति, निऋति, काम, काल प्राण, अदिति, आदि देवियाँ सरस्वती, रात्रि वाक्, पुरंधि, राका, कुहू इन्द्राणी, अश्विनी इत्यादि हैं ।

युगल देवता –

कहीं-कहीं युग्म के रूप में एक साथ दो देवताओं की स्तुति की गई है । यथा-मित्रावरुणा, इन्द्राग्नी, इन्द्रावरुणा, द्यावापृथिवी, इन्द्रासोमा, इन्द्राबृहस्पति, इन्द्रापूषणा, इन्द्राविष्णु, सोमपूषणा, सोमारुद्रा, अग्नीपर्जन्या, अग्निषोमा, इन्द्रनासत्या, इन्द्रापर्वता, पर्जन्यवाता, उषासानक्ता, नाक्तोषासा सूर्यामासा, सूर्याचन्द्रमसा, इन्द्रवायु आदि हैं ।

गणदेवता -

कुछ देवताओं की स्तुति सामूहिक रूप से की गई है । यथा मरुद्गण रुद्रगण, आदित्यगण, वसुगणसाध्य, आङ्गिरस, ऋभु, विश्वेदेवा इत्यादि । सूक्तों की संख्या ऋ० देवताओं की महत्ता को जानने में विशेष सहायक नहीं है । किन्तु यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि जो देवता अधिक मन्त्रों में स्तुत हैं वही ऋ० में उत्कृष्ट हैं शेष नहीं । ऐसा कहना उचित नहीं इन्द्र की स्तुति ऋ० में 250 से सूक्तों में है, अग्नि की 200 सूक्तों में, किन्तु वरुण की श्रेष्ठता इन्द्र एवं अग्नि दोनों की तुलना में अधिक स्पष्ट है, फिरभी वह द्वितीय वर्ग में परिगणित है ।

समान गुण एवं कर्म के आधार पर भी युग्म स्तुति की गई है । एक सदृश प्रतीत होते हुए भी इन युग्मदेवों की अपनी मूलभूत विशिष्टताएं हैं । इनकी पृथक्-पृथक् अवधारणा निर्धारित की जा सकती है । समक सामान्य नियम है विशिष्टगुण सामान्य गुण को स्वयं में आत्मसात् कर लेते हैं । समानगुण वाले देवता प्रायः साथ-साथ स्तुत हैं । यहीं से युगल देवता का (Conception) शुरू होता है । मित्रावरुणों की युग्मता का ज्ञान तो ईरानियों को भी था ।

युगलदेव की स्तुति मे परस्पर सख्यभाव भी निरूपित है । मात्र एक इन्द्र ही उद्दण्ड, क्रोधी, उपद्रवी रूप में कल्पित है । जन्म लेते ही माँ से

पूछा-"कौन-कौन बड़े शत्रु हैं ?" व्यंसिवध, उषा का रथ विनाश करना, मरुतों से युद्ध इत्यादि वर्णनों में उनका उग्र रूप दिखाई पड़ता है।

किन्तु यहाँ यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि इन्द्र निरपराध व्यक्ति को कष्ट नहीं देता। ऋग्वैदिक मन्त्र में भी इसकी पुष्टि की गई है। वह अपने मित्र से पूछता है कि मैंने किस निरपराध व्यक्ति को मारा या कौन मुझसे दूर भागता है ?

5-(क) महान देवता-

वैदिक वर्गीकरण देवताओं का विभाजन उनके वीरतापूर्ण कार्यों एवं मन्त्रगत महत्ता के आधार पर भी किया जा सकता है। यथा-इन्द्र को "शतक्रतु" इत्यादि उपाधियों से विभूषित किया गया है।

(ख) लघु देवता -

कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं, जिनमें देवताओं का मात्र संकीर्तन भर है। उनको आवाहित करने का उद्देश्य नाममात्र से परिगणन एवं उनके अस्तित्व का द्योतक मात्र है। उनकी किसी उपाधि या विशेषण का अभाव यह दर्शाता है कि सम्भवतः उनकी स्तुति मात्र संकीर्तन हेतु है।

क. का वृन्दं वृषभा ददृशे जनाः पृच्छन्ति मा तरेषु।
का उषाः के वै शुष्णवरे।। (ऋ० 8·45·4)

ख. को नु मर्या अमिथितः सखा सखायमब्रवीत्। जहा को अस्मदीषते।।"
ऋ० 8·45·37

(ग) युवा एवं वृद्ध देव -

कुछ मन्त्रों में देवताओं के स्वरूप को युवक रूप में चित्रित किया है। तो कहीं पर वृद्ध या प्राचीन देव के रूप में।

(घ) भौतिक एवं मानसिक देवता -

कुछ देवता भौतिक है तथा कुछ मानसिक। इन्हें स्थूल एवं सूक्ष्म रूप भी कहा जा सकता है या मूर्त और अमूर्त। डा० सूर्यकान्त, ने इनका वर्णन किया है[क]। डा० रामकुमार ने भी अपनी पुस्तक में इनका विवेचन किया है[ख]।

(7) कर्मकाण्ड परक विभाजन -

कर्मकाण्ड के आधार पर देवताओं को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है (1) याज्ञिक देवता (2) अयाज्ञिक देवता। याज्ञिक देवता से तात्पर्य उन देवता विशेष से है जिसे यज्ञों में पूर्णता हेतु स्मरण करना परमावश्यक है। यथा- इन्द्र।

अयाज्ञिक देवता से तात्पर्य उन देवताओं से है जिन्हें यज्ञ में आहूत करना आवश्यक नहीं है। यथा अपां नपाद्।

(8) कुछ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विभाजन -

(क) कीथ महोदय का विभाजन -(1) 1 अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी स्थानीय महान् देवता। (3) भाव देवता।

(2) लघु प्रकृति देवता। (4) अभिन्न दिव्य प्राणियों का वर्ग।

क. वे०दे०पु० 300-336, डा० सूर्यकान्त,

ख- डा० रामकुमार राय - वे०पु०रा० पृ० 218

ख) देवता -

ऋग्वेदादि में अग्नि वायु इत्यादि पद, पदार्थों की ही भाँति इन्द्र पद एवं पदार्थ भी देवतात्वेन प्रसिद्ध है। शुक्ल यजुर्वेद[क] में अग्नि, वात, इन्द्र इत्यादि अनेक शब्दों और उनके अभिधेयों को देवता रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इससे प्रमाणित होता है कि इन्द्र देवता के रूप में प्रतिष्ठित था। जिज्ञासा यह होती है कि इन्द्रादि को देवता कहने का क्या प्रयोजन है? इस पर विचार करना उपयुक्त है -

देवता शब्द की व्युत्पत्ति-

व्याकरणानुसार दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु (दिवादि-1) धातु से कर्ता अर्थ में अच् प्रत्यय लगाने से, उपधा को गुण होने पर देव शब्द निष्पन्न होता है। दीव्यतीति देवः। इसका अर्थ हुआ जो क्रीडा करता है, शत्रुओं को जीतने की इच्छा रखता है, उत्तम व्यवहार करता है, प्रकाश देता है, स्तुति (प्रशंसा) करता है या स्तुति का भाजन बनता है, आनन्द प्राप्त करता है, हर्षित होता है, तृप्त होता है, और अदीन रहता है, सोता है, शोभित होता है, गतिशील रहता है और प्राप्तव्य को प्राप्त कर लेता है, वह देव है।

क. "अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥" शुक्ल यजुर्वेद० 14/20

देव शब्द में स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में ङीप् करने से ~~देवी-शब्द~~ देवी शब्द बनता है और स्त्रीलिङ्ग की अभिव्यक्ता में ही देव शब्द से तल् प्रत्यय और टाप् प्रत्यय करने पर "देवता" शब्द निष्पन्न होता है। दोनों में कुछ अन्तर है। वह यह कि जहाँ देवी शब्द स्त्रीलिङ्ग स्त्रीत्व जाति का बोधक है वहाँ देवता शब्द स्वार्थबोधक एवं भावबोधक है, क्योंकि देवता शब्द का तल् प्रत्यय स्वार्थिक या भावार्थक है। यद्यपि "मनुष्यस्य भाव: मनुष्यता" इत्यादिवत् "देवस्वभाव: देवता" यह अर्थ भी देवता शब्द का ग्रहणीय है तथापि ऋग्वेदादि में देवता शब्द का प्रयोग प्रायः भावार्थ में न प्रयुक्त होकर स्वार्थ में ही प्रयुक्त है। जैसे जो देव है, वही देवता है। निरुक्तकार यास्क ने देवता शब्द का निर्वचन इस शब्दगत तल् प्रत्यय को स्वार्थिक मानकर ही किया है[क] -

अर्थात् जिसमें दानशीलता हो, जो ऐश्वर्य दाता हो, स्वयं प्रकाशमान हो तथा अन्यों का प्रकाशक भी हो या आकाश और द्युमण्डल में विराजमान हो, वह देव कहलाता है, और जो देव है, वही देवता है।

स्वामी दयानन्द[ख] ने भी कहा है" जो दिव्य गुण, दिव्य कर्म और दिव्य स्वभाव वाले पदार्थ हैं और विद्वान् जन हैं, वे देव कहे जाते हैं[ग]।"

क. देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा, यो देवः सा देवता। यास्क: निरुक्त 7.4.15

ख. तु0 - विद्वांसो हि देवाः। शत0ब्रा0 3.7.3.10

ग. " ये दिव्याः पदार्थाः विद्वान्सः अग्निस्ते दिव्यगुणकर्म स्वभावत्वाद् देवतासंज्ञा लभन्ते" स्वामी दयानन्द सरस्वती।

यास्कीय निर्वचन में "भू" शब्द को भूमण्डल का वाचक मानते हुए सत्यव्रत सामश्रमी ने लिखा है कि – अन्तरिक्ष में विद्यमान चन्द्रमा, इत्यादि और जगत् से बहिर्भूत ध्रुव इत्यादि तारों का भी देवत्वेन ग्रहण सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार चन्द्र वायु आदि अचेतनों का वृष्टि आदि के दान के निमित्त देवत्व सिद्ध है लोक में भी राजा इत्यादि चेतनों को धनादि दान के कारण देवता कहा जाता है। अश्व इत्यादि जीवों ग्रावा (पत्थर) इत्यादि निर्जीवों को दीप्ति के निमित्त से देवता कहा जाता है।

अग्नि चन्द्रमा पर्जन्य इत्यादि को और ब्रह्मवर्चस्वी विद्वानों को द्योतन के निमित्त से देवता कहा जाता है। इसप्रकार समस्तसंसार में ब्रह्म से लेकर स्तम्ब तक समस्त पदार्थ देवता कहे जा सकते हैं।[क]

याज्ञिकों के मतानुसार देवता मन्त्रमयी एवं शब्दमयी हैं, क्योंकि वैदिक मन्त्रों में अभिव्यक्त पदार्थ स्तुतिकाल में ही देवतारूप में स्तुत्य होते हैं।

अमुक मन्त्र का देवता अमुक है, इसका निर्धारण कैसे किया जाय ? इसके उत्तर में यास्क का कथन है कि – " यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थ-पत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। " अर्थात् जिस वस्तु की कामना करते हुए ऋषि जिस देवता की स्तुति, अर्थ के स्वामी बनने की इच्छा से, करते हैं, वह मन्त्र उस देवता वाला होता है। दूसरे शब्दों में मन्त्र में प्रतिपादित विषय ही देवता कहलाता है। शौनक कात्यायन तथा षड्गुरु शिष्य की भी यही मान्यता है। यथा –

क. " भूशब्दश्चात्र (भूस्थानो भवतीति चेति निरुक्ते) भूमण्डलमात्रस्यो-पलक्षक . . . . . तदेवमाब्रह्मस्तम्बपर्यन्तानां सर्वेषामेव पदार्थानां देवत्वमुपगम्यते। " सत्यव्रतसामश्रमीएतरेयालोचनम्, कलकत्ता 1906 पृ 49.

अर्थमिच्छन्नृषिर्देवं यं यमायमस्त्विति ।
प्राधान्येन स्तुवन्भक्त्या मन्त्रस्तद्दैव एव सः ॥[क]

यस्य वाक्यं स ऋषिः । या तेनोच्यते सा देवता ॥[ख]

उक्तं च । ऋषिर्यं शौनादिति तेनवाक्येन यत्प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता ॥[ग]

इन सिद्धान्तों के आधार पर इन्द्र को लक्ष्य करके जो भी मन्त्र या सूक्त ऋग्वेद या अन्यवेदों में हैं, उन्हें इन्द्र देवताक मन्त्र कहा जाता है । जहाँ पर युगल देवता के रूप में स्तुति है, वहाँ भी तत्तद् मन्त्र या सूक्त के देवता निर्दिष्ट होते हैं ।

अनादिष्ट देवता वाले मन्त्र या सन्दिग्धदेवताक मन्त्र या सूक्त जो उपलब्ध हैं, उनमें निरुक्त, बृहद्देवता और अनुक्रमणियों में दी गई व्यवस्थानुसार देवताविशेष का निर्णय कर लेना चाहिए । देवतानुक्रमणी में वेंकटमाधव ने कहा है -

देवतातत्त्वविज्ञानं महता तपसा भवेत् ।
शक्यो विस्मारमिथ्यार्थान्वयेन भाषितुम् ॥

अर्थात् देवताओं के तत्त्व का विज्ञान बड़े तप से प्राप्त किया जा सकता, उस विषय में यथार्थ रूप से कुछ कहना आसान नहीं है । शतपथ ब्रा०[च] में भी वर्णन है -" दुर्विज्ञानं कार्यं देवतानाम्" अर्थात् देवताओं का

क. शौनक बृहद्देवता 1/6

ख. कात्यायन: सर्वानुक्रमणी सूत्र 2/4-5 आक्सफोर्ड 1886, पृ0-1,

ग. षड्गुरु शिष्य वेदार्थदीपिका 2/5, आक्सफोर्ड, 1886ई0, पृ0-60 ।

घ. वेंकटमाधव: देवतानुक्रमणी viii - 8, पृ0-55

काव्य दूसरे शब्दों में वेद के देवताओं का रहस्य, ऐसा नहीं है कि उसे सरलता से जाना जा सके।[क]

इन स्तुतियों का प्रयोजन क्या है? यह भी विचारणीय प्रश्न है। बृहद्देवता में कहा गया है- "स्तुतिस्तु नाम्ना रूपेण कर्मणा बान्धवेन च।
स्वर्गायुर्धनपुत्राद्यैरर्थैराशीस्तु कथ्यते॥"[ख]

बृहद्देवता में भी शौनक के 44 प्रकार की स्तुति मन्त्र प्रकृति का वर्णन किया है। स्तुति एवं आशीर्वचन के अलावा निन्दा, प्रशंसा, संशय, परिदेवना, स्पृहा, दम्भ, याचना, प्रश्न, इत्यादि विविध प्रकार हैं। इनके आधार पर देवताओं की स्तुति, को तीन भागों में बाँटा जा सकता है -[ग] (1) एक पूरे मन्त्र में एक ही देवता की स्तुति।

(2) एक ही मन्त्र में दो या दो से अधिक देवताओं की युग्म स्तुति।

(3) सम्पूर्ण सूक्त का एक देवता।

क॰ शतपथ ब्रा० 1-5-5-13

ख॰ शौनक बृहद्देवता 1/7 तु॰-शौनक ऋग्विधान 1.1.6

ग॰ देवतानामधेयानि मन्त्रेषु त्रिविधानि तु।

सूक्त भाग्न्यथर्वभाग्जि तथा नैपातिकानि तु। शौनक बृहद्देवता 1/17

तु॰-शौनक ऋग्विधान 1/1/6

अन्ततोगत्वा मैं स्पष्ट कहना चाहूँगी कि देवताओं के वर्गीकरण में इन्द्र का स्थान अन्तरिक्ष ही निर्धारित होता है। आगे उसके गुण एवं कर्म का विवेचन स्वरूप निर्धारण में करूँगी। समग्रतः अध्ययन करने से इन्द्र को सिर्फ एक नाम देना असम्भव है। उसकी उपाधियाँ एवं स्तुति मन्त्र इसके रूप को विभाजित करते हैं, जिनके बारे में यही कहा जा सकता है कि दो प्रकार की विभाजन किया जा सकता है। उसके स्वरूप का (1) स्थूल एवं (2) सूक्ष्म। इन्हीं दो रूपों में इन्द्र समस्त ऋ0 में व्याप्त है। इन्द्र से सम्बन्धी समस्त आशंकाओं का खण्डन एवं मण्डन अगले अध्याय में किया गया है।

'ङ'

"इन्द्र" शब्द की व्युत्पत्ति-

इन्द्र के स्वरूप निर्धारण से पूर्व " इन्द्र " शब्द पर विचार करना उचित होगा - प्राचीन व्याख्याकार यास्क ने इन्द्र शब्द पर प्रकाश डाला है। उन्होंने 15 व्युत्पत्तियाँ दी हैं[क]। श०ब्रा० इन्ध् धातु से निष्पन्न मानता है[ख]। निरु० के अनुसार इदम् + कृ, इदम् करोति इति इन्द्रः - इस जगत् का स्रष्टा। इस मत के प्रतिपादक आग्रायण हैं[ग]। " इन्द्रो हि परमात्मरूपेणेदं जगत् करोति। " सा० भी इसका समर्थन करते हैं।

इरां + दृ (विदारना, विदीर्ण करना) इरां दृणातीति, इरामन्न-मुद्दिश्य उदकनिष्पादकजलसिद्धयर्थं दृणाति मेघं विदीर्णं करोति,

इरां + दा (देना) इरां ददाति, इरामन्नं वृष्टिनिष्पादनेन ददाति", सा०, इरां + धा (धारण करना, पोषण करना, इरां दधाति, इरामन्नं पुष्टिकारणं सस्यं दधाति जलप्रदानेन पुष्णाति", सा०, इरां+ दृ, इरां दारयति, इरामुत्पादयितुं कर्षकमुखेन भूमिं विदारयति," सा०। इरां+ धृ (धारण करना) इरां धारयति, पोषकमुखेनेरां धारयति विनाशरहितत्वेन स्थापयति," सा० इन्दु+ द्रु (जाना) इन्दवे द्रवति, इन्दुः सोमो वल्लीरसः

क- इन्द्र- इरां दृणातीति वा, इरां ददातीति वा, इरां दधातीति वा इरां दारयत इति वा, इरां धारयत इति वा, इन्दवे द्रवतीति वा, इन्दौ रमत इति वा। इन्धे भूतानीति वा। " तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वमिति" इति विज्ञायते। (नि०10-1)

ख- श०ब्रा० 14·6·11·2 इन्धो ह वै नामैष - तं वा एतमिन्धं सन्तं इन्द्र इत्याचक्षते। श०ब्रा० 6·1·1·2

3· बृ० दे०-1·3·4

तदर्थं यास्कमुनी द्रवति, धावति, सा० । इन्द+ रम् (क्रीड़ा करना, रमना कांपना (इन्द्रो रमेः, " सोमे रमते क्रीडति" सा० ।

तै० ब्रा० में इन्द्र को इन्द्रिय से सम्बन्धित माना गया है[क] । रॉथ ग्रासमान एवं बोलिनजेन ने √ इध् या √ इन्ध् से इन्द्र शब्द व्युत्पन्न किया है[ख] । प्रो० कुहन (Kunh) भी द्युतिमान् √ इन्ध् से ही निष्पन्न मानते हैं । प्रो० आप्टे ज्योतिमान् काल्पनिक √ इन्द् से व्युत्पन्न करते हैं, (ग) किन्तु रॉथ स्वयं इस व्युत्पत्ति से सहमत नहीं है । उन्होंने √ इन् " या √ इन्द् से व्युत्पन्न माना है, जिसमें " र " प्रत्यय का योग है । "द्" भाषावैज्ञानिक प्रक्रियानुसार स्वयमेव आ जाता है । √ इन् या √ इन्द् का अर्थ यहाँ गतिमान करना, जीतना, बढ़ना है, जो ऋ० में वर्णित इन्द्र के स्वभावानुकूल प्रतीत होता है ।

मारवेक को इन्द्र शब्द की यही व्युत्पत्ति मान्य है । वे " इन्" एवं " र" के मध्य " द" का आना इसी प्रकार स्वाभाविक मानते हैं, जिस प्रकार "स " और री के मध्य 'त्' आकर " स्त्री" शब्द बनता है । शुभ्र, उग्र, शुक्र, शूर, इत्यादि शब्दों में " र " प्रत्यय के सदृश ही इन्द्र शब्द में भी "र" प्रत्यय है ।

क- तै०ब्रा० 2·2·10·4" अस्मिन् वा इदं प्रत्यक्षाद् इति, तद् इन्द्रस्य इन्द्रत्वम् ।"

ख- रॉथ , त्से पि० या०- 1847, पृ०-352, द्रष्टव्य दाण्डेकर द्वारा वे०म० और रि०इ०, पृ०-41 ।

ग द्रष्टव्य -प्रो० आप्टे, दि नेम इन्द्र ऐन इन्वेस्टीगेशन, पृ०, 13-18 ।

बेबर एवं राजवाड़े भी इसी निष्पत्ति को उपयुक्त मानते हैं। पेरी भी इसका समर्थन करते हैं।[क] याकोबी ने भारोपीय शब्द. ŋṛo जिससे "नर" शब्द, जो संस्कृत भाषा का है, बना है, उसी से "इन्द्र" शब्द की व्युत्पत्ति माना है, क्योंकि इससे इन्द्र की वीरता स्पष्ट होती है।[ख]

मैक्समूलर[ग] "इन्दु" से व्युत्पन्न मानते हैं। मैकडोनल ने भी इसका[घ] समर्थन किया है। फ्रेडरिक इन्द्र के नाम को शक्ति एवं पौरुष का प्रतीक मानते हैं।[ङ] प्रो० जोन्स भी इसी आधार भीत्ति पर "इन्द्र" शब्द को हस्ती का परिवर्तित रूप "इनर" मानते हैं। किन्तु यह ज्यादा उपयुक्त नहीं लगता, क्योंकि वैदिक इन्द्र एवं हस्ती इनरस दोनों देवता भिन्न से प्रतीत होते हैं।

मेगन भी √ इन्धु से व्युत्पन्न मानते हैं।[च] प्रो० मह० √ स्यन्द् से मानते हैं तथा (Raining one Pluvious) अर्थात् वर्षणशील अर्थ करते हैं। पेरी के अनुसार यह निष्पत्ति पूर्णतया भ्रामक एवं असंगत है। रासोफिन[छ] भी √ इन्द् से ही व्युत्पन्न मानते हैं, किन्तु इनकी यह धारणा निर्मूल सिद्ध होती है कि "सिन्धु" नदी के मूल में √ इन्द् निहित है एवं

क• पेरी- ज०अ०ओ०सो०,11 पृ० 124

ख– याकोबी सुबर इन्द्र, के०जे०० 31, पृ०-316 (हिलेब्रान्ट द्वारा वे० मा० – 3, पृ०-168 पर द्रष्टव्य)

ग• मैक्समू० – लेक्चर्स आन दि सांइस आफ लैंग्वुएज, पृ०-473, द्रष्टव्यनोट नं० 35

घ• मैक्डो०, वे० मा०, पृ० –66

ङ• द्रष्टव्य- दाण्डेकर द्वारा पे०म० ओ०रि०क०–31, पृ०–42,

च• मेगन स्ट० ओ० ऋ०, पृ०–208, द्रष्टव्य

भारत इन्द्र एवं सिन्धु (इण्डिया) का देश है। पेजेन आदि ने वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त इन्द्र शब्द को, अं0 आन्द्र, पेद्ट, आन्दर के मूल में किसी दैत्याकार वस्तु के विद्यमान होने की कल्पना की है। यही धारणा ग्रिसवोल्ड की भी है। प्रो० दाण्डेकर "इन्द्र" शब्द का अर्थ साधारण जल न मानकर विशेष शक्ति बिन्दु (Semen virile) मानते हैं। इसके पक्ष में उनका तर्क है कि इन्द्र प्रारम्भ में पार्थिव वीर पुरुष था, जो अपने प्रियजनों को युद्ध विजयी बनाता था।

महर्षि दयानन्द "इदि परमैश्वर्ये" से निष्पन्न मानते हैं एवं सूर्य राजा, विद्युत् विविधार्थ करते हैं। किन्तु यह मत अमान्य है। डा0 फतेह सिंह 17 निरुक्ति मानते हैं। उनका पञ्च वर्गीकरण निम्न है - (1) इन्धु (2) इदम्- दृश, इदम्- धर, इदम् कर। (3) इराम्- द, इराम्- दा, इराम्-धा। (4) इन्दु- पु- इन्दु- रम्, इन्दु- रञ्ज। (5) इन्द् - र, इन्द्-दृश, इन्द्-द, इन्द्- आ-द।

इन सबमें डा0 सिंह ने "इन्द्-र" को उपयुक्त सिद्ध किया है। वेद में "इन्द्र" पद सूर्य, आकाश, वायु एवं प्राण इत्यादि विविध वस्तु विशेष का प्रतीक है।

वस्तुतः इन्द्र शब्द शक्ति का प्रतीक है, प्रो0 मायेक इसका अर्थ मजबूत, शक्तिसम्पन्न, इत्यादि मानते हैं। राथ के द्वारा मान्य √इन् या √इन्द भी "फूटना", शक्ति प्राप्त करना, प्रेरणा देना, आदि

ह- रैगोजिन, वै0इ0पृ0-196 ।

अ- दाण्डेकर प0भ0, ओ0रि0इ0 31 पृ0-44

इन्द्र के बल के ही सूचक हैं । याकोबी, वेबेन, कीर, फिलेब्रण्डट भी शक्ति की अतिशयता को स्वीकार करते हैं । इन सबके निर्णय के बाद यह तो निश्चित हो जाता है कि इस शब्द से ध्वनित "शक्ति" का ध्यान रखना होगा । यह शक्ति शारीरिक एवं बौद्धिक दोनों हो सकती है । शारीरिक शक्ति का प्रतीक "वृषभ" तथा मानसिक शक्ति का प्रतीक "अश्व" शब्द ग्राह्य है।

यदि इन्द्र को शक्तिवाचक मान लिया जाय, तो ऋ० इन्द्र का त्रिविध स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा । सम्भवतः यही कारण है कि अवे० में प्राप्य 'आन्द्र' शब्द 'दैत्य' का वाचक है, क्योंकि यह शक्ति का वाचक है देवता का नहीं । अतः इन्द्र का विकास देव एवं दैत्य दोनों रूपों में सम्भव है।

पेरी के मतानुसार ऋ० में अश्विनों के लिए "इन्द्रतमा" शब्द शक्तिशाली का प्रतीक है । ऋ० में भी उषा के लिए "इन्द्रतमा" शब्द प्रयुक्त है, किन्तु यहाँ "इन्द्र के समान" अर्थ के स्थान पर 'शीघ्रगामिनी' अर्थ ज्यादा उपयुक्त होगा । यास्क कृत 13 निर्वचनों में कुछ तारतम्य कुछ इस प्रकार बनता है - वर्षा के देवता रूप में द्रुत्य इन्द अन्न के बीज प्रस्फुटित करने की सामर्थ्य रखता है । अन्न धारण करने, अन्नदाता के कारण इरादः, इराधः कहना उपयुक्त है । परवर्ती ब्रा० ग्रन्थों में प्राणों को भी इन्द्र कहा है । यथा -"सोऽयं मध्ये प्राणः एष एवेन्द्रः, प्राणान् मध्यत . . . . .क ।।"

1· शत०ब्रा० 6·1·1·2

आग्रायण एवं औपमन्यव का मत है कि इदं करः, इदं दृशः होने के कारण ये सामर्थ्यवाची इन्द्र हैं। दुर्गाचार्य ने अपनी टीका में विस्तृत व्याख्या की है। पाणिनीय धा० पा० में "इदि परमैश्वर्ये" धातु परिगणित है। इससे औणादिक र रक् या रन् प्रत्यय जुड़कर व्युत्पन्न किया जा सकता है। वैदिक वाङ्मय में √ इन्द् की इडा, इरा, इन्दु एवं लौ० संस्कृत में "इन्दिरा" आदि शब्दों के मूल में है।

इन्द्र शब्द "उन्दी क्लेदने" से स्वर विपर्यय करके उन्द > इन्द्रः निष्पन्न किया जा सकता है, किन्तु इस प्रकार उसका रूप "उन्द्र" होगा। "उ" स्वर अकारण "इ" में कैसे परिवर्तित[क] हो गया ? यह विचारणीय प्रश्न है। √ इन्ध √ इन् भा०धा०पा० में नहीं।

रौठ द्वारा मान्य "इन्" धातु संस्कृत भाषा में अप्राप्य है और अन्य संस्कृतेतर आर्य भाषाओं से प्राप्त धातु से निष्पन्न मानना अनुपयुक्त होगा। इन वैचारिक वैषम्य को देखते हुए कहा जा सकता है कि यास्क के समय तक "इन्द्र" शब्द अपना मूल अर्थ खो चुका था। इन्द्र का अर्थ वस्तुतः अभी तक अनिश्चित ही है। इसे किसी प्राकृतिक दृश्य विशेष का भी ज्ञान होता है। इसका स्वरूप गाथात्मक है। सर्व प्रथम उसे विद्युद्देव एवं गौणरूप से युद्ध देवता कहा जा सकता है।

क. वै० को०, पृ०-66, वै० सी०, पृ०-44

इन्द्र के स्वरूप निर्धारण सम्बन्धी विशेषण

सुविधानुसार आठ प्रकार से विभक्त करके इन्द्र के स्वरूप का विवेचन किया गया है -

1. आकृति सम्बन्धी विशे० (2) शक्ति सामर्थ्य सूचक विशे०

(3) समृद्धि सूचक विशे० (4) वाहन सूचक विशे०

(5) आयुध सूचक विशे० (6) सोम सम्बन्धी विशे०

(7) वृत्र सम्बन्धी विशे० (8) शत्रु सूचक विशे०

इस विभाजन के माध्यम से इन्द्र के स्वरूप, गुण, दोष, प्रशस्ति सब क्षेत्रों पर सम्यक् रूपसे विचार प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वैदिक मन्त्रों का परवर्ती ग्रन्थों में समावेश या उनका पौराणिक आख्यान के रूप में प्राप्त होना सहज सिद्ध करता है कि वे कल्पनाप्रसूत नहीं बल्कि मौलिक एवं अनुभव जन्य ज्ञान ही है।

इन मन्त्रों का जितना भी गहनतम अध्ययन एवं मनन किया जा सके कम ही है, क्योंकि पुनश्च ये मन्त्र इतने ज्यादा गूढ या रहस्यमय हैं कि जितना ही इनका मन्थन किया जाय, उतना ही उपयोगी एवं उपादेय सिद्ध होंगे। विराट रूप की कल्पना का प्रसङ्ग उदाहरणीय है। क्या इससे भी ज्यादा उपयुक्त शब्दों में इसरूप की कल्पना की जा सकती थी ?

कुछ विशेषणों के द्वारा भी इन्द्र के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है -

(1) सुशिप्र -

आकृति सम्बन्धी यास्कीय मत का विवेचन करने के बाद इन्द्र सम्बन्धी कतिपय विशेषणों के बारे में यदि ध्यान से अध्ययन किया जाय, तो प्रतीत होता है कि मात्र वर्णन शैली में आलंकारिक प्रयोग हेतु या कहीं मानवीकरण के सबल माध्यम से तथ्य कोस्पष्ट करने हेतु इनका प्रयोग किया गया है।

" सुशिप्र " की अवधारणा भी इसी तथ्य को स्पष्ट करती है । कुछ लोग "सुशिप्र" से तात्पर्य सुन्दर होंठ वाला, कुछ लोग "सुन्दर ठोढ़ी वाला"[ख] हनु वाला अर्थ करते हैं[क] । सुशिप्र का प्रयोग एक अन्य मन्त्र में भी हुआ है । गुह्य धनको भी खोदकर दान करने वाले " सुशिप्र: " इन्द्र की बहुश: प्रार्थना की गई है[ग] ।

शिप्रिन्, शिप्रिन्वत्, शिप्रवत्,भी विशेषण रूप में प्रयुक्त हैं[घ] ।

उरुव्यचस् -

इन्द्र की आकृति का परिज्ञापक शब्द है । इस शब्द का प्रयोग इन्द्र की बृहदता हेतु किया गया है[ङ] ।

उरु -

यह शब्द भी विशदता का बोधक है । वह कहीं- कहीं इन्द्र के लिए तथा कहीं पर उसके हरि (अश्वों) के लिये भीप्रयुक्त हैं[च] ।

चित्रम् -

इस शब्द का प्रयोग प्राय: Excellent सुन्दर अर्थ में है । " चित्रं वृषणं रयिं दा: " के रूप में पूरे सूक्त में इन्द्र की स्तुति की गई है ।

क• ऋ0 8·66·2

ख• ऋ• 6·45·5

ग• ऋ0 8·66·4 निखातं चिद्य: वसुद इद् वपति दाशुषे वज्री सुशिप्र:।

घ• ऋ0 6·17·2 , ऋ0 10·105·5

ङ• ऋ0 1·104·9

च• ऋ0• 6·12·12

हरिकेश, हरिश्मश्रु हरि -

इन्द्र के केशों का भी वर्णन मिलता है । उनके केश हरित वर्ण हैं तथा श्मश्रु भी[क] । ऋ0 में "हरि" का प्रयोग विविधार्थक है । इन्द्र को " हिरण्यवर्ण:" कहा गया है[ख] । किन्तु हिरण्यय: का तात्पर्य सा0 ने हिरण्यमय एवं" स्वाभिरणभूषित:"किया । डा0 सूर्यकान्त ने हिरण्यवर्ण अर्थ ग्रहण किया है[ग] ।

हिरण्यबाहु: -

एक मन्त्र में इन्द्र को हिरण्यबाहु कहा गया है[घ] । आजानुभुज भी कहा गया है[ङ] । पृथु का तात्पर्य यहाँ लम्बी बाहु वाले से लिया गया है ।

हरी -

इस विशेषण से तात्पर्य तो इन्द्र के घोड़े से ही है किन्तु इन्द्र के घोड़ो की संख्या निर्धारित करना मुश्किल है । उनके घोड़े " वचोयुजा " भी है, अर्थात् वाणी से ही संयुक्त हो जाते हैं । उनकी संख्या शत, सहस्र एवं ग्यारह शत तक वर्णित है[च] । इन्द्र के घोड़े " सूर्य वक्षत:" हैं[छ] ।

क. ऋ0 5·41·। इन्द्र: श्मश्रुणि हरिताभि प्रुष्णुते । ऋ0 10·23·4

ख. इन्द्रो वज्री हिरण्मय: । ऋ0 1·7·2

ग. द्रष्टव्य, वै0दे0शा0-डा0 सूर्यकान्त

घ. इन्द्रो न वज्री हिरण्यबाहु: । ऋ0 7·34·4

ङ. पृथु करस्ना बहुला गभस्ती । ऋ0 6·19·3

च. आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिराहूयमान: ।

इसप्रकार इन्द्र की नहीं उसके घोड़े भी विशिष्ट श्रेणी के वर्णित हैं। उनकी श्रेष्ठता विशेषणों में स्वयं ध्वनित होती है। उसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

§2§ शक्ति सामर्थ्यसूचक विशेषण -

ऋ0 मन्त्रों में इन्द्र की अपरिमित शक्ति के सूचक अनेक विशेषण प्रयुक्त हैं यथा - वृषभ: - " वृषभ " का तात्पर्य शारीरिक रूप से पुष्ट लिया गया है। वृषभ का तात्पर्य सा0 ने " कान्त:" किया है। कामना पूरक या वर्षक की अर्थ किया गया है।

उग्र -

यह उपाधि इन्द्र की ओजस्विता सूचक है। अन्य देव गणों के लिए भी इसका प्रयोग है, किन्तु विशेष रूप से इन्द्र के लिए भी प्रयुक्त है[क]।

शक्र -

यह शब्द भी विशेष रूप से इन्द्र की उपाधि है। इन्द्र के विशिष्ट बल का सूचक है। इसी के तुल्यार्थ शचीवान् एवं " शचीव" शब्द भी हैं[ख]। भयभीत प्राणी भी शक्र इन्द्र को रक्षार्थ पुकारते हैं[ग]। शक्र सम्बन्धी एक आख्यान भी जुड़ा है इन्द्र से।

**** ऋ02·18·4 अन्यत्र" पन्चाशता सुरथेभिरिन्द्रा" ऋ0 2·18·5

" आ वा सहस्रं हरय" 2·18·6

छ· इन्द्र त्वा सुरवक्षस: । ऋ01·163·1

क· ऋ0 8·48·20, 1·33·5

ख· ऋ0 1·106·6 10·104·4

ग· ऋ0 8·61·5, 66-16, 3·55·2

शतक्रतु -

मैकडॉ0[क] ने इसका तात्पर्य " सहस्र शक्ति वाला " किया है । मोनियर विलियम्स[ख] ने सहस्रसूक्ष्म शक्ति वाला, सहस्र परामर्शदाताओं वाला किया है । कुछ अन्य विद्वान इसे शारीरिक एवं मानसिक शक्ति का वाचक मानते हैं । " क्रतु " शब्द यज्ञार्थक है और यज्ञ के अभीष्ट देव इन्द्र हैं, अतः यह इन्द्र की ही उपाधि है । अपाला भी समस्यानिदान हेतु " शतक्रतु " इन्द्र का आह्वान करती है[ग] ।

क्रतुमत् -

इसका तात्पर्य " शक्ति से सम्पन्न " है । इससे इन्द्रशक्तिसामर्थ्य का स्पष्ट ज्ञान होता है । इसका बहुशः प्रयोग प्राप्य है ।

सुक्रतु -

" सुन्दर यज्ञ कर्ता " अर्थ का प्रतिपादक है । सम्भवतः "यज्ञ" करना ऋ0 काल में प्रतिष्ठा का द्योतक माना जाता था । यज्ञकर्ता रूप में भी इन्द्र स्तुति है एवं " पुरुभिराहुतः " इत्यादि द्वारा इन्द्र को बार- बार या बहुतों के द्वारा बुलाये जाने का वर्णन है[घ] ।

क॰ मैकडॉ0, वै0मा0-पृ0 58

ख॰ एम0 मोनियर विलियम्स, ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी पृ0 - 1048

ग॰ ऋ0 8·91·

घ॰ ऋ0 8·33·13

सूनुः सहसः -

यह विशेषण " अग्नि " हेतु प्रयुक्त है, किन्तु " बल और पुत्र " - के अर्थ में इन्द्रार्थ भी प्रयुक्त है । मन्त्रों में इन्द्र की वीरता की स्तुति के साथ स्तोताओं को " सहस्र पुत्रों " का भी दाता वर्णित है[क] ।

सूनुः श्रवसे -

" ख्याति पुत्र " विशेषण भी इन्द्र की महिमासूचक है। दस्युओं के वध के बाद ही यह उपाधि इन्द्र को प्राप्त हुई ; ऐसा प्रतीत होता है । इस उपाधि से इन्द्र की ख्याति का सहजबोध होता है ।

सत्पति -

ऋ० में " सतानां सज्जनानां पतिः " , समस्त देवगणका राजा , सर्वरक्षक, दानी , इत्यादि के रूपों में वर्णित है । जिसमें इतने असामान्य गुणों का योग हो, उसे सत्पति कहना ही श्रेष्ठ होगा । अन्य कुछ विशे० सुर, तुर, तवस्, दस्म, सुष्मिन्तम, शविष्ट, तुविद्युम्न, अधिपति, इत्यादि से भी उसकी विशिष्टता ज्ञात होती है ।

§3§ समृद्धि सूचक विशेषण -

प्राचीन ऋ० काल में ऐसा प्रतीत होता है कि मणिमाणिक्य के अलावा

क• ऋ0 4•24•।

पशुधन को भी समृद्धि का प्रतीक माना जाता था, क्यों कि इन्द्रार्थ कुछ विशेषण ऐसा ही संकेत करते हैं -

गोजित् -

इन्द्र से सम्बन्धी कुछ आख्यान जुड़े हैं जिसमें उसके द्वारा गायों को बन्धनमुक्त कराने का वर्णन है । शत्रुपाश से गायों को मुक्त कराने के पश्चात् ही उसे " गोजित् " कहा गया होगा ।

गोपति -

गोधन सम्भवत: बहुत सम्माननीय रहा होगा । इन्द्र अपने यजमानों को दानस्वरूप गाएं, हाथी घोड़े इत्यादि देता था । " गोपति " "गायों के स्वामी " से तात्पर्य उसकी समृद्धि को सूचित करना मात्र है । उसे वसुपति[क] भी कहा गया है । वसुदा, विदद्वसु, मघवन्, मघवान्, इत्यादि कहा गया है । मुक्तहस्त से दान करने के कारण उसे " वसुदा " भी कहा गया है[ख] ।

" मघवन् " शब्द में स्थित मह् दान पूजा अर्थ में गृहीत है । " महतिदानकर्मा " । तु0 मघमिति धननामधेयम् । कहकर नि0 में भी इसे धनवाचक माना गया है[ग] । इन्द्र से याचक यजमान धन की कामना करते हैं[घ] ।

क· "त्वं ईशिषे वसुपते वसूनाम्" ऋ0 1·172·5

ख· ऋ0 8·99·4

ग· निरु0-1·3

घ· ऋ0 7·28·5

"मघवान्" शब्द वायु पु० ब्रह्म पु० इत्यादि में भी इन्द्र के लिए प्रयुक्त है[क]। एक ऋ० मन्त्र में भी "मघवा" इन्द्र स्तुत है[ख]। अन्ततोगत्वा इन्द्र का स्वरूप जनमानस में ऐश्वर्यवान्, धनवान् रूप में ही स्पष्ट होता है।

§4§ वाहन सूचक विशेषण –

इन्द्र के वाहन के रूप में "रथेष्ठा" शब्द प्रयुक्त है, जिससे ध्वनित होता है कि उसके पास रथ नामक वाहन या यान अवश्य था। स्वामी दयानन्द ने इन्द्र के तीव्रवेगवान् यान रूप में अग्नि को ही स्पष्ट किया है। हरिष्ठा, हरिवत्, हरिवः, हरिवान्, शब्द, उसके लिये प्रयुक्त हैं। इन्द्र के लिए यदि रथ एवं घोड़े शब्द प्रयुक्त हैं, तो "वचोयुजः" शब्द भी प्रयुक्त है, जिसका तात्पर्य "वाणी से जुड़ने वाले" किया गया है। या यूँ भी समझें कि घोड़े इतने संवेदनशील हैं कि कहने मात्र से रथ में स्वयमेव वाहनार्थ जुड़ने वाले थे। "हरिष्ठा" का प्रयोग इन्द्र की अजेयता हेतु हुआ है[ग]।

§5§ आयुध सूचक विशेषण –

ऋ० देवताओं के पास कोई न कोई शस्त्र विशेष अवश्य है। यथा – इन्द्र का वज्र। इसी के प्रयोग से इन्द्र ने पराक्रमी स्वरूप धारण किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। कुछ विशे० जो ऋ० में प्रयुक्त है इस प्रकार हैं –

क. वायु पु० 64.7, ब्रह्म पु० 2.38.8 पौ० धर्म एवं समाज पु० 79

ख. वृषा क्षेमेण धेना मघवा यदिन्वति। ऋ० 1.55.4

ग. ऋ० 3.45.2

वज्रिन् -

इस आयुध से एक आख्यान भी जुड़ा है। वृत्र नामक असुर का वध इन्द्र ने किया, विविध वर्णनों से पुष्ट होता है । वज्र शब्द से तात्पर्य "बिजली गिरना" मानना उचित होगा, क्योंकि पु०रा० को०शा० में भी यही धारणा व्यक्त है । वज्र को " अयोमय:" कहा गया है । इसे "त्वष्टा" द्वारा निर्मित भी माना गया है[क] । काव्य उशना ने इसकी संरचना करके ~~संरचना करके~~ इन्द्र हेतु दिया था[ख] । ए०ब्रा० में भी उल्लेख है कि वृत्रवध हेतु देवों ने इन्द्र को वज्र प्रदान किया[ग] । इस वज्र का वर्ण भी स्वर्णिम कहा गया है । हरित एवं उज्ज्वल वर्ण भी बहुधा वर्णित हैं । इसका आकार चतुष्कोणीय, शतकोणीय, शतजोड़ों वाला , सहस्र नोकों वाला एवं तीक्ष्ण रूप में वर्णित है । इन्द्र के लिए वज्री[ङ], वज्रीवत्, वज्रवत्, बज्रबाहु इत्यादि विविध विशे० प्रयुक्त हैं । " वजहस्त:" इन्द को सृष्टि का स्वामी भी कहा गया है[घ] ।

" बज्रबाहु" से यहाँ तात्पर्य " वज्र के सदृश" तीव्र एवं घातक बाहु वाले इन्द्र के स्वरूप से भी हो सकता है । या जिसके बाहु में वज्र सुशोभित हो । इसी वज्र से इन्द्र ने पहाड़ों को भी पराभूत किया ।

क. वै०मा०, पृ० - 111

ख. वै०मा० - मैक्डो०

ग. ए०ब्रा० द्रष्टव्य वै० मा०, पृ० -103

घ. " नृपति बज्रबाहुम्" ऋ० 10·61·22, ऋ० 10·61·2, ऋ०10·44·3

ङ. वज्री - को यास्क ने 'वृजी वर्जने' से निष्पन्न किया है तथा निरु० में 'वर्जयतीति सत:' 3·2 वर्णित है। भानुजि दीक्षित 'व्रज गतौ' से व्युत्पन्न मानते हैं। (अ० को० टी०) 'वज्र धारण करने वाला' अर्थ विश्वम्भर ना० त्रि० स्वीकारते हैं।

अद्रिवद् -

ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्र ने अन्य शस्त्रों के अलावा पत्थरों का प्रयोग भी शस्त्र रूप में किया था । वह अपने शत्रुओं पर बड़े- बड़े पत्थरों की वर्षा करता था । ये सब कर्म इन्द्र के उग्र कर्म में परिगणित हैं । अद्रिवद् सम्बो० सम्भवतः इसी अर्थ में उपयुक्त है । मत्स्यपु० में वध हेतु वज्र का प्रयोग करते हुए वर्णित किया है । " अद्री " विशेषण भी इन्द्रार्थ प्रयुक्त है । स्थिरता में पर्वतों को पराभूत करने की सामर्थ्य इन्द्र मे नियोजित थी।

इस प्रकार आकृतिपरक, उदाहरणों को पुष्ट करने वाले प्रमाण ही उसके आयुध को भी पुष्ट करते हैं । क्योंकि जहाँ इसके लिए " हस्त " शब्द का प्रयोग है वहीं " वज्रहस्त" भी प्रयुक्त है ।

§6§ सोम सम्बन्धी विशे० -

ऋ० में सोम शब्द का प्रयोग एक ऐसे पेय के रूप में है जो " मदकर" है तथा उसके पान से अद्भुत शक्ति का संचार होता है । ऋ० में सोम सम्बन्धी लगभग 120 सूक्त हैं ।

सोमपा -

इन्द्र को सोमपा सम्बो० से विभूषित किया गया है । इन्द्र

क. ऋ० 1·10·7

ख. जघान शक्रो वज्रेण सर्वान्· · · · · । मत्स्य पु० 24·49 पौ० धर्म एवं पु० 74

को यह पेय बहुत प्रिय है । एक मन्त्र में उसे सोम के तीस सरोवरों का पानकर्त्ता वर्णित किया है[क]। एक अन्य मन्त्र में तीन कुन्दों का पानकर्ता कहा है[ख]। सोम हेतु इन्द्र ने चौरकर्म भी किया[ग]। ऋ० सम्पूर्ण नवम मण्डल सोम सूक्त नाम से अभिहित है ।

ऋजीषी , ऋजीषिन् -

इन्द्र को सोम रस इतना प्रिय है कि वह उसका " तलछट " भी पी जाता है । उसे मन्त्रों में " उच्छिष्ट सोमपानकर्त्ता कहा गया है । किन्तु गेल्डनर एवं ग्रासमान ऋजीषी शब्द को √ ऋज्, निर्देश करना" से व्युत्पन्न मानते हैं । निरु० के अनुसार छाने गए या स्वच्छ किए गए अवशिष्ट भाग को "ऋजीष" कहते हैं । यथा- " यत् सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तद् ऋजीषम् अपार्जित भवति । "

दुर्ग के अनुसार-" रसादन्यदसारमतिरिच्यते तद् ऋजीषम् ।" इन्द्र के अश्वों को भी ऋजीष मिलता था । " हर्योरस्य स भागः" निरु० में स्पष्ट कहा गया है । अतः इस सम्बन्ध में भी इन्द्र को ऋजीषी कहा गया है।

सोम -

यदि हिलेब्रान्ट का मत स्वीकार कर लिया जाय, तो एक मन्त्र में

क. ऋ० 5.29.7

ख. ऋ० 8.66.4

ग. त्वष्टारमिन्द्रो जनुषाभिभूया अमुष्या सोममपिबत् चमूषु ।

प्रयुक्त "नैचाशाख" शब्द सोम का विशेषण है। यह भी मानना पड़ेगा कि उसके पत्ते एवं टहनियाँ नीचे की ओर लटकी होती हैं। यह सोमलता पोरमुक्त वर्णित है। सम्भवत: काँटे भी होते थे। मुञ्जवान् पर्वत पर यह सोम प्राप्य था। ब्रा० में सोम की दिशा उत्तर बतायी गई है।[क] पं०ब्रा० में पश्चिम तथापूर्व भी वर्णित है।[ख]

सोम का वर्ण भी वर्णित है। इसे अरूण, हरित या पिङ्गल शोण या अरूष रूप में कल्पित किया गया है। अवेस्ता में सम्भवत: यही सोम शब्द "हओम" नाम से अभिहित है। बलूची भाषा में इसे उमान, चीनी में सिम या सुम भी कहा गया है।[ग]

लास्सन, क्युर, हाग, मैक्सम्यू०, कीथ, मैकडो०, ने सोम को सरकोस्टेमा विमिनेल, एस्क्लेपियस एसिडा यासरकोस्टेमा ब्रेविस्टग्मा कहा है। राथे सरकोस्टेमा पेसीडम को सोम के सदृश बताते हैं। डा० एचीसन एफेड्रा पेचीक्लाडा को सोम मानते हैं। यह पौधा बलूचिस्तान हरिरूद घाटी एवं ईरान के पर्वतीय प्रदेशों में बहुल रूपेण प्राप्य है। एफेड्रा की एक अन्य जाति हुम- इबन्दक नाम से भी प्रसिद्ध है। वाट ने अफगानी अंगूर को सोम कहा है। राइस ने गन्ना को सोम माना। मैक्सम्यू० एवं राजेन्द्र लाल मिश्र के अनुसार सोम से यवसुरा का निर्माण किया जाता है। कुछ विद्वान् इसे भाँग या सन मानते हैं। हिलेब्रान्त सोम को चन्द्रमा कहते हैं। कर्मान और येज्द को पारसी "हुम रस" बनाने वाले पौधे को हओम हैं, अभिन्न मानते हैं।

क. तै०ब्रा०3·11·5·2
ख. पे०ब्रा०1·8, पे०ब्रा० 1·3
ग.। द्रष्टव्य- वेदचयनम्- डा० विश्व०ना०त्रि०, 1984 वाराणसी,पृ०-37
घ. द्रष्टव्य- पं० क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय ज०के०आर०का०ओ०रि०इं० -अं० 31, पृ०[156]इसी सोमलता का अधिदेव सोम है। इसकी संरचना अत्यन्त अस्पष्ट है।

बाद में सोम के स्थान पर अन्य पौधों का प्रयोग यज्ञ में किया जाता था ।

§7§ वृत्र सम्बन्धी विशे०

" वृत्र " शब्दसेतात्पर्य सामान्य " वृत्रासुर " नामक राक्षस से न होकर "विरोधी " तत्व से है । इन्द्रकेजितने भी शत्रु है, सब प्रबल प्रतिद्वन्दी हैं । कहीं उसे प्रकाश के अवरोधक " वृत्र " से युद्ध करते हुए वर्णित किया गया है, कहीं जल के अवरोधक " वृत्र " से । इन्द्र वृत्र युद्ध का समर्थन पौराणिक आख्यान भी करते हैं । लेकिन रूप इसका भिन्न है ।

यास्क ने $\sqrt{}$ वृञ् §घेरना आच्छादित करना§ वृत्, वर्तने बरतना, $\sqrt{}$ वृधु वृधौ बढ़ना से निष्पन्न मानते हैं । [क] श०ब्रा० भी इसका समर्थन करता है । तै० सं० में भी " यदिमां लोकानवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् " कहा है । [ख] नैरुक्त वृत्र को मेघ मानते हैं । ऐतिहासिक त्वाष्ट्र नामक "असुर" मानते हैं ।

इस प्रकार विद्वानों में विचार वैषम्य है । जो भी हो इतना तो निश्चित ही है कि इन्द्र का वृत्र नामक किसी विरोधी से युद्ध हुआ था, तभी उसका वर्णन ऋ० एवं परवर्ती ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है ।

क• निरु०-5•2

ख• तै०सं०-2•5•2

ग• निरु०-2•5

वृत्रहन् -

वैसे तो यह विशेषण इन्द्रार्थ ही ऋ० में प्रयुक्त है, किन्तु अग्नि के लिए भी यही विशेषण कुछ मन्त्रों में प्रयुक्त है। अन्तर केवल इतना है कि अग्नि के लिए केवल "वृत्रहन्" तथा इन्द्र के लिए " वृत्रहा " वृत्रहन्ता इत्यादि भी प्रयुक्त है। इन्द्र तो विविध शत्रु विनाशकवर्णित है[क]। इस उपाधिका प्रयोग एक बार सोम के लिए भी है। एक मन्त्र में, इतना तक स्पष्ट है कि इन्द्र वृत्रवध हेतु ही जन्म लेते हैं[ख]। ऋ० के दो मन्त्रों में भिन्न प्रयोग द्रष्टव्य है - यथा (1) वृत्र का वध करे (वृत्रहन्) (2) वृत्रों का वध करो(वृत्रहन्) इस प्रकारप्रतीत होता है कि वृत्र एक नहीं, अपितु कई थे, जिनके लिए बहुवचनान्त प्रयोग हुआ है[ग]। वृत्र का रूप सर्पवत् माना गया है[घ]। मानवी अवयवों सदृश कल्पना इसके लिए अप्राप्य है। वृत्रहन् शब्द लगभग 70 बार इन्द्र के लिए प्रयुक्त है।

वृत्रहा -

सहायतार्थ या रक्षार्थ वृत्रहा विशे० इन्द्रार्थ प्रयुक्त है[ङ]। एक मन्त्र में वृत्र वध हेतु इन्द्र को देवों द्वारा रथारूढ़ करा कर भेजने का वर्णन है[च]। वृत्र को पराभूत करने हेतु देवों ने इन्द्र का बलवर्धन किया[छ]। वृत्र के

क. ऋ० 1·84·3 ऋ० 10·152·3

ख. वै०मा०, हि अनु० पृ० 301

ग. वै०मा० हि० अनु० पृ०301(8·17)

घ. वै०मा०हि०अनु०-पृ० 301 (1·32,3,30)

ङ. ऋ० 1·106·6

च. वै०मा० पृ०-113   छ. वै० मा०, पृ०-113

सिर , जबड़ों का वर्णन है, जिस पर इन्द्र प्रहार करते हैं[क]। इन्द्र के फुफकारने (हुंकारने) का भी वर्णन है[ख]। वै0मा0 के अनुसार इस अन्तरिक्ष दैत्य के अधीन विद्युत् तुषार एवं झंझावात (आँधी तूफान) भी हैं। वृत्र की माता की तुलना गाय से की गई है । उसे " दानु" शब्द से अभिहित किया गया है। दानु शब्द बहुशः नपु0 लि0 तथा एक बार स्त्री लि0में भी प्रयुक्त है । जिसका तात्पर्य है " आकाश के जलों"से है[ग]। इसी प्रसङ्ग में और्णवाभ नामकासुर और इन्द्र द्वारा वर्णित सप्तदैत्यार्थ भी प्रयुक्त है ।" मातृनामोद्गत" शब्द "दानव" का 5 बार प्रयोग है । यह इन्द्र के तुल्यबल ही एक दैत्य के रूप में वर्णित है । एक मन्त्रानुसार " दानव " की माया को इन्द्र ने नष्ट किया[घ]।

वृत्र के जल में सोने एवं जल से ही घिरने का वर्णन प्राप्त है[ङ]। वृत्र के एक शिर (शानु) पर भी स्थिर रहने का वर्णन है । इन्द्र द्वारा वृत्र को बहुत ऊँचाई से नीचे ढ़केलने का वर्णन है । एक मन्त्र में इस प्रकार भी वर्णित है - " वृत्र अवृणोत्" अर्थात् वृत्र तो स्वयं आवृत्त करने वाला है । अतः इसका अर्थ है " आवृत्त करने वाले को आवृत्त किया " ।

अन्यत्र दध्यञ्च की अस्थियों से 11 वृत्रों का वध किया, भी वर्णित है[च]।

क. द्रष्टव्य -वै0मा0पृ0-113

ख. पृ0- वही

ग. द्रष्टव्य - वै0 मा0 पृ0- 103

घ. द्रष्टव्य - " " "

ङ. वै0 " " " "

च. " इन्द्रो दधीचो अस्थाभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः ।
जघान नव नवतीः नव ।। ऋ0 1·84·13

वृत्र के 99 दुर्गों को ध्वस्त करने का भी स्पष्ट उल्लेख है।[क] वृत्र का अर्थ मात्र "विरोधी" करना उपयुक्त नहीं। अमित्र या "शत्रु" भाव इसमें सम्मिलित है। अवेस्ता में "वेरेथ्र" का अर्थ विजय माना है, जो मूलतः अवरोध का ही परवर्ती विकसित क्रम है। ब्रा० ग्रन्थों में वृत्र की व्याख्या उस चन्द्रमा के रूप में की गई है, जिसे सूर्य के साथ समीकृत इन्द्र अमावस्या तिथि को पूर्णतः निगल जाता है।

§4§ अन्य शत्रु सम्बन्धी विशे०

नमुचि- इन्द्र के अन्य शत्रुओं के रूप में "नमुचि" का नाम परिगणित है। शाब्दिक संरचना में "न मुंचतीति" से निष्पन्न होता है। इस शत्रु का वध इन्द्र फेन से करते हैं।[ख]

धुनि -

सा० ने इसे निन्दित असुर वाचक कहा है। किन्तु ध्यातव्य है कि यह श्रेष्ठतम् देव इन्द्रार्थ भी प्रयुक्त है यथा- त्वं धुनिरिन्द्र धुनिमतीॠणोरपः°।" वेंकट ने अन्यत्र "धुनि" शब्द को असुर वाचक माना है।

शम्बर=

इन्द्र का प्रबल शत्रु था। इसके 90 दुर्गों का वर्णन मन्त्र में है। इन्द्र के द्वारा इसे ढूढकर मारने का वर्णन है।[ग] इसे पर्वत में छिपा हुआ भी कहा गया है।[घ]

क• ऋ० 7•19

ख• "अपां फेनेन नमुचेः शिरः इन्द्रो अवर्तयः।" ऋ० 8•14•13

ग• ऋ० 1•174•9

• ऋ० 7•18•20

एमुष -

" जल को चुराने वाले एमुष नामक राक्षस से सम्बन्धित आख्यान भी इन्द्र से जुड़ा है । एमुष को 21 लौह पुरों के पार रहने वाला वराह सम्बोधित किया है । इन्द्र के द्वारा उस वराह की भी हत्या की गई ।

चमुरि-

ऋ० में वर्णित चमुरि के सम्बन्ध में कहा जा सकता है । कि निघण्टु में वर्णित बल, पर्वत, वराह, शम्बर, रौहिण, अहि, वृत्र ये सब मेघ नाम से पठित हैं । अतः इन्हें मेघ ही मानना चाहिए । " चमु अदने " खाने वाला भी अर्थ किया जा सकता है जो " असुर " की अवधारणा व्यक्त करता है ।

शुष्ण -

शुष्ण और शम्बर शब्द निघण्टु में बल के पर्याय हैं । यौगिक प्रक्रियानुसार जो शोषण करे, वह शुष्ण है । अग्नि, वायु, सूर्य, विद्युत् के समान ही समाज में भी शोषक होते हैं तथा शरीरस्थ रोग के कीड़ों को भी शुष्क कहा जा सकता है ।

असुर-

यह शब्द " असु क्षेपणे" से निष्पन्न माना है । यह इन्द्र का भी विशेषण है । ऋ० के एक मन्त्र में " त्वं राजेन्द्र, ये च देवा रक्षा नृन्पाह्यसुर त्वमस्मान्" वर्णित है, इस मन्त्र में इन्द्र को सम्बोधित शब्द असुर है ।

क. "यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तम् ।" ऋ० 2·12·11

ख. दयानन्द-ऋ० भा० 6·26·6, अजमेर सं० 1983, पृ० 323, 324

किन्तु इन्द्र के विरोधी " असुर " राक्षस थे, जो जनसामान्य को त्रस्त करते थे । जब भक्तजन इन्द्र को रक्षार्थ पुकारते थे, तब इन्द्र इन असुरों का वध करते थे । ऋ0 में शब्दों का मौलिक एवं प्राकृतिक पदार्थों के वाचक के रूपमें इन शब्दों का प्रयोग मिलता है ।

अन्ततोगत्वा मैं कह सकती हूँ कि इन्द्र द्वारा वृत्रवधादि से तात्पर्य अवरोधक हानिकारक शक्तियों का कल्याणहेतु विनाश करना है । मेघों द्वारा वर्षा कराना, वायु एवं विद्युत् द्वारा वृष्टि करना, लुटेरे, उत्पीड़कों का हनन करना इत्यादि इन्द्र के विशिष्ट कर्म हैं ।

कुछ प्रमुख प्राचीन एवं अर्वाचीन भाष्यकारों द्वारा इन्द्र-सूक्तों में इन्द्र के स्वरूप का विवेचन -

प्राचीन भाष्यकारों में सर्वप्रथम यास्क का नाम लिया जा सकता है, क्यों कि उपलब्ध समस्त प्राचीन भाष्यों के आधार पर ऋग्वेद भाष्यों में ढाई हजार वर्ष से भी पूर्ववर्ती निरुक्तकार यास्क का नाम अग्रगण्य है, क्यों कि यास्क ने अपने शास्त्र में बहुशः ऋग्वैदिक मन्त्रों का उदाहरण देकर वैदिक शब्दों का निर्वचन किया है । इसी निर्वचन प्रसङ्ग में कुछ मन्त्रों का अपनी विशिष्ट शैली में भाष्य भी उद्धृत किया है । यास्क के परवर्ती वेद भाष्यों के अनुसार प्रमुख भाष्यकार निम्न है -

स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, आनन्दतीर्थ, वेंकटमाधव, माधव, आत्मानन्द, सायणाचार्य, मुद्गल तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती ।

वेङ्कटमाधव एवं सायण का सम्पूर्ण वेद पर और स्वामी दयानन्द का ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के 61 वें सूक्त तक ही भाष्य प्राप्त है । अन्य भाष्य या तो अपूर्ण हैं या अति ... संक्षिप्त ।

भगवद्दत्त ने स्कन्दस्वामी से दयानन्द तक ऋग्वेद के 22 भाष्यकारों का नामोल्लेख किया है[क] । किन्तु ध्यातव्य एवं विचारणीय बात यह है कि इन नामों में उन भाष्यकारों का भी नाम परिगणित है, जिनके भाष्य उपलब्ध नहीं होते ।

क. "वैदिक वाङ्मय का इतिहास" भगवद्दत्त, भाग-2 दिल्ली, 1976ई०, पृ०-21-93

पिछले सौ सवा सौ वर्षों के अन्तराल में कुछ विदेशी विद्वानों ने भी ऋ0 का आँग्ल, जर्मन, फ्रैन्च आदि भाषा में काव्य लिखे जो या तो सायणानुसारी हैं या फिर बिलकुल स्वतन्त्र ।

यास्क -

निरुक्तकार यास्क ने वैदिक देवताओं के बारे में जो कुछ लिखा है, वह सब देवताओं के नाम, स्थान, कृतित्व का रहस्य जानने हेतु विशिष्ट कुन्जी है । निरुक्त के 7-14 अध्याय में ऋग्वैदिक अग्नि इन्द्र इत्यादि देवताओं के वाचक शब्दों का विस्तृत एवं विशेष विवेचन किया है, जो सम्पूर्ण ग्रन्थ का अर्धाधिक है, उसे दैवतकाण्ड के नाम से जाना जाता है । अन्ततः यदि यह कहा जाय कि बृहद्देवता के अलावा निरुक्त से अधिक प्रामाणिक वैदिक सामग्री देवताविवेचन हेतु अन्यत्र दुर्लभ है, तो अतिशयोक्ति नहीं मानना चाहिए ।

इन्द्र की स्तुति के तीन प्रकार यास्क ने बताये हैं -

§1§ परोक्षकृत ।

§2§ प्रत्यक्षकृत ।

§3§ आध्यात्मिक ।

परोक्षकृतवर्ग में वे ऋचाएं परिगणित हैं, जिनमें सम्पूर्ण नाम विभक्तियों अर्थात् सुबन्त रूपों एवं प्रथम पुरुषगत तिङन्त शब्दरूपों से इन्द्र स्तुति की गई है। यथा" इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः[क] ।"

§2§ प्रत्यक्षकृत वे ऋचाएं हैं, जिनमें त्वम् सर्वनाम का प्रयोग इन्द्र के

क॰ ऋ0 10•99•10

साथ प्रत्यक्ष या अध्याहृत रूप में और म०पु० की क्रिया का साथ में प्रयोग हो । यथा- " त्वमिन्द्र बलादधि०"[क] और भी " वि न इन्द्र मृधो जहि०"[ख] ।

§3§ आध्यात्मिक ऋचाएं वे हैं, जिनमें इन्द्रादिदेवतावाचक शब्द के साथ अहम् सर्वनाम विशेषण रूप में प्रयुक्त हो और उ०पु० की क्रिया का साथ में प्रयोग हो । यथा- अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पति०।"[ग]

आध्यात्मिक मन्त्र परोक्षकृत एवं प्रत्यक्षकृत मन्त्रों की अपेक्षा बहुत कम हैं । स्तुति के अतिरिक्त कुछ ऐसे मन्त्र भी हैं जिनमें आशीर्वचन, शपथ, अभिशाप, भाव कथन, निन्दा एवं प्रशंसा इत्यादि सम्बन्धी वर्णन हैं ।

निरुक्त में वायु एवं इन्द्र को एक साथ अन्तरिक्ष का प्रधानदेवता प्रतिपादित किया गया है[घ] । विचारणीय प्रश्न यह है कि यास्क के उपर्युक्त कथन में " वा " शब्द समुच्चय बोधक है या पर्यायबोधक है ? यदि इसे समुच्चयवाची मान लें, तो यहाँ वायु एवं इन्द्र शब्दों से भिन्न-भिन्न पदार्थों का ग्रहण आवश्यक होगा, और यदि " वा" शब्द को पर्यायवाची मान लें, तो " वायु" का ही एक अन्य नाम इन्द्र मानना पड़ेगा ।

क• ऋ०10•153•2

ख• ऋ0 10•152•4

ग• ऋ0 10•48•1

घ• तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानः वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः । सूर्यो द्युस्थानः । § नि0 7•5§

इस सम्बन्ध में निरुक्त के अन्य टीकाकार स्कन्द- महेश्वर तथा दुर्गाचार्य का स्पष्ट मत है कि वायु और इन्द्र शब्द परस्पर पर्यायवाची हैं। अतः समानार्थक हैं एवं " वा " शब्द यहाँ समुच्चयबोधक न होकर पर्यायवाचक है। यही मत सत्यव्रत सामश्री का भी है[क]।

याज्ञिक प्रक्रियानुसार वाच्यार्थभेद होने पर भी " जितने नाम उतने देवता" इस सामान्य नियमानुसार इन्द्रऔर वायु में समानार्थकता होते हुए भी पृथक्- पृथक् देवतात्व सिद्ध है। यदि यह मान लिया जाय कि यही पक्ष यास्क को भी अभिमत रहा हो, तब " वायुर्वेन्द्रो वा" में वा शब्दयास्क ने भी पर्यायरूप में ग्रहण किया है।

यास्क ने अन्तरिक्षलोक, माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्म ऋतु, त्रिष्टुप् छन्द पञ्चदश स्तोम, बृहत्साम, अन्तरिक्षचारी देवगण, एवं देवस्त्रियाँ - ये सब कुछ इन्द्र से सम्बद्ध माना है। इन्द्र का प्रमुख कर्म वर्षा, वृत्रवध, या विरोधी तत्त्व असुरों का हनन है। एक स्थान पर स्पष्ट उल्लेख है - " या का बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तद्" अर्थात् बलसम्बन्धी जो भी कर्म हैं,वे समस्त कर्म इन्द्र के ही हैं।

यास्क ने निरुक्तशा० में बहुशः इन्द्र वृत्र सम्बन्धीआधिदैविक जगत् के युद्धों के वर्णन के उदाहरण दिए हैं, जिसमें स्पष्ट किया है कि इन्द्र

क. स्कन्द महेश्वरः निरुक्तटीका 12 (7) 2 लाहौर, 1934,पृ0-31-32

ज्योति है, वृत्र मेघ है एवं इन्द्र द्वारा मेघ विदारण करके वर्षा करायी जाती है - "तत्को वृत्र: ? मेघ इति नैरुक्ता: । त्वष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका: अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते । तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति ।"[क]

इस वर्णन में ज्योति से तात्पर्य वायु से आपृक्त विद्युत् से है । ऋ० के दो मन्त्रों में इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी का यास्क ने उदाहरण दिया है । यथा-

§1§ इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् ।"[ख]

§2§ "नाहमिन्द्राणी रराण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते ।"

निरुक्त का विशिष्ट अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इन्द्राणी से सम्बन्धित यह वर्णन रूपकालंकारयुक्त प्रकृति का वर्णन है । सत्यव्रतसामश्री का मत है कि यहाँ इन्द्र शब्द द्युस्थानगतसूर्य देवता का वाचक है, न कि मध्य स्थानगत वायुदेवता का[ग] ।

निरुक्त के दैवत प्रकरण में प्रयुक्त ऋचाओं में इन्द्र को सूर्य, पृथ्वी आदि से श्रेष्ठतम् एवं महत्तमबताया गया है[घ] । अध्यात्म में इन्द्रियों को स्थान-स्थान पर देव कहा गया है । इससे इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवराज

क. नि० 2·16

ख. ऋ० 10·86·11

ग. ऐतरेयालोचनम् सत्यव्रत सामश्री पृ० 175

घ. यास्क नि० परिशिष्ट- 13·2

इन्द्र का भी नाम उपपन्न होता है। इन्द्र से सम्बद्ध होने के कारण ही चक्षुः श्रोत्र, इत्यादि करणों का नाम इन्द्रिय पड़ा, ऐसा अनुभव होता है।[क] निरुक्त से स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक इन्द्र शब्द बहुवर्थक है।

§2§ स्कन्दस्वामी -

ये बल्लभी के मूल निवासी थे। सम्भवतः विक्रम संवद् 687 में इन्होंने ऋ0 भा0 पूर्ण कर लिया था।[ख] इनका भाष्य याज्ञिकप्रक्रियानुसार है। उत्तरवर्ती भाष्यकार सायण एवं मुद्गल के भाष्य में एवं स्कन्द के भाष्य में बहुशः समानता द्रष्टव्य है। डा0 सी0 कुन्हन राजा को तो स्पष्ट कथन है कि स्कन्द ने नारायण एवं उद्गीथ की सहकारिता से ही ऋ0 भा0 लिखा। इन्द्र के बारे में इनका क्या दृष्टिकोण है? मेरा शोध विषय यही है अन्यथा अन्य विषयों पर चर्चा करती।

इनके अभिमत से इन्द्र शत्रुविनाशक, सुद्रव्यदाता लोक विशेष का निवासी है।[ग] सोमपा इन्द्र सोम के मद में महान् कार्य सम्पादित करता है।[घ] सारथि मातलि इत्यादि उसके रथ के सहयात्री होते हैं।

क. वही, 14/93

ख. पा0 अष्टा0-5·2·93

ग. स्कन्दस्वामी ऋ0 भा0-1·4·6 भाग- 1, हो0शि0, 1965, पृ0 -27

घ. वही, ऋ0 भा0 -1·5·3 भाग- 1, हो0शि0, पृ0-218

स्कन्द ऐसा मानते हैं कि वायु इन्द्रादि का मनुष्याकार होना सम्भव नहीं, तथापि तात्पर्य समझने हेतु हाथ और पैर आदि से युक्त मानवशरीर सदृश अवयवों की कल्पना ऋचाओं में प्राप्त होती है।[क] इन्द्र की धेनु सूनृता है, जो बड़ी पयस्वती एवं उच्च शब्दकारिणी है और दानशील यजमान हेतु वृक्ष की परिपक्व फलवाली शाखा सदृश फलदायिनी है। या उस इन्द्र की मेघगर्जना रूप माध्यमिका वाक् ही सूनृता है, क्योंकि अन्तरिक्षगत जल ही गौवें हैं, एवं उनसे सम्बद्ध वाणी यजमान के प्रयोजन हेतुपकेफल की शाखा के सदृश जल वृष्टि वाली है।[ख]

उद्गाता, होता तथा ब्रह्मा स्तुति से शतक्रतु अर्थात् बहुकर्मा और बहुप्रज्ञ इन्द्र के पराक्रम को वर्द्धित करते हैं। वृष्टि के अधीन ही सब कर्म हैं और यह वृष्टि इन्द्र के अधीन है।[ग] एक साथ मन्त्रों का अनेकार्थ भी किया है। यथा- नि सर्वसेन इषुधीरसक्त समर्यो गा अजति यस्य वष्टि ...।[घ]

§1§ प्रथम अर्थ स्वामी या राजा है, जो समग्रसेनासे युक्त होकर तरकसों को अपनी पीठ या रथ में बाँधदेता है और तब शत्रु की गायों को

क• वही, ऋ0 भा0-12•6, भाग-1, 1965 ई0, पृ0-21,

ख, वही, ऋ0 भा0-1•8•8, भाग-1, वही-पृ0-50,

ग• वही, 1•11•4, पृ0-66

घ• ऋ0-1•33•3

अपने राष्ट्र में हाँक ले जाता है ।

§2§ या इन्द्र अपने आश्रितों को अवसरानुसार दान देता है ।

§3§ या मन्त्र में गा: पद से अभिप्राय आप्: §जल§ से भी है और इन्द्र तरकसों को बाँधकर मेघ को मारता हुआ जल को अमुक-अमुक राजा या यजमान के लिये चाहता हुआ वृष्टि रूप में गिराता है ।

इन्द्र के बारे में स्कन्द का स्पष्ट मत है कि वह उत्पत्ति वाला किन्तु मृत्युरहित है । वर्षाकाल में रसशोषक कर्माल्मा आदित्य से उत्पन्न होता है । बहुत मुमकिन है, इन्द्र पदसे यहाँ तात्पर्य मेघ स्थानीय विद्युत् से है, किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि प्रत्येक उत्पत्तिमान् पदार्थ विनाशवान् होता है - इस नियम से इन्द्र को अमरणधर्मा मानना कैसे उपयुक्त होगा ? यह प्रश्न पूर्णतया अनुत्तरित है । उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि स्कन्दस्वामी ने इन्द्रसूक्तों की आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं ऐतिहासिक पक्ष में व्याख्या किया है, जिसमें इन्द्र शब्द परमेश्वर § परमात्मा§ सूर्य विद्युत्, वायुराष्ट्राध्यक्ष, द्युलोक का स्वामी , आदि विविध अर्थों का प्रज्ञापक है ।

§3§ वेङ्कटमाधव - चोलदेशगतकावेरी तटवर्ती गोमान् ग्राम इनका निवासस्थान था विक्रम की 11 वीं 12 वीं शताब्दी के मध्य इनका भाष्य काल निर्धारित हुआ है । ऋग्र्थदीपिका नामक सम्पूर्ण ऋग्वेद का भाष्य प्राप्त है । किन्तु वह अत्यन्त संक्षिप्त रूप में है । इनका भाष्य भी याज्ञिक प्रक्रियानुसार ही है । इनके मतानुसार इन्द्र आकाश के सदृश विस्तीर्ण है तथा उसका बल भी

महान् है ।[क] इन्द्र ने दध्यङ् ऋषि की अस्थियों से 810 असुरों को मार डाला ।[ख] इन्द्र ही आदित्य है । यह आदित्य और चन्द्रमा अपनी किरणों से जगत् धारण किया करते हैं ।[ग] कामनापूरक तथा निरन्तर रक्षा करने वाले इन्द्र को मेधावी लोग गौ, अश्व, अन्न, भार्या की इच्छा करते हुए भिक्षा हेतु प्रेरित करते हैं।जैसे - कुएं से जल भरने हेतु कोश (दृति आदि) को प्रेरित किया जाता है ।[घ] वेंकटमाधवने इन्द्र पद का अर्थ स्कन्दस्वामी की ही भाँति स्वर्गलोक का अधिपति देवताओं काराजा तथा असुरों का प्रतिद्वन्द्वी किया है तथापि आधिदैविक प्रक्रियानुसार इन्द्र शब्द का अर्थ सूर्य एवं यौगिक प्रक्रियानुसार उसका स्वामी तथा ईश्वर अर्थ किया है ।[ङ]

(4) माधव -

ये वेंकटमाधव के समकालीन रहे होंगे, ऐसा अनुमान लगाया जाता है। डा0 सी0 कुन्हन राजा द्वारा सम्पादित ऋग्वेद व्याख्या माधवकृता भाग1-2 में माधव एवं वेंकटमाधव के भाष्य एक साथ छपे हैं । माधव मन्त्रों का आख्यानपरक एवं ऐतिहासिक अर्थ किये है । जैसे कि - " इन्द्रो दधीचो अस्थभिः"

क· वेंकट माधव, ऋ0 भा0-1·8·5, वही, पृ0-287

ख· वेंकट मा0, ऋ0 भा0, 1·84·13, भाग-2, हो0शि0, 1963, पृ0-606

ग· वे0मा0ऋ0भा0-1·164·19, पृ0-1064

घ· वे0मा0-4·17·16·, पृ0 -1529

ङ· वही, 1·84·7, भाग-2, पृ0 -602, तथा ऋ0 भा0-1·6·3, भाग- 1, हो0शि0, 1965(पृ0-37

के भाष्य में उन्होंने लिखा है कि इन्द्र ने अथर्वा के पुत्र दध्यङ् की अस्थियों से 810 वृत्रों का विनाश किया।[क] ये अस्थियाँ दध्यङ् के शिरोभाग की थी, जिनसे वज्र नामक आयुध विशेष का निर्माण हुआ। माधव ने इस सम्बन्ध में शाट्यायनवर्णित इतिहास को अपने ग्रन्थ में प्रपंचित किया है।[ख]

माधव के सम्बन्ध में एक विशेष तथ्य उल्लेखनीय है कि माधव ने ऋग्वेद की गंभीरता एवं दुरूहता को अंगीकार करते हुए वेदज्ञों के साथ अपनी अल्पज्ञता एवं संदिग्धविषयता का निः संकोच उल्लेख किया है।[ग]

माधवकृत ऋग्वेद व्याख्या में इन्द्र शब्द विविध स्थलों पर बिना-अर्थविशेषप्रदर्शित किए वैसे ही प्रयुक्त है, जैसे स्कन्द, वेङ्कट मा०, सायणादि के भाष्यों में मिलता है। फिर भी उपलब्ध तथ्यानुसार यह माना जा सकता है कि माधव " इन्द्र " शब्द को अनेकार्थक मानने के पक्षधर प्रतीत होते हैं।

§5§ आनन्दतीर्थ -

ये द्वैतसिद्धान्त के समर्थक माधव सम्प्रदाय के आचार्य थे। 1255-1335 विक्रम संवत् के मध्य इनका काल सुनिश्चित है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 40 सूक्तों पर इनका पद्यबद्ध भाष्य मिलता है। इनके भाष्य पर जयतीर्थ की टीका और उस टीका पर भी राघवेन्द्र यति की विवृति आज भी प्राप्त होती है।

क. माधव ऋग्वेद व्याख्या 1.84.13, भाग- 2, वही, पृ०-573

ख. वही०, 1.84.14, पृ०-504

ग. ऋ० व्याख्या, माधव-1.80.16, भाग-2, पृ०-555

आनन्दतीर्थ ने इन्द्र अग्नि इत्यादि देवतावाचक शब्दों की नारायण अर्थ में अध्यात्मप्रक्रियानुसारी भाष्य किया है । इन्होंने एक मात्र हरि का ही नाम इन्द्रादि माना है । उनमें भेद की शङ्का करना अयुक्त है[क] । उनके अनुसार इन्द्र ने ही प्राणात्मा मनुष्यादियों को ज्ञान से समन्वित किया है[ख] ।

वह इन्द्र सर्वगत, सर्वव्यापक समस्त अभिव्यक्त पदार्थों की व्यवस्था स्वयं करता है[ग] । इन्द्र को उन्होंने शक्तिमात्र आनन्दरूप चित्रित किया है । इसीलिए उसका नाम शक्र अभिहित है[घ] । यह प्राणियों में प्राण और जीवों का आधारभूत तत्व है । समस्त इन्द्रियाँ इन्द से ही क्रियाशील रहती है[ङ] ।

§6§ आत्मानन्द -

ये आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी भाष्य लिखे हैं, जो अस्यवामीय सूक्त नाम से प्रसिद्ध हैं । इन्होंने ऋग्वेद के ही 164 वें सूक्त का भाष्य लिखा है । बारहवीं, तेरहवीं शताब्दी इनका काल माना जाता है । अपने भाष्य में इन्होंने सूक्तगत समस्त दैवतावाचक शब्दों की अध्यात्मपरक व्याख्या की है । शाङ्करवेदान्तानुगत अद्वैतवाद में पूर्ण आस्थावान् थे एवं उनका अभिमत था कि वेद का प्रमुख प्रयोजन अध्यात्मतत्व का प्रयोजन प्रतिपादित करना है । यथा-
" परमार्थतस्तु सर्वत्र ब्रह्मपरत्वाद् ब्रह्मैव प्रतिपादयन्ति वेदाः[च] । "

क. "एकस्यैव हरेर्नात्र भेदः संशयः कश्चन । एवमेवाद्वितीयं तन्नेह नानास्ति किंचन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।" आनन्दतीर्थः ऋ0भा ।·2·4 गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, पुस्तक संख्या 212/42 पत्रसंख्या 32।

ख. "दीर्घकालं दर्शनाय सूर्यमारोहयच्छिवि । ज्ञानेरादरयोग्यं च प्राणात्मानं

क्रमशः ----

इन्द्र के विषय में ऋग्वेद के कुछ मन्त्र उदाहृत हैं – यथा– " ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुः–इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानी वहन्ति।[क] " मन्त्रभाष्य में आत्मानन्द ने व्यक्त किया है कि इन्द्र ईश्वर है, जिसको जीव द्वारा मात्र प्रयोजककर्ता के रूप में ही मानाजाना चाहिये।[ख]

आत्मानन्द मानते हैं कि इन्द्रादि एक ही परमात्मा के विविध नाम हैं। इन समस्त नामों का निर्वचन परमात्मापरक किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि उन्होंने इन्द्र अग्नि आदि को ब्रह्म का ही भिन्न रूप माना है।[ग] इस प्रकार स्पष्ट है कि अध्यात्मवाद के प्रबल समर्थक आत्मानन्द ने ऋ० इन्द्र को परमेश्वर अर्थ में ही परिगणित माना है।

*** समेरयेत् ।।" वही 1·7·3 पत्र संख्या 326

ग· वही 1·7·10 पत्र संख्या 326

घ· वही 1·10·6 पत्र संख्या 327

ङ· वही 1·12·19· पत्र संख्या 324

च· आत्मानन्दः ऋ० भा० 1·64·7 लाहौर 1932 ई० पृ० 10

क· ऋ० 1·164·19

ख· ऋ० 1·164·19 पृ० 25–26

ग· आत्मानन्दः 1·164·46 पृ० 56– 55 "विप्रास्तदेकं बहुधा वदन्ति।"

(7) उद्गीथ –

सप्तम शताब्दी का उत्तरार्द्ध ऋग्वेद के भाष्यकार उद्गीथ का माना गया है। ऋ० के दशम मण्डल के सूक्त 5/4 में 83/6 तक (78 सूक्तों का) उद्गीथभाष्य वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर से 1964 – 65 ई में प्रकाशित हुआ। इन सूक्तों में स्तुत इन्द्र का विवेचन इस प्रकार है –

देवताः(देवगण) अविष्ठ प्रदानकर्ता ऋत्विज् एवं यजमान हैं, इन्द्र परमेश्वर है।[क] इन्द्र को तीनों लोकों का स्वामी माना गया है।[ख] इन्द्र को ही जीव जगत् के भक्तों को संसार- सागर से मुक्ति प्रदाता बताया है।[ग] (उद्गीथ ने भी कहीं अर्थ स्पष्ट करने के लिए दो-दो अर्थ किए हैं- यथा- ऋग्वेद के ही दशम म० के एक मन्त्र का भाष्य करते हुए इन्द्र पद का अर्थ विकल्प से आदित्य एवं विद्युत् भी किया है।[घ] इन्द्र को समस्त प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से अभिव्यक्त किया है।[ङ] इन्द्र विविधरूप में स्वयं को परिणत करने की सामर्थ्य रखता है। मनुष्यादि के शरीर में शैशव यौवन वार्द्धक्य भाव को प्राप्त होकर मृत्यु को भी प्राप्त करता है तथा हिरण्यगर्भादि रूप में प्रलय पर्यन्त भी जिन्दा रहता है।[च]

क• उद्गीथ ऋ० भा० 10• 6•6•–7 लाहौर, 1935 पृ०-46

ख• यत्स्तोत्रैरुपस्थापितैः तस्यात्मीयस्य ऋतुना त्रिविशतो मम वधे सातत्यकरण कर्मणा निमित्तेन। ••• । वही 10•8•7 पृ०-11

ग• गीता 6/45 ऋ० 10•90•2 छान्दो० उप० 3•14•1

घ• वही, 10•27•24•, पृ०-3334

ङ• वही, 10•27•12 होशि०, पृ०-3332

च• वही, ऋ०10 •32•8, पृ०-3371

अन्ततोगत्वा कहा जा सकता है कि उद्गीथ भी इन्द्र को विविध अर्थों में अभिव्यक्त किये हैं। इन्द्र को आध्यात्मिक दृष्टि से परमात्मा आधिदैविक दृष्टि से विद्युत् एवं आदित्य रूप में मानते हैं।

(4) सायणाचार्य -

इनका काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित माना है। विजयनगराधिपति बुक्क की राजसभा के प्रतिष्ठित विद्वान् थे। चारों वेदों एवं विविध ब्राह्मण ग्रन्थों के भाष्यकार तथा माधवीय धातुवृत्ति इत्यादि ग्रन्थों के रचयिता के रूप में जगद्विख्यात हैं।

इनका भाष्य मुख्यतया याज्ञिकप्रक्रियानुसारी है, किन्तु कतिपय प्रसंगों पर अन्य विद्वान् उनके मतों से असहमत हैं। इन्द्र को इन्होंने यज्ञ का एक प्रमुख देवता माना एवं उसे विग्रहवती (शरीरधारी) चेतनाभिमानिनी देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया है। कहीं-कहीं पर आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार समष्टिगत परमात्मा एवं व्यष्टिगत आत्मा के रूप में भी प्रस्तुत किया है। व्याकरण निरुक्त एवं ब्राह्मणग्रन्थों तथा वेदों के अन्तः साक्ष्य के बल पर इन्द्र को मुख्यतः अधिष्ठात्री देवता माना है।

सायण का अभिमत है कि जब ऋचाओं में औषधि जैसे जड़ पदार्थों की चेतनवत् स्तुति की गई है या सूर्यादि पदार्थों की इन्द्रादि नाम से अभिष्टुति है, तो यह मानना उचित होगा कि तत्तद् नामों से चेतनदेवताभिमानी स्तुति ही उन्हें अभीष्ट है।[क] सायण ने इन्द्र के परमेश्वर रूप की

क. सायण: ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका पृ0-17 तथा ऋ0 भा0 3.35.9 एवं 3.51.4

व्याख्या कई मन्त्रों में इस प्रकार की है -

" युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि। "[क]

इस मन्त्र के भाष्य में सायण ने लिखा है कि इन्द्र परम ऐश्वर्यवान् है एवं सूर्य अग्नि तथा वायु आकाश में चमकने वाले समस्त तारे इन्द्र के ही विविध रूप हैं, उसी परमेश्वर रूप इन्द्र को तीनों लोकों के प्राणी अपने कर्मों में देवता रूप से सम्बद्ध करते हैं ।

" असुर " शब्द को इन्द्र का विशेषण माना है[ख] । सायण इसे " असुक्षेपणे" धातु से निष्पन्न मानते हैं, एवं " शत्रुओं को दूर फेंकने वाला" अर्थ करते हैं । या असु शब्द का अर्थ प्राण या जल है । इस व्युत्पत्ति में " र" मत्वर्थीय प्रत्यय है, जिसका अर्थ प्राणवान् या जलवान् है । या " असु " से तात्पर्य प्राण या जल से है । " असून् प्राणान् राति ददाति । इति असुरः । उन प्राणों या जलों को देने वाला असुर अभिहित है[ग] ।

युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार अन्तोदात्त असुर शब्द बलवान् , श्रेष्ठ देवादि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है तथा आद्युदात्त हीन उपद्रवी लोगों का बोधक है । अन्तोदात्त असुर शब्द ही वेद में परमात्मावाचक "असुर" रूप में प्रयुक्त है[घ] ।

क. ऋ0 1·6·1

सायण: ऋ0 भा0 1·6·1 भाग- 1 वाराणसी 1966 ई0, पृ0 -49

ख. "वृषभस्या असुरो वर्पणा नृतः" ऋ0 1·54·3

ग. सायण ऋ0भा0 1·54·3 भाग- 1 वाराणसी 1966 ई0 पृ0 274

घ. युधिष्ठिर मीमांसक: निरुक्तसमुच्चय सं0 2022 विक्रम पाद टिप्पणी;पृ·

इन्द्र के बारे में उनका स्पष्ट अभिमत है कि उसे मात्र दीर्घकालीन उपासना से ही अनुभव किया जा सकता है । ऐसा इन्द्र धनदाता, यजमानों, भक्तों में लोकप्रिय है । अनेक स्थलों पर इन्द्र को आदित्य भी माना है[क] । इस आदित्य की उत्पत्ति भी उसी ब्रह्म से माना है, जो समस्त जगत् का आदि रचयिता है[ख] । इन्द्र के मायात्मक स्वरूप का भी विस्तृत वर्णन मिलता है । यथा -

इन्द्र के लिए सुशिप्र " का अर्थ सुन्दर पगड़ी या टोप वाला या सुन्दर ठुड्डी वाला किया है[ग], इन्द्र अपनी मूछों को हिलाता डुलाता है तथा सोमपान से उन्हें स्निग्ध करता है । इसप्रकार के वर्णन मनुष्याकृतिक व्यक्ति के ही स्वभावानुरूप हो सकते हैं, किन्तु देवपक्ष में इनका संगत होना असम्भव है । किन्तु सा० ने भाष्य में स्पष्ट नहीं किया है कि यहाँ वर्णित इन्द्र किस कोटि का है ? कोई व्यक्ति है या कोई और ? ध्यातव्य है कि इसी मन्त्र का अर्थ दयानन्द ने सुन्दर हनु और नासिका वाला किया है और मन्त्र की संगति स्पष्ट की है[ङ] । इन्द्र का यज्ञभूमि में आकर होमपर का भाग ग्रहण करना एवं रथ में जुते हुए घोड़ों को भुना खिलाकर तृप्त करना " इत्यादि वर्णन भी अस्पष्ट है, क्योंकि इन मन्त्रभाष्यों में भी इन्द्र का स्वरूप स्पष्ट नहीं ।

क· द्रष्टव्य- सा० ऋ०भा०-1·102·2, 3·31·4, 10·27·13, 10·124,9

ख· सा०ऋ०भा० 10·120·1 भाग- 4 वाराणसी 1966 ई० पृ० 397

ग "शिप्रशब्देन शिरस्त्राणमभिधीयते शोभनशिरस्त्राणवान् । यद्वा शोभनहनुमान् ।" सा०ऋ०भा० 3·30·3 भाग-2, पृ० -218

घ· सा०ऋ०भा० 10·32·14 तथा 10·105·7

ङ· दयानन्द ऋ० भा० 3·30·3 भाग- 5 अजमेर, सम्वत्-198

किन्तु वैदिक ऋचाओं का आध्यात्मिक भावना से परे वर्णन उचित नहीं जान पड़ता । जिस इन्द्र के बारे में पुनरीय भावप्रवणित हों, उसे यों गर्हित रूप में अपेक्षित करना उचित नहीं है । स्वामी दयानन्द ने इसके बारे में अपना स्पष्ट मत व्यक्त किया है कि " महिष" शब्द का अर्थ " महान्" या " बड़े पदार्थों" का वाचक है । " महिष" शब्द का दूसरा अर्थ "प्राण" भी है । स्वयं सा० ने भी अन्यत्र ऋ०भा० के शतपथब्राह्मण से " महिषा:" का अर्थ" महान्तः" एवं " प्राणाः" किया है ।

अन्यत्र जैसे महिषा: का अर्थ महान्तः किया गया है, उसी प्रकार उक्त मन्त्र का भी अर्थ किया जाना उचित था । यदि महिष का अर्थ भैंस मान भी लिया जाय तो उसको पकाकर खाये जाने सम्बन्धी वर्णन कहीं प्राप्त नहीं होता और बिना मारे उसका मांस पकाना सम्भव नहीं, अतः यह अर्थ अस्वाभाविक एवं अवैज्ञानिक होने से अग्राह्य एवं उचित नहीं है । इस मन्त्रगत " अपचत्" का शब्दार्थ पकाया न करके यदि पाचन-पोषण द्वारा परिपक्व एवं पुष्ट बनाना किया जाय, तो यह अर्थ ज्यादा युक्तिसंगत एवं समीचीन होगा । इसी प्रकार मा: शब्द को सुबन्त न मानकर " बनाया" एवं " तिङन्त" अर्थ किया जाय तो ज्यादा समीचीन होगा ।

सा० ने इन्द्र को सर्वव्यापक एवं परमात्मवाची माना है । इन्द्र के दो रूपों का वर्णन सायण करते हैं (1) उग्र रूप (2) शान्त रूप भक्तों की स्तुति के अनुसार उनकी इच्छा अभिलाषा का पूरक रूप इन्द्र का शान्त-कर्मा रूप है तथा वृत्रवधादि, पर्वतों को स्थिर करना, पुष्टि कराना, विरोधी शत्रु को पराभूत करना, ये सब उग्रकर्म हैं । इसीलिये उसे " उग्र" विशेषण प्रदान किया गया है ।

××× क्रमश: फुटनोट अगले पृष्ठ पर --

[क] "इन्द्रायाहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः । अण्वीभिस्तना पूतासः ।" इस मन्त्रगत इन्द्र शब्द का श्लेष द्वारा सूर्य एवं परमेश्वर अर्थ किया है । ऋ० प्रथम म० के 11 वें सूक्त का देवता इन्द्र है । दयानन्द भाष्य में यह सूक्त श्लेषालंकारद्वारा द्वयर्थक व्याख्यात है । वे दोनों अर्थ इस प्रकार हैं - परमेश्वर या सूर्य तथा (1) शूरवीर राजा या सेनापति इन दोनों अर्थों में इन्द्र शब्द का व्यपदेश वेद में है, जिनकी शक्ति को वैदिक स्तुतियाँ वर्धित करती हैं । [ख] इन्द्र के संबंध में स्वामी दयानन्द का अभिमत संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है (1) कालविभाजक सूर्य भी इन्द्र है, जो औषधि आदि के रस रूपी सोम का पान करता है । [ग]

(2) जलकण से औषधियों के रस को निचोड़ना भी सोमाभिषवण है । [घ]

(3) बाह्य एवं आभ्यन्तर वायु रूप इन्द्र द्वारा पदार्थों का रस शोषण भी इन्द्र के सोमपान रूप में अभिप्रेत है । [ङ]

(4) वैद्यक विधा से सम्पादित रसायन भी इन्द्र का सोमपान है । [च]

(5) मनुष्यों की शारीरिक बल एवं विज्ञान वर्धन हेतु औषधिसेवन भी इन्द्र का सोमपान है । [छ]

क. ऋ० 1.3.4

ख. दयानन्द ऋ० भा० 1.11.1 एवं 1.11.4 भाग- 1, वही, क्रमशः पृ०-142-146

ग. ऋ० भा० दयानन्द 1.15.1, पृ०-195

घ. वही, 1.28.6, पृ०-38

ङ. वही, 1.15.5 तथा 1.16.8

च. वही, 1.55.2 पृ-0-766

छ. वही, 3.32.5, पृ०-486-87

§10§ मुद्गल –

छन्द के विषय में इनका संक्षिप्त परन्तु; आलोचनात्मक विवरण प्राप्त है । इनका समय वि0 1500 वीं सदी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इन्हें सायण का उत्तरवर्ती माना जाता है । इनका ऋ0 भा0 प्रथम म0 के 1–121 सूक्त तक पञ्चम म0 में 9 वें सूक्त से अष्ट0 म0 के 9 वें सूक्त तक वैदिक शो0 सं0 होशियारपुर से सन् 1965 में प्रकाशित है । सायण भाष्य से समानतापूर्ण होने के साथ इनका शब्दशः अनुकरण दृष्टव्य है । किन्तु व्याकरण प्रक्रिया सम्बन्धी सा0 भा0 का अंश मुद्गल वृत्तभाष्य में कहीं नहीं मिलता । सा0भा0 की अपेक्षा आकार में भी संक्षिप्त है । दोनों की धारणाएं लगभग समान ही हैं ।

पाश्चात्य विद्वानों का मत

इनमें प्रमुख रूप से दो वर्ग किया जा सकता है । एक वर्ग में वे लोग हैं, जो सा0भा0 को ही आधार मानकर या दूसरे वे हैं, जिन्होंने पूर्णतया स्वतन्त्र रूप से लिखा है । इन्हीं क्रम की धारणा तो ऋ0 पुस्तिकाओं का संकेत मात्र स्पष्ट होती है । ए0ए0 मैक्डानल ने भी इसी उद्देश्य से वैदिक माइथॉलाजी" नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया । कतिपय विद्वानों ने ऋचाओं को भी स्वतन्त्र माना है । उनका वेद से भिन्न अभिप्राय एवं विवरण सिद्ध किया है ।

इस प्रकार वेदार्थ के क्षेत्र में भारतीय भाष्यकारों एवं यूरोपीय वेद ऋषियों की विचारधारा में साम्य नाममात्र का तथा वैषम्य अधिक प्रतीत होता है ।

मैक्स मैक्समूलर—

आक्सफोर्ड वि०वि० के संस्कृताध्यापक मैक्समूलर ने हीनोथीज़्म (Henotheism) नामक वैदिक देवता के संबंध में एकवाद को प्रचलित किया। अर्थात् एक-एक देवता को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसका गुणगान करने की प्रथा वैदिक है। वैदिक ऋषि जिस किसी देवता इन्द्र, अग्नि, वरुण, सोम, आदि की स्तुति करते हैं, उसी को सर्वोत्कृष्ट गुणवान् दिव्यगुणोपेत मानते हैं। किन्तु इस मत का खण्डन मैक्डॉ० यह कहकर करते हैं कि वैदिकदेवता सर्वथा स्वतन्त्र नहीं। वे किसी न किसी के अधीन होते हैं। यथा-वरुण एवं सूर्य इन्द्र के अधीन हैं।[क] वरुण एवं अश्विन विष्णु के अधीन।[ख] इन्द्र, मित्र, वरुण अर्यमा, रुद्र, सविता देव का आधिपत्य स्वीकार करते हैं, उसके नियम में रहते हैं।[ग]

देवों की स्तुति युगल रूप में भी रूप से तथा कई कई समूहों में भी की गई है।[घ] वैदिक देवताओं के बारे में मैक्डॉ० कोई विशेष धारणा अभिव्यक्त करने के पक्ष में नहीं हैं। इन्द्र को वे उनके दिन के देवता तथा उनका योद्धा पूर्व एवं सबसे महान आँधी के रूप में ग्रहण करते हैं।

क. "यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्यः" ऋ० 1.101.3

ख. "तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः।" ऋ० 1.156.4

ग. "न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः।" ऋ० 2.38.9

घ. सूर्यकान्त शास्त्री, वै०दे०शा०, दिल्ली, 1961ई०, पृ०-31

इन्द्र को वे अनिश्चित अर्थ वाला कोई अस्पष्ट देवता मानते हैं, जिसकी भिन्न-भिन्न ऋचाओं द्वारा विविध रूप में स्तुति की गई है[क]। इन्द्र को वृष्टि एवं युद्ध का देवता भी मानते हैं। मगर उसका स्वरूप वे स्पष्टतया नहीं पाये हैं, क्योंकि इस विषय में वे स्वयं स्पष्ट मत नहीं अभिव्यक्त किये हैं।

डा० मुईर –

इनके ग्रन्थ " ओरिजनल संस्कृत टेक्स्ट्स " में इन्द्र सम्बन्धी विवरण इस प्रकार है – इन्द्र अञ्जियों का पान करते हैं। वह इस सोमरस का वस्तुतः पान करके अपनी तृष्णा शान्त करता है। क्योंकि सोम इन्द्र की धमनियों में अपनी शक्ति दिखाता है, ज्यों कि वह उठकर खड़ा हो जाता है, उसका [illegible] चमकने लगता है। उसके नेत्रों से ज्वाला निकलने लगती है। उसका सम्पूर्ण शरीर विशाल आकार ग्रहण कर लेता है। तब वह अपने सखाओं को प्रोत्साहित करता हुआ, शत्रुओं का मर्दन करने लगता है।

उनके अनुसार " जुपिटर प्लुवियस " [वृष्टि देवता] इन्द्र ही था। प्रो० राथ का विचार है कि इन्द्र की अपेक्षा वरुण अपेक्षाकृत प्राचीनतर वैदिक देवता हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से वरुण, अग्नि, इन्द्र इत्यादि परमात्मा सम्बन्धी स्तुति में भिन्न-भिन्न शब्द नाम माने गये हैं, अतः उनमें श्रेष्ठत्वाश्रेष्ठत्व का प्रश्न ही नहीं। इसका सीधा सार ही व्यक्त किया जा सकता है कि पाश्चात्य विद्वानों की व्याख्या पद्धति ही भिन्न है। भारतीय पद्धति से तुलना करना व्यर्थ है।

क• द्रष्टव्य वे०वे० शा० – पृ० 152–154

डी०जी० रेले -

इनका अध्ययन बिल्कुल अलग है । इन्होंने वैदिक देवताओं का शरीर विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन किया है । इनके अनुसार वैदिक देवता मानव मस्तिष्कादि में कार्यरत विभिन्न नाड़ियाँ और उनकी शक्तियाँ हैं । इन्द्र को चेतना का केन्द्र (Seat of all consciousness) कहा जाता है । इसके वज्र की स्थिति [illegible] नाड़ियों में, जो कि वेंट्री-कुलर कैविटीज" कही जाती हैं, और इस का नाम भी सोमरस है, जिसका इन्द्र निरन्तर पान करता रहता है । इन्द्र को प्रधान चेतना एवं वृत्र को अचेतना रूप में प्रतिपादित किया है । कुण्डलिनी क्रिया का अर्वाचीन विकास वस्तुतः वैदिक विचारों का ही परिणाम है ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि इन्द्र का सर्व इस भौतिक शरीर पर नियन्त्रण करता है । रेले द्वारा इन्द्रादि देवों को इस प्रकार मानव मस्तिष्क में प्रत्यारोपित मानना आध्यात्मिक प्रक्रिया के अनुकूल कहना उपयुक्त होगा ।

जे०ए० रेगोजीन -

इन्होंने इन्द्र को आँधी तूफान एवं युद्ध का देवता माना है । युद्ध देवता के रूप में प्राचीन आर्यों का मुखिया एवं नेता माना है, जो सिन्धु से पूर्व अनार्यों और अधिकार करने हेतु आगे बढ़े थे । इनका स्पष्ट मत था कि इन्द्र सम्बन्धी वर्णन [illegible] पर्यवेक्षण [illegible] निकाले गये हैं ।

जे०एन०फरगुहर तथा एच०डी० ग्रिसवोल्ड -

" दि रिलीजन आफ दि ऋग्वेद " में इन्द्र के सम्बन्ध में इस प्रकार

वर्णन है इन्द्र का स्वरूप कुछ अनिश्चित सा है, क्योंकि इन्द्र सम्बन्धी व्युत्पत्ति भी अस्पष्ट है ।

हिलेब्रान्ट -

उसे 'सूर्य देव' मानते हैं । अवेस्ता में "इन्द्र" एवं "अन्द्र" दो बार प्रयुक्त है, किन्तु वहाँ यह नाम असुरों की सूची में परिगणित है । ओल्डनबर्गानुसार इन्द्र का स्वरूपनिर्धारण उसके प्रागैतिहासिक देवता होने के कारण कठिन हो जाता है । जैसे भारत - ईरानी तथा भारत- यूरोपीय कालीन देवता कहा जा सकता है।[क] हिलेब्रान्ट ने इन्द्र और वृत्र को प्राग्वैदिक कालीन बताया तथा इन्द्र को ग्रीष्म ऋतु का देवता और वृत्र को शीत ऋतु का असुर माना है । प्राग्वैदिक कालावधि का कौतुक इन्हें माना है । किन्तु फर्कुहर गवेषों ने इस तथ्य को पूर्णतया अस्वीकृत किया । इसलिए इन्द्र को तथा वरुण को वृष्टि देवता कहना उपयुक्त होगा ।

फर्कुहर का मत इस प्रकार है -

भारत में देवों के बारे में मानवीय स्वरूपादि का वर्णन प्रतीकात्मक या आलंकारिक है । ऋचाओं में हाथ पाँव की चतुर्गुणित संख्या वर्णित है । इन्द्र का अत्यन्त विशिष्ट वज्र है, जो सम्भवतः विद्युत् देवता का पौराणिक नाम है । इन्द्र ने आकाश में विद्युत् को, सूर्य एवं उषा को भी पैदा किया ।[ख]

ओल्डेनबर्ग प्रभृति लोगों की धारणा है कि वैदिक कालीन भारतीय कुओं में जो रहते थे और पश्चिम से पूर्व की ओर अग्रसर होने में उनके युद्ध

क. Oldenberg R.V. 34 (N I) 134, Ibid, P-180

ख. Ibid, P- 184 - 84

§1§ देवाधिदेव इन्द्र

इन्द्र के देवत्व का निर्णय करने से पूर्व उसके स्वरूपानुसार ऋग्वैदिक मन्त्रों का विवेचन करना उपयुक्त होगा । सर्वप्रथम आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत है ।

इन्द्र को बहुशः मन्त्रों में जगत् का कर्त्ता धर्त्ता और स्वामी माना जाता है । बृहद्देवता[क] में शौनकाचार्य ने ऋग्वैदिक इन्द्र को चार प्रकार के प्राणियों जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज का स्वामी माना है । ऋग्वैदिक एक मन्त्र[ख] में इन्द्र का स्वरूप स्पष्ट रूप से परिभाषित होता है -

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा तथा देवता इन्द्र है । आध्यात्मिक पक्ष में यह मन्त्र परमेश्वरपरक है । सायण दयानन्द सरस्वती तथा स्कन्दस्वामी के भाष्य इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं । सायणभाष्यानुसार - ब्रध्न सूर्य है, अरूण अग्नि है, तथा चरणशील गतिमान् वायु है, द्युलोक में चमकने वाले, रोचनशील, लोक नक्षत्र और तारे हैं । ये सब इन्द्र के ही स्वरूप हैं, जो परमैश्वर्य से परिपूर्ण हैं, ऐसे सूर्य, अग्नि, वायु एवं नक्षत्रों के रूप में विद्यमान इन्द्र को तीनों लोकों के प्राणी अपने कर्म के देवता रूप में सम्बद्ध करते हैं ।

इस मन्त्र की आधिदैविक पक्ष में भी स्वामी दयानन्द जी ने व्याख्या प्रस्तुत किया है । स्कन्दस्वामी ने भी आधिदैविक एवं आध्यात्मिक

क. "चतुर्विधानां भूतानां प्राणी भूत्वा व्यवस्थितः ।
इष्टे वैतस्य सर्वस्य मिन्द्र इति स स्मृतः ।। शौनक बृहद्दे० 2/35 वाराणसी, 1965ई०पृ० -40

ख. युञ्जन्ति ब्रध्नमरूषं चरन्तं परितस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ।। §ऋ० 1·6·1§

दोनों पक्षों में प्रस्तुत मन्त्र की व्याख्या की है। मन्त्र में युज्जन्ति पद विशेष ध्यातव्य है।उसका विविध व्याख्याकारों द्वारा विविध रूप से अर्थ किया गया है। इन्द्र को सर्वज्ञ एवं व्यापक परमेश्वर रूपेण स्थिर किया गया है।

§2§ सूर्य नियामक देव इन्द्र -

इन्द्र ने आकाश में सूर्य को इस प्रकार स्थापित किया है कि सृष्टि की उत्पत्ति से ... प्रलय पर्यन्त सुदीर्घकाल तक प्राणियों को दिखाई देता रहे। इन्द्र ही जल से परिपूरित मेघ को वृष्टि हेतु प्रेरित करता है।[क] ऋग्वेद के ही एक मन्त्र में इन्द्र की महिमा का स्पष्ट द्योतक रूप द्रष्टव्य है।[ख] इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सामगान वाले बृहत्साम से ऋग्वेदाध्यायी ऋचाओं से तथा यजुर्वेदाध्यायी यजुषमन्त्रों से इन्द्र की स्तुति करते हैं। मनुष्यादि प्राणी रक्षा हेतु जिस देवाधिदेव को आपत्ति के समय में पुकारते हैं,वह एक मात्र इन्द्र ही है।[ग] इन उदाहरणों में सर्वत्र इन्द्र शब्द का तात्पर्य परमेश्वर लिया गया है,क्योंकि वही सर्वाधिक स्तुत्य एवं सर्वनियामक हो सकता है।

§3§ व्यापक एवं जगत् सृजक इन्द्र -

ऐसे प्रामाण्य मन्त्र हैं, जिनमें एक मात्र इन्द्र को ही विभु, व्यापक, व्यक्त किया गया है।[घ] इन्द्र ने अपनी शक्तिसामर्थ्य से प्राणियों की रक्षा हेतु भूमि का निर्माण किया। द्युलोक एवं विस्तृत अन्तरिक्ष को चारों तरफ

क. इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि। वि गोभिरद्रिमैरयत्॥ ऋ01.7.3

ख. इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत॥ऋ01.7.1

ग. इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः। अस्माकमस्तु केवलः। ऋ01.7.10 § --क्रमशः--

से व्याप्त किया । इसके बारे में कहा गया है कि कोई भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता है । यहाँ तक कि मेघ एवं समुद्र, नदियाँ भी इन्द्र का अन्त नहीं प्राप्त कर सके ।

इन्द्र ने स्वयं ही स्वयं से भिन्न इस जगत् की सृष्टि की । उसकी सूक्ष्मता का ज्ञान प्रत्येक मन्त्र कराते हैं।[ङ] इन मन्त्रों में भी इन्द्र परमात्मा अर्थ का ही प्रतिपादन करता है । इन्द्र की महिमा को मापा नहीं जा सकता । उसी के वशीभूत होकर द्युलोक एवं पृथिवीलोक भी अपने कार्य कर रहे हैं । इसी इन्द्र ने पृथ्वी एवं द्युलोक को धारण किया तथा सूर्य को[च] जन्म दिया है ।

§4§ कामना पूरक इन्द्र§ -

भक्तों की भावना को तथा उसमें अन्तर्निहित भाव को समझना इन्द्र के ही वश की बात है । एक भक्त एक मन्त्र में उसकी इस प्रकार स्तुति करता है - कि हे इन्द्र! तुम बहुत सामर्थ्यवान् हो, हम तुम्हारे अपने हैं । इस स्तोता की मनोकामना को पूर्ण करो।[छ] तुम्हारे अनुशासन में द्युलोक एवं पृथ्वी भी हैं। इन्द्र को सर्वधन सम्पन्न कहा गया है[ज] । उसका धन क्षीण नहीं होता।

तक विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः । ऋ0 10·86·1-23

घ· ऋ0-1·52·12,13,14,

ङ· तु0 -" आकाशात्मकत्वादि परमेश्वररूपाद्§ इन्द्राद्§ भूत भव्यात्मकं जगदुत्पद्यते । सा0ऋ0भा0 10·55·2, भाग- 4 पृ0-163

च· भूरि त इन्द्रवीर्यं तव स्मस्यस्य स्तोतुर्मघवन् कामामापृण ऋ0 1·57·5

छ· ऋ0 -3·32·8

इन्द्र प्रकाशस्वरूप, सर्वज्ञ एवं गतिशील है।अपने कर्मों से भक्तों को कर्म करने हेतु प्रेरित करता है।[क] ऋग्वेद के ही एक मन्त्र में वर्णित है कि बीस जन अर्थात् सोलह ऋत्विज् यजमान, यजमानपत्नी, सदस्य और शमिता और सौ अथवा बहुत से ऋषि इन्द्र की स्तुति करें और उसके लिए सिद्धान्न की आहुति दिया करें।[ख]

इन्द्र को समस्त प्राणी अपना सबसे ज्यादा नजदीकी एवं हितैषी मानते थे तथा उसके संरक्षण में न तो शत्रु का भय रहता था और न कोई शत्रु से हिंसित होता था।[ग] इस सूक्त में ही एक मन्त्र में सायण ने भाष्य में लिखा है कि इन्द्र को वस्तुत: ठीक-ठीक एवं पूर्णतया कोई नहीं जानता। उसका साक्षात्कार तो मनीषीजन दीर्घकालिक उपासना के माध्यम से ही कर पाते हैं, अन्य किसी भाँति नहीं।[घ]

एक ब्रह्म को ही विविध इन्द्रादि नामों से वर्णित किया गया है। एक मन्त्र में "पूरणामह्" कहा गया है। "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु:" भी इसको प्रमाणित करता है। एक मन्त्र में यहाँ तक विनीत भाव व्यक्त हैं कि तुम सदृश सुखदाता कोई नहीं। ... इसलिए मैं तुम्हारी ही स्तुति करता हूँ।

एक मन्त्र में इस प्रकार वर्णन है - हे इन्द्र- मैं तुम्हें यज्ञियों में यज्ञिय देव मानता हूँ। दानी लोगों का प्रेरक तुम्हें मानता हूँ। मनुष्यों की इच्छाओं का पूरक मानता हूँ।[च]

क. सनादेव तव रायो गभस्तौ न क्षयन्ते नोपदस्यन्ति दस्म। ऋ0 1·62·12
ख. सहस्रं साकमर्चत परिष्टोभत विंशतिः। ऋ0 1·80·9
ग. क ईषते तुज्यते को बिभाय को मंसते सन्तमिन्द्रं को अन्ति। कस्तोकाय क इभायोत रायेऽधिब्रवत् तन्वे को जनाय।ऋ0 1·84·17
घ. सायण ऋ0 भा0-1·84·12, भाग- 1, वाराणसी, 1966पृ0-380-81

§5§ मित्र, स्वामी, अविनाशी इन्द्र -

ऋग्वेद के एक सम्पूर्ण सूक्त में " मरुत्वान्" इन्द्र को " सख्याय हवामहे" की बात पुनः आवृत्त हुई है[क]। जहाँ पर मरुत्वान् इन्द्र आधिदैविक पक्ष में वायु से युक्त विद्युत् या सूर्य है और आधिभौतिक पक्ष में मरुतों एवं मनुष्यों से समन्वित राजा, शासक आदि है, वहाँ अध्यात्म में वही प्राणों से युक्त जीवात्मा एवं प्राणों का स्वामी परमात्मा भी है। मरुत: शब्द निघण्टु में ऋत्विक् नामों में पठित है[ख]।

मित्रता का वर्णन एक मन्त्र में इस प्रकार है-जिस इन्द्र के नियम एवं व्रत का द्यावापृथिवी अनुकरण करते हैं, वरुण एवं सूर्य तथा नदियाँ करती हैं, उस इन्द्र को हम मित्रता हेतु पुकारते हैं[ग]।

दयानन्द सरस्वती ने इन्द्र शब्द का अर्थ परमात्मा करते हुये लिखा है कि सब मनुष्यों को सुख सम्पदा ऐश्वर्य की प्राप्ति हेतु परमेश्वर की प्रार्थना करनी चाहिए क्योंकि वही परमैश्वर्ययुक्त, सर्वमित्र महान् शक्तिशाली 0 तथा विविध धन धान्य सम्पन्न सामर्थ्ययुक्त है। एक मन्त्र में इसे समस्त कर्मों का एक मात्र स्वामी कहा गया है[घ]।

क्रमशः पिछला फुटनोट -

ङ. ऋ0 1·84·19

च. ऋ0 9·96·4

क. ऋ0 1·100·1-19

ख. निघण्टु 3/18

ग. यस्य द्यावापृथिवी पौंस्यं महद्यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्य:।

क्रमशः अगले पृष्ठ पर ---

स्कन्दस्वामी ने अपने भाष्य में स्पष्ट लिखा है कि समस्त कर्म वृष्टिमूलक हैं और वृष्टि इन्द्र के अधीन होने से उसे ही समस्त कर्मों का स्वामी कहा गया है।[क] स्वामी दयानन्द जी ने उपर्युक्त मन्त्र में "कस्य" शब्द का अर्थ कल्याणार्थक मानकर इन्द्र को पूर्ण कल्याणवान् ईश्वर माना है।[ख] सा० एवं मुद्गल ने भी स्पष्ट लिखा है कि अभिष्ट फल की सिद्धि करना एकमात्र इन्द्र के ही सामर्थ्य की बात है।[ग] अन्ततोगत्वा मैं कह सकती हूँ, इन्द्र का "स्वामी" होना भी उसको परमेश्वरार्थक होना सिद्ध करता है। यही कारण है कि उसे रक्षा हेतु बारंबार स्तुत किया गया है।

उपनिषदों में परमेश्वर के दो नेत्र के रूप में ही सूर्य, चन्द्र का वर्णन है।[घ] ऋग्वेद में भी इन्द्र के बारे में ऐसा ही वर्णन मिलता है, जिसमेंउसे सूर्य रूप नेत्र से देखने वाला कहा गया है।[ङ] एक मंत्र में इस प्रकार उल्लेख है कि – हे स्तुति करने वाले, यह (प्रकट विश्वरूप ही) मैं हूँ, मुझे देखो-पहचानो, मैं सम्पूर्ण उत्पन्न हुई वस्तुओं को अपने सामर्थ्य से वशीभूत कर रहा हूँ, और नष्ट भी कर रहा हूँ। सत्यवादी जन मुझे (मेरे यश को) वर्द्धित करते हैं।

पिछला फुटनोट –

यस्येन्द्रस्य सिन्धवः सश्चति व्रतं मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे।
ऋ०1·101·3

घ· "स विश्वस्य करुणस्येश एको मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती।"

क· स्कन्दस्वामी ऋ० भा०-1·100·7, भाग- 2, होशियारपुर, 1964ई०, पृ०-719

ख· दयानन्द सरस्वती- ऋ०भाग-2, अजमेर, संवत् 1973 विक्रम, पृ0559,

ग सा०ऋ० भाग-1, वाराणसी, 1966 ई०, पृ०-441 तथा मुद्गल, ऋ०-भाग-2, होशियारपुर, पृ०-719

घ· मुण्डकोपनिषद्-2·1·4

ङ· ऋ० 7·98·6

च· ऋ० 8·100·4

इस प्रकार उसका अविनाशी रूप उभर कर सामने आता है । सृष्टि एवं संहार दोनों प्रकार के कार्य उसके द्वारा सम्पादित किया जाना व्यक्त होता है ।

§6§ महानइन्द्र -

इन्द्र के चिकित्सात्मक कर्म ही उसकी महत्ता के प्रतिपादक हैं । ऋ0 के एक मन्त्र में इन्द्र को अपनी महिमा से समस्त लोकों को व्याप्त करने वाला बताया गया है।[क] इन्द्र को सब प्रकार के लोग अपनी सफलता हेतु पुकारते हैं, चाहे वे उत्कृष्ट, मध्यम एवं निकृष्ट कोटि के ही क्यों न हों ? इससे पता चलता है कि वह सबकी सहायता समान रूप से करता है । स्थिर जन, घर में बैठे हुए, युद्धरत, एवं अन्न की कामना वाले, समस्त जन, इन्द्र की स्तुति करते हैं ।

इन्द्र सदृश महान् अन्य कोई नहीं[ख] । इन्द्र के पीछे रथ के पहिये की भाँति लोग चलते हैं[ग] । ऐसे विवरणों से पता चलता है कि इन्द्र सत्यमेव इतना महान् था कि समस्त जन उसका अनुकरण करते थे । यही भाव सर्वत्र मन्त्रों में व्याप्त है । एक मन्त्र में बहुधन इन्द्र की स्तुति अश्वों, गायों हेतु की गई है[घ]। एक अन्य मन्त्र में इन्द्र के सदृश न कोई समस्त भूलोक में, न द्युलोक में कोई है, न कोई भविष्य में हो सकता है[ङ] ।

क• ऋ0 4•16•5•

ख• ऋ0 4•30•1 नु सत्यमित्तन्न त्वावाँ अन्योऽस्तीन्द्र देवो न मर्त्यो न ज्यायान् । ऋ0 6•30•4, 7•32•23

ग सत्रा ते अनुकृष्टयो विश्वा चक्रेव वावृतुः । सत्रा महाँ असि श्रुतः ।।
ऋ0 4•30•2

घ• ऋ0 10•131•3 तथा 10•160•5

ङ• न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
ऋ07•32•23

इसप्रकार का वर्णन द्योतित करता है कि इन्द्र कितना महान् था। इन्द्र को सबका आधार-भूत एवं प्रतिष्ठाता प्रदर्शित किया गया है। उसके तुल्य बलवान् कोई नहीं है। न उसका कोई अन्य प्रतिद्वन्द्वी ही है।[क]

इन्द्र के कार्यों में सबसे प्रभावी कार्य सूर्य को ब्रह्माण्ड में प्रकाशन हेतु नियमित करना है। उसने आकाश स्थित चन्द्र एवं तारागण को भी यथास्थान दृढ़ता से स्थापित किया। उन्हें ऐसा नियमबद्ध एवं स्थिर किया है कि वे अपने स्थान से च्युत नहीं होते।[ख]

" पुरू: पुरूहूत:" के द्वारा स्पष्ट प्रतीत होता है कि बहुतों के द्वारा बार-बार पुकारने योग्य वह इन्द्र सचमुच महान् है। " शचिभि: " पद से बहुत बड़ी पूजनीय वाणियों, शक्तियों एवं वृत्तियों के कारण महानता दर्शनीय है। इन्द्र की महिमा का अन्त साक्षात्कृतधर्मा ऋषिजन भी नहीं प्राप्त कर सके। प्राकृतिक व्यवस्था के प्रति इन्द्र का पूर्वरूप दर्शनीय है। एक मन्त्र में वर्णित है कि हमारे पूर्वज ऋषि तुम्हारी महिमा का अन्त नहीं पा सके, जो कि एक साथ हमारे माता पिता को अपने शरीर से (प्रकृतिरूप से) उत्पन्न किए।[ग] उपनिषदों में भी " नेति नेति " कहकर इसी सत्य की पुष्टि की गई है।[घ]

क• ऋ0-6•18•12

ख• ऋ0-8•14•9 तथा " जनिता दिवो जनिता पृथिव्या:" ऋ0-8•36•4

ग• ऋ0-10•54•3

घ• बृहदारण्यकोपनिषद्-4•5•15

आदि माता पिता की इन्द्र के अपने शरीर से उत्पत्ति की जो बात कही गई है, उसमें माता-पिता से तात्पर्य आधिदैविक जगत् में द्युलोक एवं भूलोक से ही है[क] । सांख्यदर्शन में स्थित प्रकृति ही इन्द्र परमेश्वर की अपनी तनु है ; जिससे समस्त जगत् उत्पन्न माना गया है[ख] ।

पूर्वोक्त प्रमाण सिद्ध करते हैं कि इन्द्र का आध्यात्मिक स्वरूप परमात्मा ही प्रचलित था तथा उसकी महत्ता प्रतिपादित करने वाले मन्त्र ऋषियों की अनुभूति के ही परिणाम हैं ।

(7) विश्वरूप परमात्मा इन्द्र -

ऋ0 के कई मन्त्रों में इन्द्र को विविधरूप में चित्रित किया गया है । इन्द्र प्रत्येक रूपवाली वस्तु के स्वरूप वाला हो जाता है । कहने का तात्पर्य है कि वह इन्द्र अपनी मायाओं से (प्रज्ञाओं से या सत्व, रज, तम-रूपी प्रकृति नामक शक्ति से) बहुत रूपों से संयुक्त हो जाता है । उसकी असंख्य शक्तियाँ उससे संयुक्त वर्णित हैं[ग] । एक अन्य ऋचा में वर्णित है - हे इन्द्र! तुम्हारा प्रिय पवित्र यज्ञ, जिसमें कि सोमसवन होता है, तुम्हें नितान्त बढाने वाला है । स्वयं यज्ञिय - यज्ञ के योग्य अर्थात् पूजनीय होते हुये तुम यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ की रक्षा करो और वह यज्ञ (तुम्हारे वज्र (बल) की अहिमारण कर्म में रक्षा करे[घ] । सायण ने " यज्ञेन

क· शुक्ल यजुर्वेद मा0 सं0-2·10·, 2·11
द्यौः मेपिता पृथिवी माता । तैत्तिरीय ब्रा0-3·7·5·4·5
द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् ।
(ऋ0-1·64·33)

ख· कपिल-सांख्यदर्शन 1/61

ग ऋ0-6·47·12 इस सम्बन्ध में विशेष विचार हेतु द्रष्टव्य, डा0 जयदत्त उप्रेती का लेख", इन्द्र की माया ", वेदवाणी वर्ष20,अंक-6पृ04-8

घ· ऋ03·32·12

यज्ञम अव " का अर्थ स्पष्ट किया है कि - हे यज्ञ के योग्य इन्द्र । तुम हविष्प्रदान और सोमाभिषवण रूप यज्ञ के अनुष्ठाता यजमान की अन्न यज्ञकर्म द्वारा रक्षा करो[क] ।

ऐसे विश्वात्मा इन्द्र से सब प्रकार के भय से मुक्ति हेतु प्रार्थना की गई है । हे इन्द्र, तुम पीछे, से नीचे से, ऊपर से, आगे से, सब ओर से रक्षा करो । दैवी भय तथा मनुष्यादि देवेत्तर से प्राप्त भय को दूर करो[ख] ।

जिस प्रकार लोक में जनमानसी प्रकृति है कि जिससे ज्यादाप्रभावित होता है व्यक्ति, उसे ही अपना पूज्यनीय या आदरणीय मान लेता है । ठीक यही भाव ऋ० मन्त्रों में भी दृष्टिगतहोता है । एक मन्त्र में इस प्रकार वर्णन है - हे सबको बसाने वाले, शतकर्मन् और बहुप्रज्ञ इन्द्र । आप सत्यमेव हमारे पिता (संरक्षक, पालयिता) हो और माता (जननीवत् पुत्र का सम्मान करने वाले और वात्सल्यगुणयुक्त) हो, अतएव आपसे हम सुख की कामना करते हैं[ग] ।

अन्त में एक मन्त्र के सायणभाष्यानुसार प्रार्थना ध्यातव्य है- हे मित्र लोगों । इन्द्र को छोड़कर अन्य किसी (व्यक्ति या देवता) की विशिष्ट स्तुति मत करो, न दुःखी होवो और न दूसरों को ही दुःखी करो । तुम लोग एकमात्र इन्द्रदेव की ही स्तुति करो, जो कामनापूरक है । मात्र उसी की स्तुति मन्त्रों एवं स्तोत्रों में गावो[घ] ।

क॰ सा०ऋ०भा० - 3·32·12 भाग-2, पृ०-239

ख॰ ऋ० 8·61·16

ग त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा त सुम्नमीमहे ।।ऋ० 8·98·11

घ॰ ऋ० 8·1·1

एक अन्य मन्त्र में भी पितापुत्र भाव परिलक्षित होता है - हे इन्द्र, जिसप्रकार पिता पुत्र के लिए सुन्दर विचार एवं उत्तम कर्मों की शिक्षा देने हेतु प्रयत्नशील रहता है, उसी प्रकार आप भी हमें क्रतुमय, संकल्पशील, यजनशील एवं कर्मठ बनाइये। हे पुरुहूत इन्द्र, हमें इसजीवनकाल में अन्तर्यामी रूप से ही शिक्षित करते रहिए एवं जीते जी ही ज्योति (तत्त्वज्ञान, आत्मज्योति) प्राप्त कराने की कृपा कीजिए[क]।

इन्द्र कोजागतिक पदार्थोंमें सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। वह रात, दिन, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, वायुमण्डल, समुद्र के धारकस्थानों, नदियों एवं जीव जगत के समस्त प्राणियों से सर्वोपरि एवं सर्वश्रेष्ठ है[ख]। ये सब मन्त्र इन्द्र के परमेश्वर रूप का ही वर्णन करते हैं।

(4) सर्वज्ञ इन्द्र -

मन्त्रों में इन्द्र को "विश्वस्य विद्वान्" अर्थात् सर्वज्ञ कहा गया है[ग]। उसे सार्वभौमिक सत्य कहा गया है[घ]। वह वीर इन्द्र अपने भक्तजनों को भी सत्यकर्म हेतु प्रेरित करने वाला तथा ज्ञानसम्पन्न एवं भक्तवत्सल है[ङ]। जन सामान्य में भी यही उक्ति प्रचलित है कि जो समर्पित भाव से भगवान की स्तुति करता है, भगवान उसी के वश में होते हैं। इस उक्ति का भी वही तात्पर्य है। गीता में भी यही भाव व्यक्त हुआ है[च]।

क॰ ऋ0 7·32·26
ख॰ ऋ0 10·89·11
ग ऋ0 10·160·2
घ॰ ऋ0 8·62·12
ङ॰ ऋ0 10·111·1
च॰ गीता 18/46

§1§ जीवात्मा, प्राण, मन, जीव के रूप में इन्द्र -

ऋग्वैदिक मन्त्रों में इन्द्र का स्वरूप कुछ- कुछ लौकिक व्यवहारों से भी साम्य रखता है। जैसे लोक जीवन में व्यक्ति गाय, घोड़े, इत्यादि सम्माननीय वस्तुएं रखता है, उसी प्रकार इन्द्र को भी चित्रित किया गया है। प्रस्तुत मन्त्र द्रष्टव्य है - इन्द्र अपने हरियों अर्थात् अश्वों के साथ रथ से संग्रामों में, यज्ञ में, आता जाता है। सामान्यजन जैसा उसे भी सोम मद में मदित होकर, उत्साहपूर्ण कार्य सम्पन्न करते हुए, चित्रित किया गया है। शासन करना इन्द्र का विशेष गुण सर्वत्र परिलक्षित होता है। वह देवों पर, प्रजा पर, प्रकृति पर, असुरों पर, भी शासन करता है। पहाड़ों को स्थिर करना वृत्रवधादि कर्म उसकी शासकीयता को पुष्ट करते हैं। भौतिक प्रसाधनों का उपयोग करते हुए भी उसे चित्रित किया गया है। ऐसे उपाख्यानों में इन्द्र शब्द जीव, बुद्धिमान् मनुष्य या जीवात्मा का वाचक प्रतीत होता है। वस्तुतः गीता के अनुसार भी जीवात्मा ही विविध क्रियाओं का कर्त्ता और विविध उपभोगों का भोक्ता माना गया है।[क]

अन्तरात्मा एवं शरीरात्मा दोनों ही आत्मशब्द से ग्रहणीय है। यथा-" द्वावात्मानौ अन्तरात्मा। शरीरात्मा च।"[ख] मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप अन्तःकरण, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, शरीर के साधन स्वरूप है। इस प्रकार अध्यात्म में जीवात्मा को ही प्राण और इन्द्र रूप देवों का मुखिया राजा माना जाता है, वही इन्द्र कहलाता है। उसी

क· सांख्यदर्शन, कपिल, सूत्र 1·104·तथा 6·55

ख· पतञ्जलि: व्याकरणमहाभाष्य, सूत्र 1·3·67

साथ शरीर सहित जीवात्मा भी इन्द्र कहलाता है।[क]

सायणाचार्य ने अपने ऋ०भा० में लिखा है " अत्रान्तरात्मनेन्द्रः स्तूयते" अर्थात् इस मन्त्र में जो स्तुति है, वह इन्द्र नाम से अन्तरात्मा की स्तुति की गई है।[ख] ऋ० में जीवात्मा को अमर्त्य किन्तु मरणधर्मा शरीर के साथ ही आविर्भूत एवं तिरोभूत होने वाला माना गया है।[ग] एक अन्य मन्त्रार्थ में इस प्रकार वर्णन है - " इन्द्र नामक यह जीव, बुद्धियों से, रूपों से, प्रत्यक्ष वर्णन हेतु तदाकार रूप वाला होता है, और विविध शरीरों को धारण करने की चेष्टा करता है, औरशरीर के प्रति तत्तत्स्वभाव वाला होता है, तथा विद्युत् से युक्त इसकी शरीर में जो असंख्य नाड़ियाँ हैं, इन्द्रिय, अन्तःकरण, और प्राण हैं, उनसे यह सम्पूर्ण शरीरगत समाचारों का ज्ञान रखता है।"

इस व्याख्यानुसार इन्द्र का दूसरा आध्यात्मिक स्वरूप यह है कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतम्, सत् चित्-स्वरूप अजन्मा, अविनाशी तथा कर्मवशात् तत्त् शरीर में जन्म लेकरसांसारिक भोग भोगता है, औरपरमात्मा का साक्षात्

क. पाणिनी : अष्टाध्यायी, सूत्र 5·2·93
निरुक्त-1·1·2 दुर्गः निरुक्तटीका-1·1·2 देवराजयज्वाः निघण्टु भाष्य-2·10·14 कलकत्ता, 1958 ई०, पृ०-240-241

ख. सा०- ऋ०भा०-1०·27·24, भाग-4, वाराणसी, 1966, पृ०-80

ग. सा० 1·164·30, 1·164·38 सा०ऋ०भा०-1·1·164·30 भाग- 1, वाराणसी, 1966, पृ०-710

होने पर मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है[क]। भाष्यकार दयानन्द सरस्वती का अनुसरण करके ऋग्वेद के परवर्ती टीकारों ने भी जीवपरक व्याख्या किया है- यथा-जयदेव शर्मा, धर्मदेव, विद्यावाचस्पति इत्यादि। आधुनिक विचारकों में श्री अरविन्द कानाम अग्रगण्य है। "वेदरहस्य" नामक ग्रन्थ में उन्होंने ऋग्वैदिक कुछ मन्त्रों की परम्परागत शैली से बिलकुल पृथक् हटकर कुछ नवीन शैली का प्रयोग किया है। उन्होंने विविध देवताओं की द्विविध व्याख्या प्रस्तुत की है - §1§ आदृय ब्रह्माण्डगत और आन्तरिक §2§ पिण्डगत।

इन्द्र को आध्यात्मिक पक्ष में सक्रिय, गतिशील, दिव्य मन, मानसिक शक्ति का देवता[ख] चेतना का अधिपति पुरुष, प्रकाशमान मन का अधिपति[घ] परमप्रज्ञ,[ङ] तथा दिव्यमनशक्ति के रूप में चित्रित किया है[च]। श्री अरविन्दानुसार "वायु प्राण का अधिपति है, अग्नि दिव्य मन संकल्प है, मरूत विचार शक्तियाँ हैं, बृहस्पति अन्तः प्रेरित शब्द का अधिपति है, सोम अमृतकारक आनन्द है, औरवरूण विशुद्ध और बृहद् सत्ता के तत्त्व का द्योतक है[छ]।"

क॰ उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मा मृतात् ।। ऋ0य0 3/60

ख॰ अरविन्दः वेदरहस्य पूर्वार्द्ध § हिन्दी अनुवाद § कलकत्ता, 1971ई0, पृ0-225

ग॰ वही, पृ0-396

घ॰ वही, पृ0-338

ङ॰ वही, पृ0-354

च॰ वही, उत्तरार्द्ध, पृ0-141

छ॰ द्रष्टव्य-डा0 जयदत्त उप्रेती "वेद में इन्द्र" पृ0-40§ 1985§

यहाँ भी श्री अरविन्दका तात्पर्य मानव शरीर मेंवितना रूप में स्थित जीवात्मा से ही है । इस प्रकार ऋग्वेद में इन्द्र शब्द का एक अर्थ शरीर, पुरुष जीवात्मा है यह निश्चित है । शरीरस्थ मन, प्राण, अहंकार, एवं वाणी के अर्थ में भी इन्द्र शब्द प्रयुक्त है । उसकी पुष्टि ब्रा० ग्रन्थ में की गई है ।क

ऋग्वेद में " इन्द्र " शब्द से प्राणादि अर्थ गृहीत नहीं है, यह कहना अनुचित होगा , क्योंकि अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन वैदिक विद्वान् मानते हैं कि अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत और अधियज्ञ नामक विविध प्रक्रियाओं में निहित अर्थ को वैदिक शब्द युगपदेव प्रकाशित करते हैं ।घ

§2§ आधिभौतिक स्वरूप -

भूतों प्राणियों- मनुष्यादियों से सम्बन्ध रखने वाला पक्ष आधिदैविक पक्ष माना जाता है । एक सूत्र में इस प्रकार भी उद्धत है - भूतानि अधिकृत्य प्रवृत्तम् अधिभूतम्, अधिभूते भवम् आधिभौतिकम् । इन्द्र को राजा शासक, सेनापति, लोकनायक, आदि विविध रूपों में कल्पित करना ही उसका आधिभौतिक स्वरूप है । वैदिक शब्द रूढ़ि नहीं यौगिक हैग । विविध

क. प्राण एवेन्द्रः । श0ब्रा0 6·1·2·28, 12·9·1·14

ख. मन एवेन्द्रः श0ब्रा012·9·1·13 हृदयमेवेन्द्र श0ब्रा0 12·9·125 अथ य इन्द्रः सावाक् § जै0उ0 1·33·2 कौ0ब्रा0 2·7·, 13·5

घ द्रष्टव्यः-डा0 वसुदेव शरण अग्रवाल, इन्द्र, वेदवाणी§ मासिक § वाराणसी, वेदांक, वर्ष-12, § नवम्बर दिसम्बर 1959§ अंक-1, 2पृ0-90-99

मन्त्रों में इन्द्र को एक प्रकृष्ट प्रशासक, नेता एवं प्रजापति, पालक, इत्यादि माना गया है। ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र इन्द्र के शतक्रतु, वृत्रहन्, इत्यादि उपाधियों से युक्त हैं।

ऋ0 के प्रथम म0 में एक सूक्त में इन्द्र को विविध रूप में प्रस्तुत किया गया है। दस्यु, अव्रत, अयज्वा, पृतन्यु (युद्ध के इच्छुक) शत्रु भंगी, शुष्ण तथा वृत्र के संहारक रूप में इन्द्र का वर्णन है एवं व्रती, यज्वा, सत्य, अहिंसादि व्रतों का पालन करने वाले एवं वेदविहित कर्मों के कर्त्ता, यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म-कर्त्ताओं का रक्षक एवं गौ आदि सम्पदा वर्द्धक रूप इन्द्र का स्तुत्य है। इन्द्र को "नृमणः" सम्बोधित किया है, जिसका तात्पर्य है, मनुष्यों के कल्याण में युक्त मन वाला व्यक्ति।[क] इस उद्धरण से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्द्र को जनहितकर्ता एवं प्रजा का शासक रूप विशेष स्तुत्य था। क्योंकि वही जनप्रिय एवं उनका शासक था, मुखिया था।

आर्य एवं दस्यु शब्दों को कुछ लोग जातिसूचक मानते हैं, किन्तु वस्तुतः ये शब्द जातिवाचक न होकर गुणवाचक हैं।[ख] इन्द्र को विद्वानों का त्राता एवं पापात्मा राक्षसों का हन्ता कहा गया है।[ग] इन्द्र को मनुष्यों

पिछला फुटनोट -

नामानि आख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। "(यास्कनि01·12)
" नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्" । महाoभाoपतञ्जलि 3·3·1

क· ऋ0 1·51·5

ख· रामगोपालशास्त्री, वैद्य: वेद में आर्यदास- युद्ध सम्बन्धी पाश्चात्यमत का खण्डन, सोनीपत, 1970 ई0, पृ0-5-18

ग· 1·129·11, तु0-ऋ0-7·19·1

में श्रेष्ठतम, तेजस्वी मेघों के समान आवरणकारी शत्रुसेना के विनाशक एवं सम्पत्ति विजेता, युद्ध में विजय प्रदायक, ज्ञानवान्, धनवान्, संग्राम में प्रशंसनीय, एवं रक्षा हेतु स्मरणीय, कहा गया है।[क] "त्वं राजा जनानाम्" में इन्द्र के राजा होने की घोषणा मुखर हुई है।[ख] अनेकशः मन्त्रों में उसे "कृष्टीनां पुरुहूत इन्द्रः" इत्यादि कहा गया है।[ग]

§1§ शत्रुजेता, सेनानी इन्द्र –

ऋग्वेद दशम मण्डल के कुछ मन्त्र[घ] § जो अविकल रूप से शु0 यजुर्वेद में भी पठित हैं § इन्द्र के पराक्रम एवं सांग्रामिक स्वरूप के प्रतिपादक हैं। सूक्त गत मन्त्रों का गहनतम अध्ययन करने पर ऐसा आभास होता है कि ये सब ओजस्वी वर्णन किसी इन्द्र नामक महाप्रतापी, शूरवीर, बाहुबलसम्पन्न, महायोद्धा, का है, किन्तु यह भी ध्यातव्य है कि इन्द्र नामक किसी प्राचीन ऐतिहासिक व्यक्ति का वर्णन ऋग्वेद का उद्देश्य नहीं है, फिर भी ये सब तथ्य अनर्गल नहीं हैं।

सम्पूर्ण सूक्त में इन्द्र के लिए – भीमः, संक्रन्दनः, एकवीरः, विष्णुः, धृष्णुः, दुश्च्यवनः, इषुहस्तः, वशी, संसृष्टजित्, बाहुशर्धी, उग्रधन्वा, रक्षोहा,

---

क॰ ऋ0, 3·30·32

ख॰ ऋ0, 8·64·3

ग॰ ऋ0, 1·177·1

घ॰ ऋ0, 10·103·1–13 तथा शु0 यजु0 17·33·– 46

अमित्रहा, स्थविर:, प्रवीर, सहस्वान्,वाजी, , जेत्र:, गोत्रभिद्, गोविद्, वज्रबाहु:, अभिवीर:, वीर: , शतमन्यु:, पृतनाषाट्, अयुध्य:, मघवन्, वृत्रहन्, इत्यादि विशेषण प्रयुक्त हैं - जो इन्द्र के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं । एक-एक शब्द निगदस्पष्ट एवं सरल स्वाभावोक्ति रूप में प्रयुक्त है।-

§2§ शत्रुविनाशक इन्द्र -

एक अमित्र से कैसे व्यवहार करते हैं।- इसका स्पष्ट वर्णन एक मन्त्र इस प्रकार करता है - हे प्रभो । राजन् इन्द्र तुम इसप्रकार के बड़े शासक हो, तुम अद्वितीय शत्रुओं को खा जाने वाले और उनके विनाशक हो ; तुम वह हो ,जिसका मित्र न मारा जा सकता है,न जीता जा सकता है।[क]

इन्द्र के लिए " विशस्पति:" , अभयंकर:" विशेषणों का प्रयोग स्पष्ट करता है कि वह उस समय वह लोकनायक रूप में सुशोभित था । वृत्र शब्द आधिभौतिक प्रक्रिया में तमोगुण एवं रजोगुण बहुल हिंसक एवं उग्र प्रकृति के मनुष्यादि प्राणियों को संकेतित करता है । एक सूक्त में ऐसा वर्णन है कि -" इन्द्र वृत्राय हन्तवे देवासो दधिरे पुर: ।" अर्थात् वृत्र को मारने हेतु देवों ने इन्द्र को ही अपने आगे किया ।[ख]

क॰ शास इत्था महाँ अस्यमित्रखादो अद्भुत: ।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन ।।

ऋ0 ,10·152·1,2,3

ख॰ ऋ0, 8·12·22

§3§ सर्वोत्तम इन्द्र-

" नृतमः " शब्द की स्वामी दयानन्द ने "मनुष्यों में अधिक उत्तम" यह अर्थ किया है[क] । सायण एवं मुद्गल ने अतिशय नायक या नेता § ले चलने वाला§ अर्थ किया है[ख] । दोनों भाष्य अलग हैं, फिर भी अर्थ एक ही ध्वनित होता है, श्रेष्ठ पुरुष या नेता । अन्ततोगत्वा यह मानना युक्तिसंगत लगता है कि ऋग्वेद में इन्द्र शब्द श्रेष्ठ पुरुष, मुख्यों में प्रमुख, मार्गदर्शक, अग्रगामी, आदि विविध अर्थ का बोधक है ।

§4§ सोमपा इन्द्र -

इन्द्र के संबंध में विविध मन्त्रों में जो सोमपा सांसारिक भोगैश्वर्यों के भोक्ता का जो उल्लेख प्राप्त होता है, वह आधिभौतिक प्रक्रिया का अवलम्बन करने पर ~~प्रकम्~~ उचित ही है, क्योंकि किसी भी शरीरधारी के लिए ये सब भोग विलास वर्जित नहीं, अपितु श्रेय हैं । इस प्रकार इन मन्त्रों की संगति भी लगाई जा सकती है । सामान्यजन ही सोम पीकर मदमस्त हो सकता है, देवता नहीं । अतः इन्द्र का मानवीकरण करने पर ही ये मन्त्र उपर्युक्त अर्थ प्रतिपादित करते हैं ।

इन्द्र शब्द का प्रयोग " श्रेष्ठता" सूचक भी है । आज भी श्रेष्ठ मनुष्य के लिए मानवेन्द्र, नरेन्द्र, श्रेष्ठ गौ के लिए गवेन्द्र, वृषभेन्द्र, श्रेष्ठ हस्ती के लिए

क. सा0ऋभा0- 6·33·3, भाग-2, वाराणसी, 1966, पृ0-777

ख. दयानन्द ऋ0भा0-3·30·22, भाग- 5 ।

हस्तीन्द्र, गजेन्द्र, मृगेन्द्र, शब्दों का प्रयोग सम्माननीय है। इससे सिद्ध है कि इन्द्र शब्द गुणवाचक है। मनुष्यों का शासक राजा होता है, वह क्षात्र शक्ति का प्रतीक है और इन्द्र को "क्षत्र" कहा गया है[क]। इसी आधार पर राजा भी इन्द्र कहलाता है। अतः राजपद को ऐन्द्रपद भी कहा जाता है[ख]।

(3) आधिदैविक प्रक्रिया में इन्द्र का स्वरूप -

"देवमधिकृत्य प्रवृत्तम् अधिदेवम्, तत्र भवम् आधिदैविकम्" इस व्युत्पत्यानुसार देव या देवता के अर्थ को प्रकाशित करने वाली प्रक्रिया आधिदैविक प्रक्रिया कहलाती है, परन्तु देव या देवतासे तात्पर्य वैदिक वाङ्मय में विशेषत ऋग्वेद में प्रचलित पौराणिक देवी देवतासे न होकर, प्राकृतिक जगत में प्राप्त अग्नि इन्द्र, सोम, सूर्य, मित्र, वरुण, वायु, मरुत्, आपः, यम, आदि नामों से प्रसिद्ध उन शब्दों से है, जो कि ऋग्वैदिक मन्त्रों के प्रतिपाद्य हैं और जिनका विस्तृत विवेचन निरुक्त, बृहद्देवता, ब्राह्मणों एवं अनुक्रमणियों में किया जाता है। चेतन तत्त्वों में आत्मा, परमात्मा, प्राण, मन एवं इन्द्रियों एवं विद्वानों को भी देव कहा जाता है[ग]।

क. दयानन्द ऋ0भा0-"नृतमम् अतिशयेन नृवत्तमम्" 3·30·22 ऋ" है नृतम् अतिशयेन पुरुष। शूर इत्यर्थः" स्कन्दः ऋ0भा0-6·33·3, भाग- 4, होशियारपुर, पृ0-2055

ख. क्षत्रवा इन्द्रः (को0ब्रा0 12·8 श0ब्रा0 2·5·2·27, 2·5·4·8·, 3·9·1·16

ग. द्रष्टव्य-डा0 उप्रेती, "ऋ0 में इन्द्र", पृ0-45

विविध व्याख्याकारों ने विविध प्रक्रियानुसार ऋ0 का भा0 किया है । यथा- यास्क ने निरूक्त मेंएवं वररुचि के द्वारा निरूक्त समुच्चय में आधिदैविक प्रक्रिया प्रधान मन्त्रभाष्य किया गया है । स्कन्द, सायण एवं मुद्गल के ऋ0 भा0 याज्ञिक प्रक्रिया प्रधान हैं । आत्मानन्द का ऋ0 भा0 आध्यात्मिक प्रक्रिया प्रधान है,और दयानन्द जी का ऋ0भा0 आध्यात्मिक आधिदैविक एवं आधिभौतिक (या व्यवहारिक) प्रक्रिया प्रधान है ।

जिसप्रकार अध्यात्म में इन्द्र का स्थान जीव शरीर और समष्टिगत ब्रह्माण्ड है,तथा अधिभूत में यह पृथ्वीलोक है,ठीक उसी प्रकार अधिदैवत में इन्द्र का स्थान भी अन्तरिक्ष एवं द्युलोक माना जाता है । अब प्रश्न यह उठता है कि अन्तरिक्ष में इन्द्र किस रूप में विद्यमान है ? ?

इन्द्र को कहीं विद्युत और वायु के रूप में तथा कहीं पर सूर्य के रूप में वर्णित किया गया है । यास्कानुसार तो ऋग्वेद में इन्द्रवृत्रयुद्ध मेघ एवं मध्यमज्योति विद्युत् के मध्य अन्तरिक्ष का संघर्ष वर्णन मात्र है,जिसके परिणामस्वरूप पृथ्वीपर वर्षा होती है - " तत्को वृत्रो मेघ इतिनैरूक्ता स्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः।[क]

यास्क ने उक्त उद्धरण में इन्द्र शब्द का प्रयोग न करके ज्योति शब्द का प्रयोग किया है । यह ज्योति अन्तरिक्षगत विद्युत् है,या वायु या वायुसमन्वित विद्युत् ?[ख] द्युलोक में तो यही ज्योति सूर्य है, जिसे इन्द्र नाम से अभिहित

क• निरुक्त-यास्क -

ख• विद्युद वा अपां ज्योतिः" श0ब्रा0-7•5•2•49• अन्यत्र भी इसकी पुष्टि होती है यथा(कालिदास मेघदूत ,श्लोक-2 ,) दुर्ग निरूक्त टीका-2•5•17

किया गया है [क]। जल से परिपूर्ण मेघ जो वेद में वृत्र, अहि, आदि नामों से अभिहित है, जल के स्रोतों को रोक लेता है। इन्द्र अर्थात् वायु एवं विद्युत् के द्वारा प्रताड़ित होने पर जल धारायें फूट कर बरसती हैं। इसी तथ्य को दासपत्नी" इत्यादि मन्त्रमें कहा गया है [ख]। सूर्य किरणों द्वारा मेघ के नष्ट किए जानेके कारण वृत्र अर्थात् मेघ को ऋ0 में बहुश: मन्त्रों में 'इन्द्र शत्रु:' कहा गया है। ऐसे मेघ के हन्ता "वृत्रहा" शब्द सौ से अधिक मन्त्रों में प्रयुक्त हैं।

यास्क एवं शौनक ने मध्यस्थानगत इन्द्र, जो वायु या विद्युत् रूप में प्रचलित है, के बारे में स्पष्ट लिखा है कि उसका कार्य रसों को शोषित करना, मेघ को मारना, जल वृष्टि कराना, इत्यादि बल सम्बन्धी कार्य हैं [ग]। द्युस्थान देवता के रूप में इन्द्र आदित्यार्थक है। एक मन्त्र में द्रष्टव्य है -

" विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवस: ।
एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम् ।।"

यास्क ने निरुक्त में इसे द्युस्थानदेवताप्रकरण में उद्धृत किया है और

क. बृ0दे0-1·6·8
रसान् रश्मिभिरादायवायुनायं गत: सह ।
वर्षत्येष च यल्लोके तेनेन्द्र इति स स्मृत: ।।"

ख. ऋ0-1·32·11

ग. निरुक्त-5/4-5 बृ0 दे0-2-6

" विश्वानर" शब्द को आदित्यवाचक मानकर इन्द्र शब्द को द्युस्थानवाची दर्शाया है[क]। इसी प्रकार पुनरेति वृषाकपे ..... विश्वस्मादिन्द्र उत्तर:" की व्याख्या में भी यास्क ने इन्द्र पद से सूर्य अर्थ लिया है[ख]। वररुचि ने भी इन्द्र पद की आधिदैविक प्रक्रियानुसार व्याख्या प्रस्तुत किया है। यथा - " मृगो न भीम: कुचरो गिरिष्ठा:" की व्याख्या में इन्द्र पद का अर्थ अन्तरिक्षगत वायु किया है। इन्द्र को उन्होंने मध्यस्थानी वायु माना है[ग]। अनेक मन्त्रों में इन्द्र पद सूर्यार्थक है, जैसे-यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभिसूर्य। सर्वतदिन्द्र ते वशे[घ]।।

इस मंत्र में वृत्रहन्, सूर्य एवं इन्द्र पदों का समानाधिकरण में सम्बोधन में प्रयोग एक ही सूर्य का वाचक है।

§4§ आधियाज्ञिक प्रक्रियानुसार इन्द्र का स्वरूप -

वैदिक वाङ्मय में यज्ञ एक प्रसिद्ध शब्द है, जो देवपूजा, दान, होम, इत्यादि का सूचक है। दूसरे शब्दों में श्रेष्ठतम क्रियाएं यज्ञ कहलाती हैं[ङ]। इस यज्ञ से सम्बन्धित समस्त विषय याज्ञिक या आधियाज्ञिक कहलाता है। यद्यपि यज्ञ शब्द व्यापक अर्थ वाला है, तथापि श्रौत, स्मार्त यज्ञों के अलावा किसी-किसी भी प्रशस्त कार्य के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है। अग्निहोत्र

क. निरुक्त: यास्क-12·3·2 तथा दुर्ग: निरुक्तटीका-12·3·4, भाग-4, कलकत्ता, 1952, पृ0-1123 - 24 ।

ख. ऋ0 10·86·21

ग. वररुचि: निरुक्त समुच्चय-4·83· वाराणसी, संवत्-2022, पृ0-83-84, 3/68 पृ0-65, 1·25, पृ0-24-25 ।

घ. ऋ0, 8·93·4

ङ. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। श0 ब्रा0-1·7·4·5

इत्यादि यज्ञों में प्रमुखरूपसे देवताविशेष के वाचक शब्द अग्नि,इन्द्र,आदि को सम्बोधित कर स्वाहाकार या वषट्कार के साथ आज्य, चरू, पुरोडाशादि की हवि से ही अभिप्राय गृहीत होता है,क्योंकि द्रव्य,देवता, एवं त्याग ये ही यज्ञ के प्रमुख तीन अङ्ग हैं[ख]।

होम काल में सामान्य नियम यह है कि हविः प्रक्षेप हेतु इन्द्रादि देवतावाचक शब्द में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग करते हुए तद्देवता का स्मरण करके यज्ञकुण्डग्रतारिग्न में हवि डाली जाती है - यथा - " यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद् वषट्करिष्यन् ।"[ख] ऐसी धारणा है कि आहुत देवता सूक्ष्म रूप में उपस्थित होकर अपनी हवि का ग्रहण करता है । किन्तु यह ध्यातव्य है कि देवता हुतहवि को मनुष्यादि की भाँति नहीं खाता, बल्कि प्राकृतिक जल, वायु, सूर्यादिपदार्थों द्वारा अवस्थान्तर में परिणत करना ही ~~है-+-है~~ उसका खाना है । ऐसा मानना युक्तियुक्त है[ग] ।

यज्ञधूम से मेघ का निर्माण तथा उससे वृष्टि एवं वृष्टि से औषधि, वनस्पति आदि का उत्पादन संवर्धन तथा अन्नादि की प्राप्ति, अन्न से बल (शारीरिक) ओजः प्राप्ति तथा इनसबसे मिश्रीभूत सुख की प्राप्ति ही यज्ञ का प्रयोजन है[घ] ।

क• यज्ञं व्याख्यास्याम: । द्रव्यं देवता त्याग: ।

कात्यौ० सू०-1·2·1, 2

ख निरूक्त-8· 22

ग• मनुस्मृति-3·76

घ• श्रीमद् भग० गी०-3·14·15

स्वर्गकामो यजेत्[क] । अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः[ख] ।" इति ब्रा० वचन यही द्योतित करते हैं कि यज्ञ का प्रयोजन स्वर्ग ही है, यद्यपि याज्ञिकों एवं मीमांसकों का मत इससे भिन्न है । उनके अनुसार यज्ञ से अदृष्ट या अपूर्व उत्पन्न होता है और उसके द्वारा मृत्योपरान्त इन्द्रलोक विशेष में स्वर्ग की प्राप्ति होती है । यहाँ स्वर्ग से उनका स्पष्टअभिप्राय एक विशिष्ट प्रकार के सुख से है[ग] ।

कुछ प्रकरणों का प्रयोग ब्रा० ग्रन्थों में यह प्रकट करता है कि यज्ञ के साथ इन्द्र का अविनाभाव सम्बन्ध अवश्य है और उस इन्द्र के बिना यज्ञ अपूर्ण रह जाता है । यथा- " इन्द्रो यज्ञस्य नेता।[घ]" तदाहुः किन्देवत्यो यज्ञ इति, ऐन्द्र इति ब्रूयात्[ङ] ।" इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता।[च]" इन्द्रो वै यज्ञः[छ] ।"

वररुचि के अनुसार यज्ञ का प्रमुख देवता इन्द्र है, जो वस्तुतः सूर्य या आदित्य है । बृ०उ० में कहा गया है कि यज्ञ में दी गई आहुतियाँ ब्रह्म हेतु अर्पित होती हैं । इन्द्र नाम ही है । इन्द्र को कुछ याज्ञिक एवं मीमांसक अविग्रहवान् एवं केवल शब्द-मय मानते हैं[ज] । दूसरे इन्हें शरीरधारी [विग्रहवान्]

क॰ ता०ब्रा०-16·12·6 ,16·3·3, 16·15·5 , 18-23 , 20·11·6

ख॰ लौगाक्षि भास्कर अर्थसंग्रह , मुंबई,1950,पृ०-28 ।

ग॰ मरणोत्तरकालं तथेन्द्रस्य गृहे भवेम इन्द्रलोकं गच्छेमेत्यर्थः ।
स्कन्द श्रु० भा०-14·6,भाग-1, हो०शि०, 1965,पृ०-27 ।

घ॰ श०ब्रा०-4·1·2·15

ङ॰ गो०ब्रा०-3·23

च॰ श०ब्रा०-1·4·1·33

छ॰ ऐ०ब्रा०-6·11

ज॰ का पुनरियं देवता नाम ? · · · या एता इतिहासपुराणव्याख्याः

चेतनाभिमानी देवता मानते हैं। इसमें प्रमुख रूप से वेदान्ती लोग अग्रगण्य हैं। सा० ने भी लगभग उन्हीं का अनुसरण करना उचित समझा। कहीं- कहीं पर उन्होंने इन्द्रादि देवता से निराकार ईश्वर अर्थ भी किया है। यथा-
" को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन . . . को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः[क]।"

यज्ञ कर्म में इन्द्र की स्तुति एवं उसके प्रयोजन और महत्त्व पर एक मन्त्र में स्पष्ट वर्णन है -

यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनो भूदुत प्रियः सुतसोमो मियेधः।
यज्ञेन यज्ञमव यज्ञियः सन् यज्ञस्ते वज्रमहिहत्य आवत्[ख]।। "

अर्थात् हे इन्द्र। तुम्हारा प्रिय एवं पवित्र यज्ञ, जिसमें सोम का सवन होता है, तुमको वर्धित करता है। पूजनीय होते हुए शुभ यज्ञ से यज्ञ की रक्षा करो और यह यज्ञ तुम्हारे वज्र की अहिहनन् कर्म में रक्षा करे। सा०भा० में इस मन्त्र को यज्ञकर्म में इन्द्रस्तुति रूप में विनियुक्त माना गया है[ग]। किन्तु दयानन्द जी ने भिन्न विधि से मन्त्रार्थ किया है। उन्होंने यहाँ इन्द्र को ऐश्वर्य प्राप्त करने वाला पुरुष एवं यज्ञ को पदार्थों का संयोग करना रूप व्यवहार मात्र माना है[घ]। याज्ञिक प्रक्रिया अत्यन्त प्राचीन है। इसके प्रमाण सर्वत्र प्राप्त होते हैं। अकेले कात्थक्य नामक ऋषि आचार्य का नाम निरुक्त में पाँच बार प्रयुक्त है।

पिछला फुटनोट -
शबरस्वामी : पूर्व मीमांसा भा० देवताभिधानाधिकरण, सू०10·4·23
अण्डदेव भट्टदीपिका-9·1·4 अधिकरण, पृ0-53

क· ऋ0-1·84·18
ख· ऋ0-3·32·12

क्रमशः आगे -

यास्क ने एक ऋचा में आधियाज्ञिक एवं आधिदैविक पक्ष में भिन्न-भिन्न अर्थ किया है। यथा -

" एकया प्रतिधाऽपिवत् साकं सरांसि त्रिंशतम्। इन्द्रः सोमस्य काणुका।"[ग]

इस मन्त्र का निरुक्तानुसार आधियाज्ञिक अर्थ इस प्रकार है सोम का इच्छुक - या सोम से तृप्त होने वाला इन्द्र एक ही प्रयत्न में, माध्यन्दिन सवन के अवसर पर, इन्द्र देवता वाले सोम से भरे तीस उक्थपात्रों को एक साथ पी गया। दूसरी तरफ आधिदैवत पक्ष में नैरुक्तानुसार मन्त्रार्थ यह है कि तीस अहोरात्र शुक्ल पक्ष में और तीस ही कृष्णपक्ष के हैं। उनमें ये जो चन्द्रमा की शुक्लपक्ष गत किरणे हैं, उनको दूसरे पक्ष (कृष्णपक्ष) में सूर्यकिरणों द्वारा पी लिया जाता तथा वही सूर्यकिरणें चन्द्रमा को अगले शुक्लपक्ष में पुनः वर्धित करती हैं।[ख] इस विवरणानुसार आधिदैविक प्रक्रिया में इन्द्र पदार्थ सूर्य या सूर्य की किरणें हैं, किन्तु आधियाज्ञिक प्रक्रियानुसार यहाँ इन्द्र से क्या अभिप्राय है? पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। याज्ञिक अर्थ रूपक सा प्रतीत होता है, दैवत अर्थ बिलकुल यथार्थ। और यथार्थ होने से अधिदैवत अर्थ स्पष्टतर एवं उदात्ततर है।

यास्क ने वेदार्थ में आधिदैविक प्रक्रिया को प्रमुखता देते हुए भी याज्ञिक से दैवत और दैवत से आध्यात्मिक प्रक्रिया को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बताया है।

ग. सा० ऋ० भा०-3.32.12, भाग-2, पृ०-239।

घ. दयानन्द स० - ऋ०भा०-3.32.12, भाग-5, अजमेर, संवत्-1970।

क. ऋ०-8.77.4

ख. यास्क: निरुक्त-5.11 तु० " औरुक्त तीस अहोरात्रों को ही सरांसि मानते हैं।" भगवद्दत्त नि०शा०5.11, अजमेर, सं०-2021।

"वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्"[क] का अर्थ करते हुए स्पष्ट लिखा है - अर्थ वाच: पुष्पफलमाह, याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा ।" इससे याज्ञिक दैवत और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं से याज्ञिक प्रक्रियानुसारी अर्थ यदि पुष्पस्थानीय है, तो दैवत प्रक्रियानुसारी अर्थ फलस्थानीय।[ख] और दैवत अर्थ पुष्प-स्थानीय है, तो आध्यात्मिक अर्थ फल स्थानीय । याज्ञिक प्रक्रिया वेदार्थ के ज्ञान में साधनभूत है । याज्ञिक प्रक्रियानुसार किया गया वेदार्थ वेद का प्रमुख अर्थ नहीं है, अपितु आधिदैविक एवं आध्यात्मिक वेदार्थ को समझने का निमित्तमात्र है ।[ग]

मीमांसक ने लिखा है कि जिस प्रकार नाटक करने वाले किसी ऐतिहासिक इतिवृत्त का प्रदर्शन करते हुए, उन पात्रों में घटित संवादों का अनुकरण अपने व्यवहार में करते हैं, उस संवाद के साथ उनका कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता, ठीक उसी प्रकार आधिदैविक एवं आध्यात्मिक जगत् का वर्णन करने वाले वेद मन्त्रों उन उन प्रतिनिधिभूत याज्ञिक क्रियाओं तथा पदार्थों का वस्तुत: कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है ।[ङ]

क. ऋ0-10.71.5

ख. यास्क: नि0-1.20

ग. द्रष्टव्य- डा० उप्रेती, 'वेद में इन्द्र', पृ0-50

घ. उद्गीथ-ऋ0 भा0ऋ0 10.71.5 भाग-7, हो0शि0, 1965ई0, पृ0-3586 ।

ङ. युधि0 मी0 वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की मीमांसा, बहालगढ, 1976 पृ0-27

मीमांसक जी ने अपना मत व्यक्त किया है कि प्राचीन काल में सम्पूर्ण मीमांसाशास्त्र बीस अध्यायात्मक था, जिसमें प्रथम 12 अध्याय कर्ममीमांसा, मध्यम 4 अध्याय देवत मीमांसा और अन्तिम 4 अध्याय ब्रह्ममीमांसा नाम से प्रख्यात थे। किन्तु अब पूर्वमीमांसा के 13 से 16 तक के संकर्षकाण्ड नामक 4 अध्याय जो देवतकाण्डरूप थे, अब प्राप्त नहीं हैं।

इस प्रकार यज्ञों के प्रतीकात्मक होने से उनसे सम्बद्ध यज्ञिय इन्द्रादि देवता यज्ञ में शब्द रूप में ग्रहण किए जाते हैं एवं उनका अर्थ भी उपासनादि दृष्टि से आध्यात्मिक रहता है। यही उपयुक्त प्रतीत होता है।[क]

अन्ततोगत्वा सार रूप में कह सकती हूँ कि विविध प्रमाण एवं विविध विद्वानों का मतवैभिन्य होने के बाद इन्द्र का ऋग्वैदिक रूप कुछ शब्दों में वर्णित करना असम्भव नहीं, तो श्रमसाध्य अवश्य है। इन्द्र के स्वरूप निर्धारण के समय यद्यपि उसके समन्वित रूप का वर्णन करना तो सरल है, किन्तु समस्त ऋग्वेद में एकपक्षीय अर्थ करना उपयुक्त नहीं, क्योंकि कहीं पर आध्यात्मिक अर्थ सुसंगत जान पड़ता है, कहीं दैविक एवं कहीं पर आधिभौतिक।

इसीलिए मेरी धारणा है कि प्रसंगानुसार ऋचाओं का अर्थ करना वेदार्थ की गरिमा में वृद्धि करना जैसा पुनीत कार्य होगा, अन्यथा अर्थ का अनर्थ होकर गर्हित रूप में अर्थ करना अनुपयुक्त कहा जायेगा। यथा-महिषः के संबंध

क. स्वामी दयानन्द सर० - ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, अजमेर, संवत्-2006, पृ०-87-88
तु०-सत्यव्रत सामश्री ऐतरेयालोचनम्, कलकत्ता, 1906ई०, पृ०-167-68
तथा दुर्गः निरुक्त भाग-4 कलकत्ता, 1953पृ०-745-46

में मैकडोनल का यह कहना कहाँ तक उपयुक्त है कि इन्द्र आर्यों का ऐसा देवता है, जो 300 भैंसों का मांस खाता था। यदि सायण ने उक्त मन्त्र[क] में "महिष:" का अर्थ "महान्त:" किया होता, तो यह दूषित अर्थ श्रद्धेय इन्द्र जैसे देवता के प्रति कदापि नहीं सम्भव था। "महिष:" का अर्थ यदि भैंसा मान भी लिया जाय तो इस मंत्र में कहीं भी भैंसे ~~भैंसा मान भी लिया जाय तो उस मंत्र में कहीं भी~~ भैंसे के मारने का उल्लेख नहीं है और बिना मारे भैंसे का मांस पकाना सुसंगत नहीं, सम्भव नहीं। अत: प्रस्तुत मन्त्र को सायणानुसार नहीं, अपितु सुधार कर "महिष:" का अर्थ 'वृषभ:' न करके "महान्त:" महान् शक्तिशाली अर्थ लेना चाहिए तथा अपचत् का तात्पर्य √ पच् धातु से मान करके पालनपोषण द्वारा परिपक्व बनाना अर्थ ज्यादा उपयुक्त होगा (मन्त्र "महिषा श्री शतानि अपचत्") न कि बनाया।

<u>क्या इन्द्र पुरुषाकृति है ?</u> वैदिक वाङ्मय में इन्द्र को एक देवता वाचक शब्द के रूप में प्रतिष्ठित अवश्य है, किन्तु वह किसी व्यक्तिविशेष के रूप में ऋग्वेद में वर्णित है- ऐसा मानना त्रुटिपूर्ण होगा। क्योंकि "इन्द्र" शब्द अनेक अर्थों का वाचक है। अध्यात्मपरक मन्त्रों में इन्द्र जीवात्मा है।

क. ऋ0-5.29.7-8

समष्टि जगत् में इन्द्र परमात्मा है । शरीर के भीतर स्थित अन्तःकरण एवं प्राण भी इन्द्रपद वाच्य हैं ।

अधिदैव में इन्द्र वायु, विद्युत् तथा सूर्य रूप में वर्णित है ।[क] निरुक्त में अन्तरिक्षस्थानी देवता के रूप में प्रतिष्ठित है । अधिभूत में इन्द्र राष्ट्र में सर्वश्रेष्ठ शासक, राजा या सेनाध्यक्ष के रूप में प्रतिष्ठित है । विभिन्न रूप में परिगणित होने के कारण यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि ऋग्वेद संहिता में जहाँ-जहाँ इन्द्र के गुण कर्मों का वर्णन है, वह प्रकरण वस्तुत किस अर्थ को प्रतिपादित करता है ? यद्यपि निरुक्तकारों की मान्यतानुसार प्रत्येक मंत्र में तीन प्रकार की अर्थ प्रकाशन क्षमता पायी जाती है

(1) आध्यात्मिक ।

(2) आधिदैविक ।

(3) आधिभौतिक तथा आधियाज्ञिक ।

क॰ 1॰ एष एवेन्द्रो य एष तपति - शतपथ ब्रा0-1/6/4/18, 2/3/4/12

2॰ इन्द्र इयेतमाचक्षते य एष सूर्यः तपति । शत0ब्रा0-4॰6॰7॰11

3॰ अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः । शत0ब्रा0-8॰5॰3॰2

4॰ स यस्स इन्द्र एष एव स एष (सूर्यः) इव तपति।जै0 उपनिषद् ब्रा0 1॰28॰2, 1॰32॰5

5॰ इन्द्र आदित्यः । शत0ब्रा0-1॰44॰5

6॰ स्तनयित्नुरिन्द्रः कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति । श0ब्रा0 - 11॰6॰3॰9

7॰ विद्युद् वा अशनिः । श0ब्रा0-6॰3॰3॰14

8॰ यदशनिरिन्द्रः । कौषीतकि ब्रा0-6/9

फिर भी अध्ययनाध्यापन और व्याख्यान की सुविधानुसार एक समय में एक ही अर्थ पर विचार किया जाता है। प्रतिपक्ष में अर्थभेद होने पर मन्त्र के देवता के स्वरूप में भी तत्तत्पक्षानुसार भेद का होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार एक ही इन्द्र अनेक स्वरूपों को प्रकट करने में अनेकार्थ वाचक बनकर प्रयुक्त हुआ है।

जीवात्म एवं परमात्म पक्ष में इन्द्र सूक्ष्मतम एवं महत्तम दोनों ही रूप में परिगणित है। वेदों एवं उपनिषदों के गहनतम अध्ययन से इन्द्र के आत्मरूप एवं तात्त्विक स्वरूप को, आध्यात्मिक ज्ञान को स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। इन्द्र का लोकरक्षक या लोकेश रूप राजा या सेनापति पक्ष में स्पष्ट ही वर्णित है[क]। ऐश्वर्य एवं वीरता पूर्ण कार्य ही इन्द्रत्व का मूल कारण है। वायुपक्ष में स्पर्शेन्द्रियगम्य है। विद्युत्पक्ष में सूक्ष्म, किन्तु बलकृति द्वारा अनुमेय तथा किंचित् उदाहरणों में तो दृष्टिगोचर भी प्रतीत होता है[ख]।

निष्पक्ष रूप से विचार करने पर इस प्रकार के स्पष्ट संकेत मन्त्रों में अप्राप्य हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि ऋग्वैदिक इन्द्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति या पुरुष था।

क. ऋ0-8·64·3, 8·70·1, 8·16·61, 7·23·7, इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनाम्। अथर्व0सं0 {19-5·1} अजमेर, सं0-2001, वि0पृ0-342।

ख. मध्यमस्थाने द्वौ कर्मात्मानौ विद्युद्वायुवाख्यौ। तयोरनित्यदर्शन एको विद्युदाख्यः नित्यदर्शनस्तु वाय्वाख्यः त्वगिन्द्रियप्रत्यक्षः। दुर्ग- निरुक्तटीका, 7/5, भाग-4, पृ0-749।

रूपकों के रूप में इन्द्र का यत्र तत्र वर्णन प्राप्त होता है, जहाँ, उसे परिवार का मुखिया या समाज के प्रधान व्यक्ति के रूप में परिगणित किया गया है । स्वामित्व का भाव, प्रजापालक राष्ट्र प्रधान के रूप में भी वर्णन प्राप्त होता है ।

इस संबंध में बलदेव उपाध्याय लिखते हैं – ऋग्वेद के चतुर्थांश सूक्तों में केवल इन्द्र की स्तुति है । इसका मुख्य कारण यह है कि यह वैदिक आर्यों का जातीयदेवता है । उसके भौतिक रूप का वर्णन उपमा तथा अन्य अलंकार की सहायता से बड़ी सुन्दरता से किया गया है । उसके शरीर के भिन्न- भिन्न अवयवों का बहुशः निर्देश मिलता है । सोमपान से वह अपने पेट भरता है । वह स्वयं भूरे रंग का (हरि) है तथा उसके बाल और दाढ़ी भी भूरी हैं । उसका शरीर बड़ा ही गठीला तथा बलशाली हैं, उनकी ठुड्डी (हनु) बड़ी ही सुन्दर (सुशिप्र) है ।

इसीप्रकार इन्द्र के प्रत्येक शरीरावयव तथा उपाधियों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है । मैकडोनल महोदय ने अपनी पुस्तक " वैदिक देव- शास्त्र" में इन्द्र के शारीरिक रूप का विशद वर्णन किया है । वैदिक वाङ्मय में इन्द्र भारतीयों का प्रियतम राष्ट्रीय देवता है । इसकी महत्ता के परि- चायक लगभग 250 ऋ0 सूक्त हैं, जिनमें सिर्फ इन्द्र का ही वर्णन है । यह संख्या अन्य किसी भी देवता सम्बन्धी मन्त्रों से सर्वाधिक है और ऋग्वैदिक सूक्तों की समस्त सूक्त संख्या का चतुर्थांश है । अन्य देवताओं के साथ भी इन्द्र का स्तवन हुआ है, यदि इन मन्त्रों को भी सम्मिलित कर लिया जाय, तो यह संख्या 300 सूक्तों के लगभग हो जायेगी ।

रूपकों के रूप में इन्द्र का यत्र तत्र वर्णन प्राप्त होता है, जहाँ, उसे परिवार का मुखिया या समाज के प्रधान व्यक्ति के रूप में परिगणित किया गया है। स्वामित्व का भाव, प्रजापालक राष्ट्र प्रधान के रूप में भी वर्णन प्राप्त होता है।

इस संबंध में बलदेव उपाध्याय लिखते हैं - ऋग्वेद के चतुर्थांश सूक्तों में केवल इन्द्र की स्तुति है। इसका मुख्य कारण यह है कि यह वैदिक आर्यों का जातीयदेवता है। उसके भौतिक रूप का वर्णन उपमा तथा अन्य अलंकार कीसहायता से बड़ी सुन्दरता से किया गया है। उसके शरीर के भिन्न- भिन्न अवयवों का बहुशः निर्देश मिलता है। सोमपान से वह अपने पेट भरता है। वह स्वयं भूरे रंग का ‡ हरि‡ है तथा उसके बाल और दाढ़ी भी भूरी हैं। उसका शरीर बड़ा ही गठीला तथा बलशाली है, उनकी ठुड्डी ‡ हनु‡ बड़ी ही सुन्दर कुम सुशिप्र है।

इसीप्रकार इन्द्र के प्रत्येक शरीरावयव तथा उपाधियों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। मैकडोनल महोदय ने अपनी पुस्तक " वैदिक देव-शास्त्र" में इन्द्र के शारीरिक रूप का विशद वर्णन किया है। वैदिक वाङ्मय में इन्द्र भारतीयों का प्रियतम राष्ट्रीय देवता है। इसकी महत्ता के परिचायक लगभग 250 ऋ0 सूक्त हैं, जिनमें सिर्फ इन्द्र का ही वर्णन है। यह संख्या अन्य किसी भी देवता सम्बन्धी मन्त्रों से सर्वाधिक है और ऋग्वैदिक सूक्तों की समस्त सूक्त संख्या का चतुर्थांश है। अन्य देवताओं के साथ भी इन्द्र का स्तवन हुआ है, यदि इन मन्त्रों को भी सम्मिलित कर लिया जाय, तो यह संख्या 300 सूक्तों के लगभग हो जायेगी।

प्रथमत: इन्द्र को विद्युत् देवता के रूप में स्थान प्राप्त हुआ होगा। अवर्षा एवं अन्धकार रूपी राक्षसपर विजय पाना , जल को प्रवाहित करना, प्रकाश को प्रसारित करना, इत्यादि इन्द्र के गाथात्मक तत्व हैं । गौणरूप से इन्द्र को युद्ध का देवता माना गया है । वे आर्यों की युद्ध में सहायता करते हैं ।

इन्द्र को " वज्रबाहु:" कहकर उसे शस्त्र विशेष का संकेत है, जिससे वह दुर्धर्ष, विरोधी, असुरों का संहार करता है । उसने शत्रुओं की पुरीदुर्ग से परिवेष्टित नगरों को ध्वस्त कर दिया । उसके बल का वर्णन सात अश्वों के द्वारा वश में आने वाले बैल से किया गया है[क] ।

इन्द्र के वज्र के बारे में एक आख्यान है कि इसे त्वष्टा ने लोहे से बनाया , जो सुनहला, भूरा, तीक्ष्ण तथा अनेक सिर वाला और {हरि} के द्वारा खीचे गए सुनहले रथ पर बैठकर इन्द्र के युद्ध करने का वर्णन प्राप्त होता है[ख] ।

ऋ0के एक पूरे सूक्त में इन्द्र के सोमपान का वर्णन है[ग] । इन्द्र के पिता के रूप में द्यौ तथा पत्नी इन्द्राणी का उल्लेख है । अनेक देवों के साथ संयुक्त रूप से भी निर्दिष्ट है । मुख्यत: मरूतों, अग्नि तथा वरूण के साथ । उसकी शक्ति अतुलनीय है । जिसे न तो मनुष्य, न देव प्राप्त करसके ।

क- वृषभ: । सप्तरश्मि: । द्रष्टव्य:- डा0 उप्रेती,"वेद में इन्द्र" पृ0-7 ।
ख- रथेष्ठा: ।
ग- ऋ0 10/119

इसी विशिष्टता के कारण वह शचीपति तथा शक्र (जल का अध्यक्ष) शचीवस्
तथा शतक्रतु (सौ व्यक्तियों से सम्पन्न) इत्यादि उपाधियों का अधिकारी है।[क]

यह वर्णन मन्त्रों के प्रतीयमान अर्थों के आधार पर किया गया है।
उदाहरणार्थ-इन्द्र के लिए हरिशब्द का विशेष्य या विशेषण के रूप में वर्णन
वर्णन मात्र इन्द्र के भूरे रङ्ग को बताने हेतु किया गया है और यही अर्थ
उपयुक्त है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जासकता । क्योंकि निरुक्त, ब्राह्मण
वेद के प्राचीन भाष्यकार हरि शब्द का विविध अर्थ करते हैं । यथा–

वेद के प्राचीन भाष्यकार हरि शब्द का अर्थ 'रस के हरण करने वाला'
'सप्तरश्मि-का तात्पर्य 'सात प्रकार की रश्मियों वाला' 'सूर्य' तथा 'सोमपाः'
का अर्थ-'उत्पन्न जगत् की रक्षा करने वाला,' विविध रसों का किरणों
द्वारा पान करने वाला, इत्यादि करते हैं । अतः सौगतत्वायह कहना कठिन
है कि पूर्वोक्त आकृति तथा गुणों का वर्णन शब्दानुसारी होते हुये भी तात्त्विक
है या यथार्थ है ?

आकृति सम्बन्धी यास्कीय मत –

निरुक्त एवं बृहद्देवता का अध्ययन आकृतिपरक रहस्य को समझने
में सहायक सिद्ध होगा । निरुक्त के दैवत काण्ड में उसका विस्तृत विवेचन है-
निरुक्त 7·2·6 में देवताओं के आकार के प्रश्न पर उत्प्रेक्षा प्रस्तुत की गई
है कि कुछ विद्वानों के अनुसार देवता भी पुरुषों की भाँति शरीरधारी
हुआ करते हैं, क्योंकि जिस प्रकार देहधारी मनुष्यादि की स्तुति (गुणादि

क· वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, काशी, 1967 ई0पृ0-498-99, बलदेव
उपाध्याय ।

का वर्णन (हो सकती है, उसी प्रकार उन देवताओं की भी स्तुति की जाती है। उनके पुरुष के समान अङ्गों का नाम लेकर मन्त्रों में स्तुति की गई है । यथा-[क] इस उदाहरण में ऋषि शंयु तथा प्रतिपाद्य विषय देवता इन्द्र है । मन्त्र में उत्तरार्द्ध भाग में वर्णित है कि हे इन्द्र, तेरे विशाल बाहु शत्रुओं को विदलित करने वाले और हमारे लिए शरण, आश्रयणीय हैं, जिनके निकट हम रहा करें । इसी प्रकार ऋ0 के ही दूसरे[ख] मन्त्र में इस प्रकार का इन्द्र परक वर्णन प्राप्त होता है । इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र तथा देवता इन्द्र है । इसके अन्तिम पाद में कहा गया है कि - हे इन्द्र, जो तुम्हारी मुट्ठी ने बटोर लिया - इस कथन द्वारा मुष्टि को इन्द्र का अङ्ग शरीरावयव रूप में वर्णन माना गया है । ये सब बाहु या काशि (मुष्टि) मनुष्य शरीर के अवयववत् ही इन्द्र के शरीर में वर्णित हैं । इन दो उदाहरणों से ज्ञात होता है कि मनुष्य शरीरवत् ही इन्द्रादि देवता के शरीर की भी कल्पना मन्त्रों में विद्यमान है । (पूर्वपक्ष)

एक अन्य कारण भी इन्द्रादिदेवताओं के पुरुषविधित्व में परिगणित है और वह यह है कि जिस प्रकार सामान्य पुरुषों के स्नेही जन होते

क॰ उरुं नो लोकमनुनेषि विद्वान् स्वर्ज्योतिरभयं स्वस्ति ।
ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप स्थेयाम शरणा बृहन्ता ।। (ऋ0 4·7·31·3

ख॰ उताभये पुरुहूत श्रवोभिरेको दृळहमवदो वृत्रहा सन् ।
इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत्संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते ।।

(ऋ0-3·2·1·5·)

हैं, तथा सवारियाँ, प्रसाधन होते हैं, वैसे ही देवताओं के भी[क]। इस मन्त्र का देवता इन्द्र एवं ऋषि गृत्समद है। इन्द्र को सम्बोधित करते हुए वर्णन है कि हे इन्द्र! वाहे दो (अश्व) हरि हों, आप इन्हीं को रथ में जोड़कर आ जाइये। यदि चार हो या छः अथवा आठ या दश, जितने भी उपलब्ध हों, उनके साथ शीघ्र ही सोमपान हेतु आइये, किन्तु युद्ध मत कीजिए।

इस मन्त्र में स्पष्ट वर्णन है कि मनुष्यों के समान ही इन्द्र के पास भी सवारी हेतु रथ है, तथा इसमें हरि नामक अश्व जोते जाते हैं। इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में सोमपा इन्द्र के स्नेहीजनों का वर्णन है[ख]। इस उदाहरण में कहा गया है कि - "हे इन्द्र! आपने सोम पी लिया है, अब घर चलिए, क्यों कि घर में कल्याणी स्त्रियाँ, बड़ी रथशाला, युद्ध में विजयी घोड़ों की शाला और दक्षिणायुक्त रमणीय वस्तुएं विद्यमान हैं।"

उक्त उदाहरणों से पुष्टि हो जाती है कि मनुष्य की भाँति इन्द्र भी इन वस्तुओं घर, वाहन, रथ, स्त्री, आदि से सम्बन्धित हैं। अतः उसका पुरुषविधत्व स्पष्ट ही है। (पूर्व पक्ष)

मनुष्यवद् ~~कर्म~~ कर्मों से भी देवता प्रशंसित होते हैं। यथा -

---

क. आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः।
आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः।। (ऋ0 2·18·4)

ख. अपाः सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते।
यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत्।।
(ऋ0 3·3·20·1)

इदं हविर्मघवन् तुभ्यं रातं प्रति सम्राड्हृणानो गृभाय ।
तुभ्यं सुतो मघवन् तुभ्यं पक्वोऽद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य ।। ऋ0 8/6 21/2

प्रस्तुत मन्त्र में वर्णित है कि "हे इन्द्र ! आपके लिये यह हवि दी गई है, जिसे निः संकोच रूपसे आप ग्रहण कीजिए । हे इन्द्र, आपके लिए सोमरस भी तैयार किया गया है, जिसे आप पीजिए, आप ही के लिए यह पुरोडाश पकाया गया है, जिसे आप खाइये । एक अन्य मन्त्र में सुनने हेतु प्रार्थना की गई है ।[क] अर्थात् हे इन्द्र, अप्रतिहतश्रवणशक्ति सम्पन्न देव ! आप हमारे आह्वान को अभिमुख होकर सुनिये, मेरी स्तुतियों को पुरानी ही मानकर धारण कीजिए । आपकी स्तुति में अनुरक्त मुझ स्तावक की स्तुतियों को सुनने की आप प्रतिक्षण कृपा कीजिए ।

उदाहरणों से स्पष्ट है कि देवता भी मनुष्यवत् ही कर्मशील हैं । और इस आधार पर यह स्थिर किया जा सकता है कि शरीर इन्द्रिय एवं विषय ग्रहण की क्षमता एवं कार्य-कारण सम्बन्ध एवं उनका सन्निवेश देवताओं में भी मनुष्य की भाँति ही है । ≬ पूर्वपक्ष ≬

उत्तरपक्ष- निरुक्त[ख] में पूर्वपक्षगत तर्कों का सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त होता है । कुछ आचार्यों के अनुसार देवता पुरुषों (मनुष्यों)के समान नहीं होते, क्योंकि देवता प्रत्यक्ष रूपसे भी पुरुषाकृति तथा गुणकर्मणा भिन्न

क॰ आ श्रुत कर्ण श्रुधी हवं नूचिद्दधिष्व मे गिरः ।
इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम् ।। ऋ0 1·1·20·18≬

ख॰ निरुक्त-7/7

प्रकार के होते हैं, यथा- अग्नि, वायु, आदित्य, पृथ्वी, चन्द्रमा, इत्यादि। उपर्युक्त देवताओं में से एक भी मनुष्याकृति से साम्य नहीं रखता। न तो मनुष्य की भाँति इनके शरीरावयव ही होते हैं। अतः स्पष्ट है कि अदृष्ट इन्द्रादि देवताओं को भी मनुष्य की आकृति से भिन्नाकृति वाला मानना उचित ही है।

विचारणीय तथ्य यह है कि पूर्वपक्ष ने जो कहा है कि पुरुष विध-स्तुति, पुरुष विध शरीरावयव तथा पुरुषविध कर्मों का वर्णन होने से इन्द्रादि देवता पुरुषवत् भी हो सकते हैं, तो उसकी संगति इस तर्क से कैसे लगाई जाय कि वे सर्वथा मनुष्यों से भिन्न हैं? इसका सन्तोषजनक उत्तर यास्क ने दिया है कि इसमें असंगति जैसी कोई बात नहीं है। क्योंकि अचेतन पदार्थ जैसे ग्रावा (पत्थर) सिन्धु (नदी या समुद्र) आदि की भी चेतनवत् (पुरुषवत्) स्तुतियाँ वेद में प्राप्त होती हैं और उसके आधार पर यह तर्क नहीं प्रस्तुत किया जा सकता है कि अचेतन ग्रावा, अक्ष, सिन्धु, आदि भी पुरुषवत् आकार वाले समान गुणकर्मवाले होते हैं। इसी तथ्यपूर्ण आधार पर इन्द्रादि देवताओं की आकृति, गुण एवं कर्म मनुष्याकृति के तुल्य ही है- यह कहना अनुचित है।

वैदिक वाङ्मय की यह अपनी विशिष्ट काव्यशैली है, जिसके माध्यम से अचेतन प्रकृति के रहस्यों का वर्णन मानवीकरण द्वारा सहज एवं सुन्दर रीति से सुगम बनाया गया है। इस बात की पुष्टि हेतु दो मन्त्र और द्रष्टव्य हैं। -

एते वदन्ति शतवत् सहस्रवदभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः।
विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चिद् पूर्वे हविरद्यमाशत ॥

ऋ0-8·4·29·2

इस मन्त्र का ऋषि अर्बुद काद्रवेय और देवता " ग्रावाण: " है ।
मन्त्रार्थ-ये ग्रावा (सोम को कूटने पीसने वाले मूसल पत्थर) अभिषव (कूटाई) करते हुए हरित मुखों से बोल रहे हैं - सौ (जनों) की सी आवाज करके, हजार (जनों, की सी आवाज करके कि हमारे द्वारा अभिषुत सोमरस को पीने हेतु आइये । इस अभिषवन कर्म में उनका मुख सोम से सम्पर्क के कारण हरे रंग का हो गया है । यह उन ग्रावों की व्याप्ति है । इस अर्थ में ग्रावा अग्नि से पूर्व सोम नामक हवि का भक्षण कर लेते हैं ।

ध्यातव्य एवं तथ्यपूर्ण बात यह है कि ग्रावा (पत्थर) का अपना कोई मुख शरीरावयव नहीं होता, किन्तु फिर भी " हरिमुख" की कल्पना की गई है । वस्तुत: वे निष्प्राण होते हैं, फिर भी अभिषवन में होने वाली ध्वनि से बोलने वाली बात स्पष्ट की गई है । यहाँ पर रूपक[क] एवं अतिशयोक्ति[ख] अलंकार से अलंकृत शैली का वैचित्र्य पूर्ण वर्णन है । " ग्रावाण: " यह कारक अनेक क्रियाओं से सम्बद्ध है, अत: दीपकालंकार[ग] का भी उदाहरण कहा जा सकता है । यही प्राचीन वैदिक काव्य का वैशिष्ट्य है ।

इसी प्रकार वाग्वैचित्र्य के द्वारा अभिधावृत्ति से ऐसे प्रयोगों को आलंकारिक मानना ही उपयुक्त है । जिस प्रकार निर्जीव (पत्थर) ग्रावा

क. रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे । विश्वनाथ साहि० दर्पण 10/28

ख. सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते । साहि० दर्पण 10/46 वि०ना०

ग. अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेद् (तदापि दीपकम्) वही 10/49

के मुख, अवयव, उनका बोलना, खाना, पीना, सब क्रियाएं कल्पित हैं, उसी प्रकार भौतिक या अभौतिक, अचेतन या चेतन, देव इन्द्रादि के विषय में भी बाहु, मुष्टि, शरीरावयव वस्तुत: है नहीं, मात्र शैली को वैचित्र्यपूर्ण एवं विशिष्ट बनाने हेतु कल्पित कर लिये गये हैं। निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य का स्पष्ट कथन है " अभिषवे सोमसंयोगमात्रमशनमुपचर्यते ग्राव्णाम् । . . . . न हृद्गुवकात्मिकाया नदा वहन्त्या रथेऽवस्थानं सम्भवति ।-"

अर्थात् अभिषव (सोम रस निकालने) में पत्थरों से सोम का संयोग होना ही ग्रावों का खाना माना जाता है । इसलिए अपुरुषविध ही देवता होते हैं -यह मानना उपयुक्त है ।

यह कहा जाता है कि पुरुषों के समान अङ्गों से स्तुति होने पर देवता पुरुषविध होते हैं । अत: वे (देवता) अपुरुषविध हैं - यही पक्ष उचित है । जो यह कहा जाता है कि पुरुषों के समान द्रव्यों के संयोग से देवताओं की स्तुति होने के कारण वे पुरुषविध है । यह तर्क भी वैसा ही है । अर्थात् औपचारिक और रूपकमात्र है (जिस प्रकार ग्रावा (पत्थर) में मुखादि की कल्पना सत्यतारहित है, अप्रत्यक्ष होने के कारण ग्रावों में भी संगत नहीं होती, केवल रूपकालंकार के माध्यम से यह बाहु, मुष्टि, इत्यादि कार्यों की सिद्धि कल्पना द्वारा उत्पन्न की गई है, उसी प्रकार इन्द्रादि के सम्बन्ध में हरि, रथ, जाया(स्त्री) की स्तुतियाँ भी रूपकालंकार मात्र है ।

एक अन्य मन्त्र में भी नदी स्तुति से वास्तविक (वाच्य) अर्थ नहीं

क. सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं स निषदस्मिन्नाजौ ।
महान् ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिन: ।।
ऋ08·3·7·4

घट सकता, क्योंकि जल से परिपूर्ण बहती हुई नदी रथ पर नहीं बैठ सकती ।

इस मन्त्र का ऋषि सिन्धुक्षित्प्रैयमेध" तथा देवता " नद:" है । मन्त्राशय यह है कि सिन्धु अर्थात् नदी ने लोक सुख का हेतु रथ (गतिशील-जल) को अपने साथ जोड़ा हुआ है । उसका वह रथ" अश्विन्" अर्थात् " अशन" (अन्न) से युक्त है । उस रथ से वह नदी " वाज " (अन्न) को उत्पन्नकरती है । वह इस प्रवहण रूप संग्राम में जहाँ-जहाँ जाती है, वहाँ-वहाँ व्रीहि (धान) आदि पैदा करती चली जाती है (सिंचाई द्वारा), क्योंकि इस मन्त्र का यह उदकरथ अन्नोत्पत्ति का निमित्त है । अत: उत्तम कीर्तिवाली और कल-कल ध्वनिवाली नदी की स्तुति स्तोतागण करते हैं ।

यास्क ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किया है - वह यह कि देवताओं को केवल कर्मात्मा मान लिया जाय, इससे पौरुषविध्यगत दोष भी दूर हो जाएगा । यथा- " अपि वा पुरुष- विधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्यु:,यथा यज्ञो यजमानस्य" अर्थात् पृथ्वी, जल इत्यादि देवता अनुरूषविध हैं, किन्तु कर्मात्मा (निरन्तर गतिशील) हैं, जैसे कि यजमान का यज्ञ कर्मात्मा है । दुर्गाचार्य ने भी स्पष्ट लिखा है कि कोई विद्वान् अधिष्ठात्री देवता को पुरुष के शरीर तुल्य भी मानते हैं।[क]

क. अपि वा पुरुषविधानामेव सताम् पृथिव्यादीनां कर्मात्मानं एते स्यु:, अपुरुषविधा: क्षितिजलादय: । परे तु , अधिष्ठातार: पुरुषविग्रहा: । दुर्ग: निरुक्तटीका-7·2·3,पृ0 -764 ।

इसप्रकार देखा जाय, तो 4 प्रकार का दृष्टिकोण नैरुक्त सम्प्रदाय में प्रचलित है । 1- पुरुषविधता 2, अपुरुषविधता 3· उभयविधता 4· कर्मात्मता । दुर्ग का मत है कि महाभाग्यशालिनी तथा ऐश्वर्यवती होने से देवता में सब कुछ घट सकता है । वह मूर्त, अमूर्त, एकधा, द्विधा, तथा बहुधा हो सकती है । मन्त्रद्रष्टा ऋषि उसे जिस- जिस रूप में अनुभव किये, उसी- उसी रूप में स्तुति किए हैं । इसलिये यह कहना उचित है कि चारों प्रवादों में निर्दोषता एवं यथार्थता विद्यमान है । निन्दा या परिदेवना के रूप में यत्किञ्चिद् इन्द्रादि देव हेतु कहा गया है, वह सब स्तुति रूप में ग्राह्य है[क] ।

क· नानावस्थादर्शनवदाख्यातृणां परिदेवनानिन्दादिष्वपि चेन्द्रादीनां कारकारतस्तद्रूपमवस्थितानां सा सा स्तुतिरेव न निन्दा । उक्तं च हीना न निन्दा स्तुतिरेव सास्या देवान् मर्त्यः सम्यगभिष्टुयात् । क: । दुर्ग: निरुक्तटीका- । 7·2·3 , पृ0-765 ।

(ज)

ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों में वर्णित छन्द -

" ब्राह्मण शब्द " ब्रह्मन् " के व्याख्यापरक ग्रन्थों का नाम है। " ब्रह्म " शब्द स्वयं विविधार्थक है, जिसका एक अर्थ वेदस्थ मन्त्र भी है।[क] वैदिक मन्त्रों का व्याख्यानक होने के कारण " ब्राह्मण" नाम से अभिहित हैं। ब्रह्म शब्द का " यज्ञ" अर्थ भी है। यज्ञ के पूर्णरूपेण परिचायक ब्राह्मण ग्रन्थ ही हैं। इनके बारे में आचार्य ने लिखा है - " एवं ब्राह्मणोऽपि विचार्यमाणे नायों।"[ख] उक्त श्लोक से स्पष्ट हो जायेगा कि ब्राह्मणों का प्रतिपाद्य क्या है -

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण - कल्पना।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु।[ग]

ब्रा० ग्रन्थों में सबसे प्राचीन ब्राह्मण ऐतरेय ब्राह्मण है। इसके रचयिता महिदास ऐतरेय माने जाते हैं।, सायण ने अपने भाष्य में एक कथानक के प्रसंग में उल्लेख किया है, जिसमें इन्हें शूद्रा " इतरा" के पुत्र रूप में वर्णित किया है, किन्तु यह कथा ऐतिहासिक दृष्टि से अमान्य है। अवेस्ता में " ऐथ्रेय" शब्द ऋत्विज का समानार्थक है। कुछ विद्वानों का मत है कि ऐतरेय शब्द भी इसी " ऐथ्रेय" से साम्य रखता है, तथा इसका तात्पर्यार्थ भी ऋत्विज है। ऐत० ब्रा० में 40 अध्याय हैं। 5 अध्यायों के योग की एक पंचिका है, प्रत्येक अध्याय

क. ब्रह्म वै मन्त्रः श०ब्रा०-7·1·1·5
ख. द्रष्टव्य - निरु० टी०-3·11·, 2·17
ग. द्रष्टव्य - शाबर भाष्य-2·1·33

कण्डिका में विभक्त है । पूरे ऐतरेय के 40 अध्याय, 8 पंचिका, 285 कण्डिकाएं हैं । पूरे ग्रन्थ का आख्यान गद्यात्मक है । ऐतरेय ब्रा0 की कालान्तर में कई शाखाएं हो गईं। यथा- शाकलाचार्य के शिशिर, वाष्कल, सांख्य, वात्स्य, आश्वलायन, नामक 5 शिष्यों का उल्लेख मिलता है । इस ब्रा0 में प्रमुख रूप से ज्योतिष्टोम , अग्निष्टोम, आदि सोमयाग तथा गवामयन, द्वादशाह, आदि अन्य श्रौतयागों में ऋग्वेदस्थ कुछ मन्त्रों का विनियोग एवं प्रयोजन स्पष्ट किया गया है । ब्रा0 ग्रन्थों में विविध यज्ञादि कर्मकाण्ड से सम्बद्ध मन्त्र एवं उनका विनियोग एवं प्रयोजन बताना ही मुख्य उद्देश्य है । इसी प्रसंग में ऋ0 सूक्तों, मन्त्रों एवं देवताओं का भी नामोल्लेख प्राप्त होता है । इन्हीं देवताओं में इन्द्र का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है -

<u>(क) माध्यन्दिन सवन का देवता इन्द्र -</u>

ऐ0ब्रा0 के अनुसार इन्द्र माध्य0 सवन का प्रमुख देवता है । इसका स्थान भी अन्तरिक्ष ही यहाँ भी मान्य है । निरु0 एवं ऋ0 दे0 की भाँति ब्रा0 में भी उसके सहायक रुद्र एवं मरुद्गण वर्णित हैं ।

<u>(ख) इन्द्र की भूलोक - विजय एवं स्वर्गलोक में अमरत्व</u>

एक प्रसंग में स्पष्ट वर्णित है कि इन्द्र महाभिषेक से अभिषिक्त भूलोक को जीत कर स्वर्गलोक में अधिपति होकर रहता है । उस स्वर्ग के बारे में

---

1. क- स होवाचेन्द्रो वै मध्यन्दिनः (ऐ0ब्रा0 6.5.30) माध्यन्दिन सवन इन्द्र देवताकः । सा0ऋ0ब्रा0भा0ऐ0 30.4 , पूना 1931 ई0, पृ0-775
ख- ऐ0ब्रा0 8.3.14
ग- देवा वै यज्ञेन, श्रमेण, तपसाहुतिभिः स्वर्गं लोकमजयन् " ऐ0ब्रा0 2.2.13

भी स्पष्ट कहा है कि देवगण, यज्ञ, श्रम, तप और आहुतियों से जीते हुए होते हैं।[ग] एक अन्य स्थान पर वर्णित है कि स्वर्गलोक पृथ्वी से ऊपर 1000 आश्वीन दूर है।[घ] एक शीघ्रगामी अश्व को दिन भर चलने की दूरी एक आश्वीन कह-लाती है। सत्यव्रत सामश्रमी छः हजार योजन दूरी को एक आश्वीन मानते हैं। इनके द्वारा चन्द्रमा की कक्षा पृथ्वी से दूरी बतायी गई है, और चन्द्र-मण्डल ही स्वर्ग है। किन्तु स्वर्ग से यहाँ तात्पर्य मोक्ष से ज्यादा उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि अमृतत्व मोक्ष है। इन्द्र से अभिप्राय किसी राजा से है।

(ग) इन्द्र द्वारा वृत्र वध एवं वाक् में प्रवेश –

एक मन्त्र में "आ त्वा रथं यथोतये" में इस प्रकार वर्णन है कि – इन्द्र वृत्र को मारकर मैं सम्भवतः इसे नहीं मार पाया – ऐसा समझता हुआ दूर चला गया, जहाँ एक अनुष्टुप् है। वाक् ही अनुष्टुप् है। वह वाक् में प्रविष्ट होकर सो गया। उसे सब प्राणी अलग – अलग ढूँढने लगे। तब पितरों ने उसे वागारम्भ से एक दिन पूर्व पा लिया और देवों ने एक दिन बाद में। इसीलिए अमावस्या के दिन पितरों का कार्य किया जाता है एवं प्रतिपदा में देवों का यज्ञ होता है। तब देवों ने "आ त्वा रथं यथोतये:" इत्यादि मन्त्रों से सोम का अभिषेक किया एवं इन्द्र को अनुष्टुप् के पास से अभिनव प्रदेश की ओर लौटा ले गए।

घ. सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः। ऐ०ब्रा० 8.3.14

ङ. इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानः पराः परावतोऽगच्छत् .... य एवं वेद। ऐ०ब्रा०-3.2.15

पूर्वोक्त आख्यान पुरावृत्त है या अर्थवाद।निश्चित नहीं । यदि इसे पुरावृत्त माना जाय,तो फिर अर्थवाद कैसा ? इस पर सायणाचार्य का कथन परस्पर विरोधी विचार वाला है । किन्तु वस्तुतः या मानना पड़ेगा कि ऐतरेय ब्राह्मणोक्त आख्यान अर्थवाद की दृष्टि से ही लिखा गया है । अन्यथा वृत्रभय से इन्द्र का वायु रूप अनुष्टुप् में प्रवेश करने से क्या तात्पर्य हो सकता है ? इसे प्ररोचनात्मक मानने पर यह कहा जा सकता है कि अनुष्टुप् छन्द वाले इन्द्र देवताक मन्त्र वृत्रघातक अर्थात् पापनाशक हैं । सा० के अनुसार इन्द्र के रक्षक होने से अनुष्टुप् प्रशस्त है । ऐसा प्रतीत होता है, यहाँ इन्द्र का अर्थ जीवात्मा है,जो वायु रूप में व्यक्त होती है । इन्हीं आध्यात्मिक तथ्यों का यज्ञ की विधियों के साथ कोई सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है ।

(घ) इन्द्र का मरुतों (प्राणों) से सम्बन्ध -

एक स्थान पर ऐ० ब्रा० में वर्णन है कि जब इन्द्र ने वृत्र वध किया, तब वृत्र नहीं मर पाया,ऐसा जानकर समस्त देवगण उसे छोड़कर भाग गए । केवल मरुद्गण ही उसे छोड़कर नहीं गए । यहाँ पर मरुतों से तात्पर्य प्राणों से है[क] ।

यह भी अर्थवादात्मक आख्यान है । इसके बारे में सा० ने स्पष्ट लिखा है कि देवगण स्वापि ही मरुत है, अर्थात् सोते समय गतिशील वायु है । सुषुप्तावस्था में समस्त इन्द्रियाँ शान्त रहती है,केवल प्राण श्वास प्रश्वास के रूप में अनवरत गतिशील रहता है[ख] ।

क. ऐ० ब्रा० -3.2.20

ख. सा० भा० ऐ० ब्रा०-3.2.16; पृ०-327

(छ) इन्द्र का विश्वकर्मा पद -

इन्द्र वृत्र हनन हेतु घृतरूप वज्र का प्रयोग करता है।[क] वृत्र हनन इन्द्र का बल पूर्वक कर्म है। इस कर्म के पश्चात् ही इन्द्र विश्वकर्मा बना। प्रजापति भी प्रजा का सृजन करके विश्वकर्मा बन गए। ऐ०ब्रा० से स्पष्ट उल्लेख है कि संवत्सर ही विश्वकर्मा हैं। संवत्सरसत्र में दो रूप वाले पशुओं का आलम्भन करके यजमान संवत्सर रूप में इन्द्र एवं प्रजापति के तादात्म्य में प्रतिष्ठित होता है।[ख]

(ज) द्वादशाह क्रतु में इन्द्र -

द्वादशाह क्रतु, जो नवरात्र तक चलता है "प्रायणीय, उदयनीय, इन दो अतिरात्रों और दशम दिन को छोड़कर (उसमें जहाँ अग्नि प्रथम दिन का देवता होता है, वहाँ इन्द्र दूसरे दिन का देवता होता है।[ग] वस्तुतः इन्द्र से यहाँ तात्पर्य किसी वस्तु से है और उसको क्रतु के द्वितीय दिन से ही क्यों सम्बद्ध किया गया है-यह स्पष्ट नहीं है।[घ]

क. घृतेन हि वज्रेणेन्द्रो वृत्रमहन् । ऐ० ब्रा०-1·4·26

ख. ऐ०ब्रा०-4·3·22

ग. ऐ०ब्रा०-4·5·31

घ. द्रष्टव्य- डा० उप्रेती, "वेद में इन्द्र", पृ०-201

§6§ प्राण एवं वाक् रूप इन्द्र -

इन्द्र एवं वायु संयुक्त रूप से शरीरस्थ "प्राण" एवं "अपान" नामक वायुओं के बोधक होते हैं।

वाणी भी इन्द्र से सम्बद्ध या इन्द्र का ही रूप माना गया है[क]। अन्यत्र भी ब्रा० ग्रन्थों में वाक् एवं उसका ओंकार को भी इन्द्र शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। यथा - "ओम् इतीन्द्रः पाणिनि सर्वे देवाः। तदेतदिन्द्रमेव सर्वेदेवा अनुयन्ति।"[ख] शरीरस्थ इन्द्र सर्वत्र वाणी रूप से ही अभिव्यक्त होता है।

§7§ यज्ञ देव इन्द्र §

"इन्द्रो वै यज्ञ इन्द्रो यज्ञस्य देवता" इस वाक्य से स्पष्ट है कि इन्द्र ही यज्ञ है।यही यज्ञ का देवता है। ऋ०सं० में भी यज्ञ का प्रधान देवता इन्द्र ही है। यद्यपि अग्नि,वरुण,इत्यादि देवता भी समय - समय पर वर्णित हैं[ग]। ऐ०ब्रा० के अनुसार तो इन्द्र विशेषतः सोमयाग का देवता है। तीनों सवनों § प्रातः माध्यन्दिन, एवं सायं काल के यज्ञों§ में उसका ही एकाधिकार है। पुरोडाश के ग्यारह- ग्यारह कपालों से उसी लिए हवि-निर्वाण का विधान है[घ]।

ङ. ऐ०आ०-3·1·2

क. वाग्वैयेन्द्री ऐ०ब्रा०-2·4·26

ख. जै०उ०ब्रा०-2·2·2,लाहौर, 1921 ई०, पृ०-8

ग. ऋ०-8·2·37; ऋ०-2·14·8,ऋ०-5·5·11

घ. ऐ० ब्रा०-2·3·23

इसप्रकार स्पष्ट है कि इन्द्र पद विविध प्रसंगों में विविधार्थ वाचक ऐ०ब्रा० में वर्णित है । समष्टि रूप में परमेश्वर तथा व्यष्टि रूप में राजा, राष्ट्राध्यक्ष, सेनापति, जीवात्मा, वायु, प्राण, वाक्, इत्यादि रूप में पारिभाषित है । मेघरूपी वृत्र को मारने में विद्युत, भौतिक जगत में वायु या आदित्य अध्यात्म में आत्मरूप चेतनतत्व या सद्बुद्धि है, जो अज्ञान या पापरूप समस्त वृत्रों का विनाशक है ।

(2) आरण्यकों में इन्द्र -

ऋग्वैदिक वाङ्मय का एक अङ्ग आरण्यक भी माने जाते हैं । शुक्ल यजुर्वेद का माध्य शाखा के श०ब्रा० का अन्तिम अंश बृहदारण्यक के नाम से ज्ञात है एवं ऐतरेयब्रा० से सम्बद्ध ऐतरेयारण्यक और उससे सम्बद्ध ऐतरेयोपनिषद् भी है । ब्रा० ग्रन्थ वैदिक कर्मकाण्ड का विवेचन करते हैं और आरण्यक अरण्य में पठित होने से आरण्यक कहे जाते हैं। स्वसम्बद्ध वेद एवं उसकी शाखागत आध्यात्मिक एवं आधिदैविक व्याख्या करते हैं ।

(क) महाव्रत -

ऐ० आरण्यक का प्रारम्भ महाव्रत नामक सोम यज्ञ कर्म की व्याख्या से होता है। यहां यज्ञ होता से सम्बद्ध होता है । ऋ० इन्द्र देवता भी इस यज्ञ से सम्बद्ध है । इन्द्र का महाव्रत से क्या सम्बन्ध है ? इसे ग्रन्थकार के ही भाष्य में समझें - " अथ महाव्रतम् । इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा महानभवत् । यन्महानभवत्तन्महाव्रतमभवत्तन्महाव्रतस्य महाव्रतत्वम्[क] ।"

क• ऐ०-1•1•1,पृ०-3

महाव्रत याग, जिसमें सोमपान विशेषात्मक कर्म किया जाता है, मात्र यह भाव अन्तर्निहित होता है कि इन्द्र की भाँति यजमान भी महान् बने। "महाव्रत शब्द के तीन निर्वचन किए गए हैं - (1) महान् इस व्रत से होता है, अतः महाव्रत कहलाता है। (2) महान् देव का व्रत है - अतः महाव्रत है। (3) महान् यह व्रत होता है - अतः महाव्रत कहा जाता है।"[क]

(ड) प्राणात्मक उक्थ रूप इन्द्र -

ऋ० के दो मन्त्रों की व्याख्या करते हुए एक स्थान पर वर्णित है कि हे इन्द्र (प्राण) तुम उक्थ हो, तुम यह सब हो, तुम्हारे हम हैं, तुम हमारे हो। ध्यातव्य है कि ऐतरेयारण्यक का यह प्रकरण शरीराभ्यन्तरवर्ती प्राणतत्त्व का प्रतीक है, जिसमें स्पष्ट रूप से प्राण को उक्थ कहा गया है। अतः यहाँ पर प्राण इन्द्र उक्थ तीनों पदों से एक - एक तत्त्व प्रतिपादित किया गया है।[ख]

(च) सूर्यरूप में बाह्य प्राण एवं शरीरस्थ वायु आन्तर प्राण -

आधिदैविक पक्ष में इन्द्र शब्द से सूर्य अर्थ भी ग्रहीत किया जा सकता है। यह सूर्य ही बाह्यप्राण है।[घ] आदित्य अपने तेज के कारण प्राण नाम से अभिहित है। 'इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा, रुद्रोऽसि परिरक्षिता त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥'[ग]

क• ऐ०आ०-1•1•1, पृ० -3-4

ख• ऐ०- ऐ०आ०भा०-2•1•6, पृ० -124

ग• प्र०उ०-2•9

सा० ने ब्र० के ही एक मन्त्रमें पै०आ० के कथन को और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शरीरान्तर्गत प्राण में यदि कोई भेद है, तो केवल स्थान का भेद है, अन्यथा वे मूलत: एक ही है । एक शरीर में प्राण वायुरूपेण अन्त:स्थित है, तो दूसरा दृष्टि को प्रेरित करने हेतु आदित्यरूपेण बहि: स्थित है[क] ।

४घ४ प्राणरूप इन्द्र का बृहती एवं अनुष्टुप् रूप –

ब्र० के ही एक मन्त्र में " वायमष्टापदीमर्व नवस्रक्तिमृतावृधम् । इन्द्रात् परि तन्वं ममे[ज] । वर्णित है । पै० आ० में इसकी व्याख्या करते हुए अनुष्टुप् छन्द 32 अक्षर युक्त तथा बृहती 36 अक्षरयुक्त छन्द को इन्द्र के शरीरस्थानी माना है[ग] । सा० भा० में और भी स्पष्ट उल्लेख है कि बृहती छन्द इन्द्रशब्द वाच्य प्राण का शरीररूप है और बृहती के अन्तर्गत अनुष्टुप् का संयोग होने से अनुष्टुप् छन्द भी " इन्द्र " अर्थात् प्राण का शरीरभूत है[घ] ।

४ङ०४ मूल प्रकृति इदन्द्र –

पै० आ० के अनुसार मूलत: इन्द्र शब्द इदन्द्र था । बाद में मध्यवर्ती दकारअकार का लोप होकर इन्द्र बन गया । विद्वानों ने "इन्द्र" शब्द को ही उत्तम मानकर प्रयोग किया एवं इस प्रकार लोक प्रसिद्ध हो गया[ङ] ।

क॰ सा०पै०आ०भा०2•2•1 वही, पृ०–135

ज॰ ब्र०–8•76•12

ग॰ पै०आ०–2•3•6 ४18 वही, पृ०–165•

घ॰ सा०पै०आ०भा०–2•3•6४18 ,वही, पृ०–165

ङ॰ सा०पै०आ० भा०–2•4•3४23४ पृ० –198–99

व्यक्तिगत प्राण के सम्बन्ध में आरण्यककार का स्पष्ट उल्लेख है कि प्राण, अपान, व्यान, उदान, समानात्मक भेदों से शरीर में ही रहता है। प्राण अपान में ही चक्षु, श्रोत्र, मन एवं वाणी, देवतारूप में रहते हैं, जो प्राण के शरीर से बाहर निकलते ही, वे भी साथ ही निकल जाते हैं[घ]।

(घ) इन्द्र विश्वामित्रोपाख्यान –

ऐ०आ० में एक आख्यान वर्णित है, जिसमें ऋषि विश्वामित्र ने महाव्रतीय की स्तुति बृहती छन्द के एक सहस्र मन्त्र से किया। इससे इन्द्र प्रसन्न हुए एवं ऋषिवर के पुनः पुनः तीन बार उन्हीं मन्त्रों के पाठ को पुनरावृत्त करने पर ऋषि द्वारा वर माँगने पर इस प्रकार उत्तर दिया है– ऋषे! प्राण ही मैं हूँ, प्राण ही तुम हो, प्राण ही समस्त प्राणी हैं। प्राण ही वह है, जो तप रहा है। इस प्राणरूप में ही मैं समस्त दिशाओं पर व्याप्त हूँ। ऐसे रूपयुक्त मेरा अन्न मित्र है, दक्षिण(अन्न) है और वही विश्वामित्र द्वारा प्रशंसित गुणवाला है। यह जो तप रहा है, वही मैं हूँ[क]।

इस आख्यान से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि प्राण एक व्यापक तत्त्व है जो पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड में अनुस्यूत है। उसके आकार के बारे में स्पष्ट कहा है कि वह आकारहीन है, सूक्ष्म वायुरूप है।

(ङ) ककारादि की शिक्षा –

पूर्वोक्त प्रकरण में ही प्रवचन है कि इन्द्र ने ककारादि व्यञ्जनों में

घ. वही, 2.3.3(15) पृ०-153-54

क. ऐ०आ० 2.2.3(11) वही, पृ०-141-43

शरीरादि के भाव को ध्यान करने की शिक्षा विश्वामित्र एवं भरद्वाज ऋषियों को दिया।[क] चरक संहिता में किसी इन्द्र नामक आचार्य से भरद्वाज ऋषि का आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण करना वर्णित है, जिसके अनुसार आयुर्वेद के आदि प्रवक्ता ब्रह्मा को, ब्रह्मा ने प्रजापति को, प्रजापति ने अश्विनों को, अश्विनों ने इन्द्र को और इन्द्र ने भरद्वाज ऋषि को, आयुर्वेद का प्रवचन किया था।[ख] हि०सं०पर्व पातञ्जल वैयाकरण म०भा० में भी एक इन्द्र नामक आचार्य का उल्लेख है। उनका सम्प्रदाय ऐन्द्र व्याकरण सम्प्रदाय नाम से प्रसिद्ध है।[ग]

ऐ० आरण्यक का तथ्यतः अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इन्द्र नामक कोई ऐतिहासिक पुरुष अवश्य रहा होगा, जिसका पूर्वोक्त प्रकरणों में उल्लेख है, किन्तु यह तथ्य ध्यातव्य है कि ऐ० इन्द्र पुरुष या व्यक्ति न होकर कुछ अन्य रूप में ही व्याप्त है। स्थूल रूप में वह आधिभौतिक जगत का स्वामी एवं सूक्ष्म रूप में सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर, ब्रह्मा, पुरुष, स्रष्टा, इत्यादि रूप में स्तुत है।

§3§ ऐतरेयोपनिषद -

आरण्यक के अन्तिम भाग रूप उपनिषदें "प्रमाण्य हैं"। ऐ०आ०का अपना उपनिषद् है। ऐ० आ० के चतुर्थ पंचम एवं षष्ठ अध्याय ही ऐ०उप० के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अध्याय के नाम से प्रसिद्ध हैं। शब्द एवं अर्थ की दृष्टि से उनमें कोई अन्तर नहीं है, दोनों की प्रतिपाद्य विषय-वस्तु एक ही है। ऐसा कुछ भी उपनिषदों में अतिरिक्त नहीं कहा गया है, जो ऐ०आ० में न हो।

क॰ ऐ०आ०२·२·४§1§ वही, पृ०-143-44
ख॰ चरक संहिता, सूत्रस्थान, अध्याय-1, श्लोक3-5
ग वही श्लोक-19-23

(4) शांखायन ब्राह्मण -

शांखायन एवं कौषीतकि ब्रा० ऋ० ब्रा० में अन्य उपलब्ध ब्रा० हैं। इसमें दर्शपौर्णमास, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य, वरुण, प्रवास, अभिषेक, इत्यादि कर्मकाण्डीय तथ्यों के साथ वै० देवताओं के याज्ञिक उपयोग का भी वर्णन है।

(क) वाणी ही इन्द्र -

प्राण, अपान " श्वास प्रश्वास (की क्रियाओं को जो कहा गया है कि वाणी से यह व्यवहार होता है, अतः प्राण अपान दोनों का विलय वाणी में होता है। ये दोनों वाङ्मय वाणी के रूप माने जाते हैं। इसी प्रकार चक्षु से जो (पुरुष) देखता है, तो आँख नहीं कहती कि मैंने इसे देखा, किन्तु वाणी ही कहती है कि आँख देखती है। एवं चक्षु वाणी में विलीन होकर वाङ्मय हो जाती है।

इस प्रकार श्रोत्र, मन, शरीर के अन्य अङ्ग हस्तपादादि सबकी अभिव्यक्ति वाणी से ही होती है। अतः यह सब कुछ वाङ्मय ही जाता है। यही अभिव्यक्ति प्रस्तुत उद्धरण में भी है। इन्द्र के बिना कोई धाम (नाम स्थान या जन्म) शुद्ध नहीं होता। अतः वाणी ही इन्द्र है।[क]

(ख) त्रैष्टुभ इन्द्र एवं हिंकार रूप वज्र -

सामिधेनी ऋचाओं का हिंकार के साथ स्वस्त्ययन किया जाता है।

क. सोऽयं पुरुषो यः प्राणिति वाऽपानिति वा न तद् प्राणेन नापानेनाभिवदति... स वै सर्वं ब्रवीति" शां०ब्रा०, अध्याय-2, खण्ड-7, पूना, 1911 ई०, पृ०-5।

यह विकार ही 』 वज्र है । इसी से यजमान का पापक्षय होता है । तीन बार उच्चरित किया जाता है, क्योंकि वज्र भी त्रिवृत् होता है। एक अन्य प्रकरण में वर्णित है कि पंचदश सामिधेनी ऋचाएँ भी वज्र हैं। इसी से यजमान का पाप नष्ट होता है । अतः ऋ0 में "इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्" इत्यादि सूक्त भी वज्र हैं, जिनसे यजमान के पाप नष्ट होते हैं[क] ।

(ग) पौर्णमासेष्टि एवं दर्शेष्टि से वृत्र हनन –

ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि इन्द्र ने पौर्णमासी में वृत्र को मारने हेतु आज्यभाग से वृत्रहनन किया । अमावस्या ही वृत्रहत्या है, जबकि चन्द्रमा क्षीणकला वाला हो जाता है। अमावस्या सम्बन्धी दो भाग, जो चन्द्रमा को वर्द्धित करते हैं, अतः "वृधन्वन्तौ" अभिहित हैं । श0ब्रा0 में भी ऐसा ही उल्लेख है ।

(घ) पौर्णमास में इन्द्र, अग्नि एवं सोम तथा अमावस्या में इन्द्राग्नी के यजन का हेतु (1) प्रथम कारण है कि अग्नि देवों का मुख है, मुख से यजमान हवि देता है। (2) पौर्णमासी में अग्नीषोम के यजन का हेतु यह है कि अग्नि एवं सोम वृत्र के भीतर रहते थे, उनको मारने में इन्द्र असमर्थ रहा । अतः पौर्णमास भाग की कल्पना की । वे दोनों उपांशु निष्कल होते हैं । मौन यज्ञ से सोम को तृप्त करता है एवं मन्त्रोच्चारपूर्वक यज्ञ से अग्नि को ।

क• ऋ0-1•32

अमावस्या में चन्द्राग्नी के यजन का हेतु यह है कि ये दोनों प्रतिष्ठा हैं। अमावस्या में चन्द्र सम्माय ऋवि विशेष से यजन करता है, क्योंकि चन्द्र की ज्योति है और वही अमावस्या है। इनमें चन्द्रमा दृष्टिगत नहीं होता है। इस विवरण से स्पष्ट है कि सूर्य की किरण जो चन्द्रमा को प्रकाशित करती है, वह चन्द्र शब्द से अभिहित है।

ऊ॰ चन्द्र के साथ मरुतों का यजन -

चन्द्र के साथ विचरण करने वाले मरूत सान्तपन सूर्य किरणें चन्द्र हैं, उनके साथ गर्म होकर तपाने वाले वायु भी सान्तपन हैं और क्रीडी क्रीडा करने वाले, तरंगित होने वाले। हैं, अतः चन्द्र के साथ मरुतों का भी यजन होता है।

ऋ॰ जोतिष्ठ, वलिष्ठ, ब्रह्म रूप चन्द्र -

समस्त देवगणों में चन्द्र को सर्वाधिक ओजवाला, बलवाला एवं ब्रह्म माना गया है। वेद से चन्द्र की उपासना शास्त्र की जाती है, अतः चन्द्र ही ब्रह्म है। तैंतीस देवगणों में 9 वसु, 11 रुद्र, 12 आदित्य तथा बत्तीसवाँ इन्द्र एवं तैंतीसवाँ प्रजापति है। इन्हें पशुभाजन अभिहित किया गया है। क्योंकि ये पशु- आलम्बन में प्रसन्न रहते हैं। इस प्रकार सर्वव्यापक परमेश्वर एवं तद्व्यापिका शक्ति विद्युत का "चन्द्र" शब्द से उल्लेख किया गया है।

श॰ ब्रा॰ में चन्द्र को प्रतीक रूप में व्यक्त किया गया है।

क ख ग घ
मन ही चन्द्र है, वाणी ही चन्द्र है, अश्व ही चन्द्र है, वृषा ही चन्द्र है।
ङ
चन्द्र ही वृषभ है। इस प्रकार चन्द्र का विविधरूप प्राप्त होता है।

§5§ शांखायनारण्यक –

इसमें ऋग्वेद: मन्त्र ऋ0 के शाकलसंहिता में वर्णित हैं। ऐसे भी कुछ मन्त्र हैं, जो शाकल संहिता में नहीं मिलते हैं। शांखायन संहिता अब अप्राप्य है। अतः सम्भव है, ये ऋ0 शांखायन संहिता में रहे हों। इस आरण्यक का भी प्रारम्भ" महाव्रत" के नाम से होता है। उसी महाव्रत को शांखायन आरण्यक में प्रजापति संवत्सर तथा चन्द्र की आत्मा माना गया है।

§क§ पशुओं में वृषभ चन्द्र –

"वृषभ" शब्द बलवत्ता एवं वीर्यसेचनसमर्थता का प्रतीक है। वेद में "पश्यतीति पशुः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसके पास विशिष्ट दृष्टि है। अतः वह नानारूपधारी जीवमात्रका बोधक भी कहा गया है। " अथो एतदेव पशुश्चेन्द्रं रूपं यदृषभः। " इस वाक्य के अनुसार पशुओं में वृषभ रूप चन्द्र वर्णित है।

क. मनो वा चन्द्रः § शा0ब्रा0-12·8, वही, पृ0-44।

ख. वाग्वा चन्द्रः§ वही, 13·5, पृ0-46§

ग. चन्द्रो वा अश्वः§ वही, 15·4, पृ0-53।

घ. वृषा वा चन्द्रो वृषा विष्णुः, 21·3 पृ0-72।

ङ. वही, 18·9 पृ0-65।

च. विविक्तरूपाः नानारूपा उपस्थाम्नातारूपाः पशवो जानाना:।
ऋ0 वे0-14·2·25

(ख) शां० आ० में विश्वामित्र उपाख्यान –

ऐ०आ० की भाँति ही यहाँ भी वर्णन है। शां०आ० में इस प्रकार उल्लेख है-प्रसिद्ध है कि विश्वामित्र (मन्त्रस्तुति) शस्त्र तथा व्रतचर्या द्वारा इन्द्र धाम पहुँच गए। तब इन्द्र विश्वामित्र से वर माँगने हेतु कहे। तीन बार पूछने पर भी "तुम्हें जानना है बस" यही उत्तर दिया। तब इन्द्र ने कहा मैं महती पुरुष शक्ति एवं महती स्त्रीशक्ति हूँ, देव और देवी हूँ, ब्रह्म और ब्रह्माणी हूँ। यह जो मैंने कहा, वही मैं हूँ" यदि तुम इससे अधिक तप करोगे, तो वही बन जाओगे, जो मैं हूँ।

इस उपाख्यान द्वारा वर्णित है कि उपास्य के गुणों का उपासक में कतिपय समावेश सम्भव है। अन्य आरण्यकों की भाँति यहाँ भी प्राण को इन्द्र माना गया है, एवं विभु व्यापक रूप में उल्लिखित है। प्रजापति के द्वारा पुरुष का सृजन करने पर उसमें ब्रह्माण्डस्थ विविध देवों को उसमें प्रविष्ट कराया। यथा – वाणी में अग्नि, प्राण में वायु, अपान में विद्युत, उदान में पर्जन्य, चक्षु में आदित्य, मनमें चन्द्रमा, कर्ण में दिशाएँ, शरीर में पृथ्वी, वीर्य में जल, बल में इन्द्र, मन्यु में ईश्वर, मूर्धा में आकाश एवं आत्मा में ब्रह्म को प्रवेश कराया। अमृत घट की सदृश इन देवों के द्वारा यह जीव शरीर भी वर्द्धित होता तथा कर्मशील होता रहता है[ख]।

क. विश्वामित्रो ह वा इन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम शस्त्रेण च व्रतचर्यया च। तं हेन्द्र उवाच विश्वामित्र वरं वृणीष्वेति .... तपस्तेव तद् स्याद् यदहमस्मि ॥ शां०आ०-1.6, पृ०3

ख. शां०आ०-11.1 वही, पृ०-39

इस उद्धरण में इन्द्र को जल माना गया है । आजकल यही जल ऊर्जा नाम से अभिहित है । वैदिक साहि० में ऐन्द्रशक्ति रूप में वर्णित है । शा० आ० के अनुसार "जले मे इन्द्रः प्रतिष्ठितो जलं हृदये हृदयमात्मनि" वर्णित है अर्थात् इन्द्र जल में, जल हृदय में और हृदय आत्मा (शरीर) में प्रतिष्ठित रहता है[क] ।

(७) कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् –

इस ग्रन्थ में भी प्राणोपासना वर्णित है । कौ० ब्रा० उपनि० के तृतीयाध्याय में दैवोदासि प्रतर्दन और इन्द्र का संवाद कुछ परिवर्तन के साथ लगभग वही है, जो शा० आ० के अध्याय 5 वें खण्ड 1-2 में वर्णित है । दोनों स्थानों पर प्रज्ञात्मा प्राण के रूप में एवं सत्यस्वरूप इन्द्र के मुख से वर्णित किया गया है[ख] । इस उप० में भी इन्द्र को सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है ।

इस उप० में इन्द्रलोक का वर्णन है । यह इन्द्र लोक सूर्य या अन्तरिक्ष से परे द्युलोक में स्थित विद्युन्मय लोक हो सकता है । क्योंकि इन्द्र नाम विद्युत् का भी है । सूर्य एवं वायु भी इन्द्रपदवाच्य है, किन्तु उनका यहाँ वर्णन नहीं है ।

क. शा०आ०-11·6, वही, पृ०-41

ख. कौ० ब्रा० उ०-3·1·2

ग. कौ० ब्रा० उ०-1-3

अन्ततोगत्वा स्पष्ट हो गया कि ऋ० में ही नहीं, अपितु परवर्ती ग्रन्थों ब्रा०, आ०, उप० में भी इन्द्र का विविध रूप ही वर्णित है। कोई एक नाम देना असम्भव सा प्रतीत होता है। सूक्ष्म रूप एवं स्थूल रूप वाली धारणा भी सर्वत्र झलकती है। स्थूल रूप में ऋषियों ने उसको भौतिक स्वरूप युक्त अभिव्यक्त किया है, तथा सूक्ष्म रूप में तो सर्वव्यापक है।

द्वितीय अध्याय

इन्द्र सूक्त एवं उनका हिन्दी अनुवाद 140 – 284

ऋग्वेद प्रथम मण्डल, सूक्त 28

मन्त्र - यत्र ग्रावा पृथुबुध्न उर्ध्वो भवति सोतवे ।
उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुल: ।। 1 ।।

पदपाठ- यत्र । ग्रावा । पृथुऽबुध्नः । उर्ध्वः । भवति । सोतवे ।
उलूखलऽसुतानाम् । अव । इत् । ऊँ इति । इन्द्र । जल्गुल: ।। 1 ।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र । जहाँ सोमरस चुवाने के लिए विस्तृत मूल वाला पत्थर ऊपर उठाया जाता है, (उस) ओखल से निचोड़े गए सोमरस का आप भक्षण करें ।

मन्त्र - यत्र द्वाविव जघनाधिषवण्या कृता ।
उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुल: ।। 2 ।।

पदपाठ - यत्र । द्वौऽइव । जघना । अधिऽसवन्या । कृता ।
उलूखलऽसुतानाम् । अव । इत् । ऊँ इति । इन्द्र । जल्गुल: ।।2 ।।

मन्त्रार्थ - हे इन्द्र । जहाँ (जिस कर्म में) सोम कूटने वाले दो फलक (पत्थर) दो जंघाओं की भाँति फैलाकर रखे होते हैं (वहाँ) ओखल से निचोड़े गए सोमरस को अपना समझकर भक्षण करें ।

मन्त्र - यत्र नार्यपच्यवमुपच्यवं च शिक्षते ।
उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः ॥ 3 ॥

पदपाठ - यत्र । नारी । अपऽच्यवम् । उपऽच्यवम् । च शिक्षते ।
उलूखलऽसुतानाम् । अवं । इत् । ऊँ इति । इन्द्र । जल्गुलः ।

मन्त्रार्थ - जहाँ (जिस कर्म में) यजमान को पत्नी दूर स्थित रहने तथा पास स्थित रहने की शिक्षा पाती है, वहाँ ओखल से निचोड़ा गया सोमरस अपना समझकर भक्षण करो ।

मन्त्र - यत्र मन्थां विबध्नते रश्मीन्यमितवा इव ।
उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः ॥ 4 ॥

पदपाठ - यत्र । मन्थाम् । विऽबध्नते । रश्मीन् । यमितवैऽइव ।
उलूखलऽसुतानाम् । अवं । इत् । ऊँ इति । इन्द्र । जल्गुलः ॥

मन्त्रार्थ - जहाँ मन्थ दण्ड (मथानी) लगाम पकड़ने की तरह (अर्थात् नियोजन हेतु प्रग्रह की भाँति) बाँधा जाता है, वहाँ ओखल से निचोड़ा गया सोमरस अपना समझकर भक्षण करो ।

मन्त्र - यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे ।
इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः ॥ 5 ॥

पदपाठ - यत् । चित् । हि । त्वम् । गृहेऽगृहे । उलूखलक । युज्यसे ।
इह । द्युमत्ऽतमम् । वद । जयताम्ऽइव । दुन्दुभिः ॥ 5 ॥

मन्त्रार्थ - हे ओखल ! यद्यपि निश्चय ही तुम्हें घर-घर में ‡काम लिया जाता है अर्थात् कूटने के लिए प्रयोग किया जाता है‡ जोड़ा जाता है ‡तथापि, ‡इस वैदिक कर्म विशेष में ‡ विजयी लोगों की ढोल के सदृश ‡तुम‡ प्रभूत उच्च स्वर वाली ध्वनि बोलो ।

मन्त्र - उत स्म ते वनस्पते वातो वि वात्यग्रमित् ।
अथो इन्द्राय पातवे सुनु सोममुलूखल ।। 6 ।।

पदपाठ - उत । स्म । ते । वनस्पते । वातः । वि । वाति । अग्रम् । इत् ।
अथो इति । इन्द्राय पातवे सुनु । सोमम् । उलूखल ।। 6 ।।

मन्त्रार्थ - हे वनस्पते ! तुम्हारे सामने वायु बहती है । हे ओखल ! अब इन्द्र के पीने हेतु सोम ‡लता का रस ‡ निचोड़ो ।

मन्त्र - आयजी वाजसातमा ता ह्युच्चा विजर्भृतः ।
हरी इवान्धांसि बप्सता ।। 7 ।।

पदपाठ - आयजी इत्याऽयजी । वाजऽसातमा । ता । हि । उच्चा । विऽजर्भृतः ।
हरी इवेति हरीऽइव । अन्धांसि । बप्सता ।। 7 ।।

मन्त्रार्थ - ‡हे उलूखलमुसल: !‡ यज्ञ के साधन, अन्न दायक वे दोनों पत्थर खाद्य खाने वाले इन्द्र के दोनों घोड़ों की भाँति उच्च स्वर से विहार करते हैं ।

मन्त्र - ता नो अद्य वनस्पती ऋष्वावृष्वेभिः सोतृभिः ।
इन्द्राय मधुमत्सुतम् ।। 8 ।।

पदपाठ - ता । नः । अद्य । वनस्पती इति । ऋष्वौ । ऋष्वेभिः । सोतृभिः ।
इन्द्राय । मधुऽमत् । सुतम् ।। 8 ।।

मन्त्रार्थ - आज [इस कर्म में] दर्शनीय उलूखलमुसल दोनों फलक स्तोताओं के साथ इन्द्र के लिए मीठा [मधुर] सोमरस हमारे [यज्ञ में] अभिषुत करें ।

मन्त्र - उच्छिष्टं चम्वोर्भर सोमं पवित्र आ सृज ।
नि धेहि गोरधि त्वचि ।। 9 ।।

पदपाठ - उत् । शिष्टम् । चम्वोः । भर । सोमम् । पवित्रे । आ । सृज ।
नि । धेहि । गोः । अधि । त्वचि ।। 9 ।।

मन्त्रार्थ - दोनों पात्रों से अवशिष्ट रस उठा लो । सोम को छननी के ऊपर रखो, गोचर्म पर रखो ।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल, सूक्त 84

मन्त्र - असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवा गहि ।
आ त्वा पृणक्त्विन्द्रियं रजः सूर्यो न रश्मिभिः ।। 1 ।।

पदपाठ - असावि । सोमः । इन्द्र । ते । शविष्ठ । धृष्णो इति । आ।गहि।
आ । त्वा । पृणक्तु । इन्द्रियम् । रजः । सूर्यः।न ।रश्मिऽभिः ।। 1 ।

मन्त्रार्थ - हे इन्द्र । (यह) सोम तुम्हारे लिए निचोड़ा गया है, हे अत्यन्त बलशाली, शत्रुनाशक (इन्द्र तू) यहाँ आ । सूर्य जैसे किरणों से आकाश को व्याप्ता है, उसी भाँति यह सोमरस तुम्हें आच्छादित करे ।

मन्त्र - इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम् ।
ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम् ।। 2 ।।

पदपाठ - इन्द्रम् । इत् । हरी इति । वहतः अप्रतिधृष्टऽशवसम् ।
ऋषीणाम् । च । स्तुतीः उप । यज्ञम् । च । मानुषाणाम् ।

मन्त्रार्थ - ऋषियों के स्तोत्र और मनुष्यों के यज्ञ के पास अप्रतिहत गति से जाने वाले, बलयुक्त इन्द्र को ही (उसके घोड़े) खींच कर, ढोकर ले जाते हैं ।

मन्त्र - आ तिष्ठ वृत्रहन्रथं युक्ता ब्रह्मणा हरी ।
अर्वाचीनं सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना ।। 3 ।।

पदपाठ - आ । तिष्ठ । वृत्रऽहन् । रथम् । युक्ता । ते। ब्रह्मणा। हरी इति ।
अर्वाचीनम् । सु । ते । मनः । ग्रावा। कृणोतु । वग्नुना ।। 3 ।।

मन्त्रार्थ - हे वृत्रहन्तक इन्द्र । {तुम} रथ पर बैठो । {क्योंकि} स्तोत्र के द्वारा तुम्हारे घोड़े रथ में जोड़ दिए गए हैं । ये {सोम कूटने वाले} पत्थर वाणी से तुम्हारा मन इस ओर आकर्षित करें ।

मन्त्र - इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम् ।
शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन्धारा ऋतस्य सादने ।। 4 ।।

पदपाठ - इमम् । इन्द्र । सुतम् । पिब । ज्येष्ठम् । अमर्त्यम् । मदम् । 7
शुक्रस्य । त्वा । अभि । अक्षरन् । धाराः । ऋतस्य । सदने ।।

मन्त्रार्थ - हे इन्द्र । {तुम} इस अभिषुत श्रेष्ठ, अमर, {रस} को पीयो । यज्ञ स्थल में बलवर्धक सोम की धाराएं तुम्हारी ओर बह रही हैं ।

मन्त्र - इन्द्राय नूनमर्चतोक्थानि च ब्रवीतन ।
सुता अमत्सुरिन्दवो ज्येष्ठं नमस्यता सहः ।। 5 ।।

पदपाठ - इन्द्राय । नूनम् । अर्चत । उक्थानि । च । ब्रवीतन ।
सुताः। अमत्सुः । इन्दवः । ज्येष्ठम् । नमस्यत । सहः ।।

मन्त्रार्थ- {हे ऋत्विक् लोगों} शीघ्र ही इन्द्र के लिए पूजा करो और स्तोत्रों को पढ़ो । ये निचोड़े हुए सोमरस {इन्द्र को} मत्त करें । {अर्थात् तृप्ति प्रदान करें}प्रशस्यतम् बलयुक्त इन्द्र को{तुम}नमस्कार करो ।

मन्त्र - नकिष्टवद्रथीतरो हरी यदिन्द्र यच्छसे ।
नकिष्ट्वानु मज्मना नकिः स्वश्व आनशे ।। 6 ।।

पदपाठ - नकिः । त्वत् । रथिःतरः । हरी इति । यत् । इन्द्र । यच्छसे ।
नकिः । त्वा । अनु । मज्मना । नकिः सुऽअश्वः । आनशे ।।

मन्त्रार्थ - हे इन्द्र । जिस प्रकार (तू अपने) घोड़ों को रथ में (उत्तम रीति से चलाता है) तुझ सदृश श्रेष्ठ रथी कोई नहीं है । बल (की दृष्टि) से भी तुझ सदृश कोई नहीं है । तुझ (सदृश) शोभन अश्व (अर्थात् दूसरा योग्य घुड़सवार) कोई नहीं प्राप्त कर सकता ।

मन्त्र - य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे ।
ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ।। 7 ।।

पदपाठ - यः । एकः । इत् । विऽदयते । वसु । मर्ताय । दाशुषे ।
ईशानः । अप्रतिऽस्कुतः । इन्द्रः । अङ्ग ।।

मन्त्रार्थ -(1)(जिस शासक का कोई शत्रु प्रतिकार नहीं कर सकते, हे प्रिय । (वह) इन्द्र (शीघ्र) अकेला ही दानी मनुष्य हेतु धन देता है ।
(सातवलेकर)

(2) जो इन्द्र अकेले ही हवि देने वाले मनुष्यों हेतु यजमानों के लिए धन देता है । शत्रुरहित (वह) इन्द्र शीघ्र समस्त जगत का स्वामी होता है । (सायणानुसार)

मन्त्र - कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् ।
कदा नः शुश्रवद् गिर इन्द्रो अङ्ग ।। 8 ।।

पदपाठ - कदा । मर्तम् । अराधसम् । पदा । क्षुम्पम्ऽइव । स्फुरत् ।
कदा । नः । शुश्रवत् । गिरः । इन्द्रः । अङ्ग ।।

मन्त्रार्थ - (यह) इन्द्र धनरहित कृपण मनुष्य को पाँव से अहिच्छत्रक की भाँति कब नष्ट कर देगा ? हम (स्तोताओं की) वाणी को (प्रार्थना को) शीघ्रता से कब सुनेगा ?

मन्त्र - यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति ।
उग्रं तत्पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ।। 9 ।।

पदपाठ - यः । चित् । हि । त्वा । बहुभ्यः । आ । सुतऽवान् । आऽविवासति ।
उग्रम् । तत् । पत्यते । शवः । इन्द्रः । अङ्ग ।।

मन्त्रार्थ - (हे इन्द्र) जो (यजमान) अभिषुत सोमयुक्त इन्द्र की ही बहुत देवों में से विशेष परिचर्या करता है । (वह) इन्द्र शीघ्र इसके लिये (यजमान हेतु) उग्र बल प्राप्त कराता है (अर्थात् बलशाली बनाता है) ।

मन्त्र - स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः ।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् ।। 10 ।।

पदपाठ - स्वादोः । इत्था । विषूऽवतः । मध्वः । पिबन्ति । गौर्यः । ।
या: । इन्द्रेण । सऽयावरी: । वृष्णा । मदन्ति । शोभसे ।
वस्वीः । अनु । स्वऽराज्यम् ।। ।0 ।।

मन्त्रार्थ - जो {इन्द्र के} स्वराज्य में ही असने वाली, शोभा हेतु इन्द्र के साथ चलने वाली, सुखद, सोम से आनन्दित होती हैं, वे गौर वर्णयुक्त गाएं इस प्रकार स्वादिष्ट, विशिष्ट रीति से निचोड़े गए मधुर सोमरस का पान करती हैं ।

मन्त्र - ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः ।
प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम् ।। ।1 ।।

पदपाठ - ताः । अस्य । पृशनऽयुवः । सोमम् । श्रीणन्ति । पृश्नयः ।
प्रियाः । इन्द्रस्य । धेनवः । वज्रम् । हिन्वन्ति । सायकम् ।
वस्वीः । अनु । स्वऽराज्यम् ।। ।1 ।।

मन्त्रार्थ - इस इन्द्र की स्वराज्य में असने वाली, स्पर्श की कामना वाली {पूर्वोक्त प्रकार की} वे नाना वर्ण वाली गाएं, सोम को {अपने} दुग्ध से मिश्रित करती हैं । इन्द्र की प्रिय गाएं शत्रुओं का संहारक वज्र {शत्रुओं की तरफ} प्रेरित करती हैं ।

मन्त्र - ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः ।
व्रतान्यस्य सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम् ।। ।2 ।।

पदपाठ - ताः । अस्य । नमसा । सहः । सपर्यन्ति । प्रऽचेतसः ।
व्रतानि । अस्य । सश्चिरे । पुरूणि । पूर्वऽचित्तये । वस्वीः ।
अनु स्वऽराज्यम् ।। 12 ।।

मन्त्रार्थ - प्रकृष्टज्ञान वाली, इन्द्र के ही स्वराज्य में बसने वाली वे गाएं पहले बताने हेतु {वृत्रवधादिकर्मों को} इस इन्द्र के बल की दूध रूपी अन्न से सेवा करती हैं। इस इन्द्र के विविध शत्रुवधादि रूपी वीरकर्मों को जानती हैं।

मन्त्र - इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः ।
जघान नवतीर्नव ।। 13 ।।

पदपाठ - इन्द्रः । दधीचः । अस्थऽभिः । वृत्राणि । अप्रतिऽस्कुतः ।
जघान । नवतीः । नव ।। 13 ।।

मन्त्रार्थ - अप्रतिष्कुत इन्द्र ने दधीचि की अस्थियों के वज्र से निन्यानवे शत्रुओं को मार डाला।

मन्त्र - इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम् ।
तद्विदच्छर्यणावति ।। 14 ।।

पदपाठ - इच्छन् । अश्वस्य । यत् । शिरः । पर्वतेषु । अपऽश्रितम् ।
तत् । विदत् । शर्यणाऽवति ।। 14 ।।

मन्त्रार्थ - {इन्द्र ने} पर्वतों में स्थित जिस घोड़े के सिर को {प्राप्त करने की} इच्छा की, उस को शर्यणावत् तालाब में स्थित} जान लिया।

मन्त्र - अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् ।
इत्था चन्द्रमसो गृहे ।। ।5 ।।

पदपाठ - अत्र । अह । गोः अमन्वत । नाम । त्वष्टुः । अपीच्यम् ।
इत्था । चन्द्रमसः । गृहे ।

मन्त्रार्थ- इसी गतिशील चन्द्रमा के घर में, इस प्रकार सबके निर्माता (सृजनकर्ता)
के गुप्त प्रकाश को जाना ।

मन्त्र - को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् ।
आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून्य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात् ।। ।6 ।।

पदपाठ- कः । अद्य । युङ्क्ते । धुरि । गाः । ऋतस्य । शिमीऽवतः । भामिनः दुःऽहृणायून् ।
आसन्ऽइषून् । हृत्ऽसु असः । मयःऽभून् । यः । एषाम् । भृत्याम् । ऋणधत् । सः जीवात् ।

मन्त्रार्थ- आज ऋत को धुरी में वीर्यकर्मयुक्त, तेजस्वी, अत्यन्त क्रोधी, बाणों को
धारण करने वाले (और) शत्रु के हृदय में उन्हें छोड़ने वाले, सुखदायी
गतिमान (वीरों) को (कौन जोड़ता है ? (नियोजित करता है) ।
जो इनके भरण पोषण को करता है, वह सदा जीवित रहे ।

मन्त्र- क ईषते तुज्यते को बिभाय को मंसते सन्तमिन्द्रं को अन्ति ।
कस्तोकाय क इभायोत रायेऽधि ब्रवत्तन्वे३ को जनाय ।। ।7 ।।

पदपाठ- कः । ईषते । तुज्यते । कः । बिभाय । कः मंसते । सन्तम् । इन्द्रम् । कः । अन्ति ।
कः । तोकाय । कः इभाय । उत । राये । अधि । ब्रवत् । तन्वे । कः । जनाय ।

मन्त्रार्थ- ॥अनुग्रहीत इन्द्र के आने पर॥ कौन ॥शत्रुओं से भयभीत होकर॥ निकलता है ॥अर्थात् कोई नहीं॥ कौन विस्मित होता है ? कौन ॥यजमान॥ भयभीत होता है ?॥इन्द्र के रक्षक होने पर भय नहीं उत्पन्न होता॥ पास में स्थित उस इन्द्र को कौन जानता है ? कौन॥पुरुष॥जानता है ?॥युद्ध में सहायकता हेतु इन्द्र के आने पर ॥कौन॥यजमान॥ पुत्र के लिये, कौन गज के लिए या धन के लिए, शरीर के लिए, कौन परिजन के लिए वक्तृव्य बोधन करता है ?

मन्त्र - को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिः।
कस्मै देवा आ वहानाशु होम को मंसते वीतिहोत्र सुदेवः।। ।8 ।।

पदपाठ- कः । अग्निम्। ईट्टे। हविषा। घृतेन। स्रुचा। यजातै। ऋतुऽभिः। ध्रुवेभिः।
कस्मै देवाः। आ। वहान्। आशु। होम। कः। मंसते। वीतिऽहोत्रः। सुऽदेवः।

मन्त्रार्थ- कौन हवि से "और" घी से अग्नि को पूजा करता है ? नित्य ध्रुव ऋतु और स्रुवा से कौन यज्ञ करता है ? देव किसके लिए होम॥प्रशस्य धन॥ शीघ्र लाते हैं।कौन तेजस्वी॥यजमान॥ शोभनदेव ॥इन्द्र॥ को सम्यक् रूप से जानता है ?

मन्त्र - त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः।। ।9 ।।

पदपाठ- त्वम्। अङ्ग। प्र। शंसिषः। देवः । शविष्ठ ।मर्त्यम् ।
न । त्वत् । अन्यः। मघऽवन्। अस्ति। मर्डिता। इन्द्र। ब्रवीमि। ते। वचः।।

मन्त्रार्थ - हे प्रिय, महान् बलयुक्त इन्द्र । तुम्ह द्योतमान की मरणधर्मा मनुष्य प्रशंसा करते हैं । हे धनवन् इन्द्र । तुम्ह [सदृश] अन्य सुखदाता नहीं है । [इसलिए मैं] आपकी स्तुति करता हूँ ।

मन्त्र - मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान् कदाचना दभन् ।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ ।। 20 ।।

पदपाठ- मा।ते।राधांसि।मा।ते। ऊतयः।वसो इति।अस्मान्।कदा।चन।दभन्।
विश्वा।च।नः।उपऽमिमीहि।मानुष।वसूनि।चर्षणिभ्यः। आ ।।

मन्त्रार्थ- हे सबके निवासक इन्द्र । आपका धन और रक्षाएं हमें कभी नष्ट न करें । मनुष्य के हितचिन्तक इन्द्र, मन्त्रद्रष्टा, आप सम्पूर्ण धन सब ओर से लाकर हमारे समीप करो ।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल, सूक्त संख्या 100

मन्त्र - स यो वृषा वृष्ण्येभिः समोका महो दिवः पृथिव्याश्च सम्राट ।
सतीनसत्वा हव्यो भरेषु मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ।। 1 ।।

पदपाठ- सः।यः।वृषा।वृष्ण्येभिः।समऽओकाः।महः।दिवः।पृथिव्याः।च।सम्ऽराट्।
सतीनऽसत्वा।हव्यः।भरेषु। मरुत्वान्।नः।भवतु। इन्द्रः।ऊती ।।

मन्त्रार्थ- जो {इन्द्र} कामनाओं का पूरक, वीर्यवर्धक, सम्यक् रूप से साथ देने वाला, महान्, द्युलोक का, पृथ्वी का सम्राट है, {वह} जलों का प्रेरक, युद्धों में सहायतार्थ आवाहन करने योग्य, वह मरुत् वीरों से युक्त इन्द्र, हमारी रक्षा के लिए होवे ।

मन्त्र - यस्यानाप्तः सूर्यस्येव यामो भरेभरे वृत्रहा शुष्मो अस्ति ।
वृषन्तमः सखिभिः स्वेभिरेवैर्मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ।। 2 ।।

पदपाठ- यस्य ।अनाप्तः ।सूर्यस्यऽइव।यामः ।भरेऽभरे।वृत्रऽहा ।शुष्मः ।अस्ति ।
वृषन्ऽतमः ।सखिऽभिः ।स्वेभिः ।एवैः।मरुत्वान्।नः ।भवतु।इन्द्रः ।ऊती ।

मन्त्रार्थ- जिस इन्द्र की गति सूर्य की {गति के} समान दूसरों से अप्राप्त है, {अर्थात् सूर्य के समान तीव्र गति कोई प्राप्त नहीं कर सकता {जो} युद्ध में शत्रुओं का हनन करने वाला है, समस्त असुरों का शोषक है, अपने साथ गमनशील मरुतरूपी मित्रों के साथ अत्यन्त बलशाली होता है {वह} मरुत वीरों से युक्त इन्द्र, हमारी रक्षा के लिए होवे ।

मन्त्र - दिवो न यस्य रेतसो दुघानाःपन्थासो यन्ति शवसापरीताः ।
तरद्द्वेषाः सासहिः पौंस्येभिर्मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ।। 3 ।।

पदपाठ- दिवः ।न। यस्य।रेतसः ।दुघानाः ।पन्थासः ।यन्ति।शवसा।अपरिऽइताः।
तरत्ऽद्वेषाः ।ससहिः ।पौंस्येभिः ।मरुत्वान्।नः ।भवतु।इन्द्रः।ऊती ।।

मन्त्रार्थ- जिस (इन्द्र) के स्वाधीन मार्ग द्योतमान सूर्य की किरणों के सदृश बलों को देने वाले हैं, बलपूर्वक आगे जाने वाले हैं, पराक्रमों से द्वेष का नाश करने वाले हैं (और) शत्रु को अभिभूत करने वाले हैं (वह) इन्द्र मरुत वीरों से युक्त हमारी रक्षा हेतु होवे ।

मन्त्र - सो अङ्गिरोभिरङ्गिरस्तमो भूद्वृषा वृषभिः सखिभिः सखा सन् ।
ऋग्मिभिर्ऋग्मी गातुभिर्ज्येष्ठो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ।। 4 ।।

पदपाठ- सः । अङ्गिरःऽभिः । अङ्गिरःऽतमः । भूत् । वृषा । वृषऽभिः । सखिऽभिः । सखा । सन् ।
ऋग्मिऽभिः । ऋग्मी । गातुऽभिः । ज्येष्ठः । मरुत्वान् । नः । भवतु । इन्द्रः । ऊती ।।

मन्त्रार्थ- वह (इन्द्र) अङ्गिरा आदि ऋषियों में पूज्यतम, मित्रों में श्रेष्ठ मित्र, बलवानों में अत्यधिक बलशाली, प्रशंसनीयों की अपेक्षा भी अधिक प्रशंसनीय, स्तोतव्यों में अतिशय स्तोतव्य, श्रेष्ठ है, (ऐसा) मरुत वीरों से युक्त इन्द्र हमारी रक्षा हेतु होवे ।

मन्त्र - स सूनुभिर्न रुद्रेभिर्ऋभ्वा नृषाह्ये सासह्वाँ अमित्रान् ।
सनीळेभिः श्रवस्यानि तूर्वन्मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ।। 5 ।।

पदपाठ- सः । सूनुऽभिः । न रुद्रेभिः । ऋभ्वा । नृऽसह्ये सासह्वान् । अमित्रान् ।
सऽनीळेभिः । श्रवस्यानि । तूर्वन् । मरुत्वान् । नः । भवतु । इन्द्रः । ऊती ।।

मन्त्रार्थ- पुत्रों के समान {प्रिय} रुद्र पुत्र मरुतों से युक्त महान् उस {इन्द्र} ने वीरों के द्वारा सहनीय युद्ध में शत्रुओं को पराजित किया । एक ही घर में रहने वाले मरुतों के साथ मिलकर अन्न को बढ़ाने वाले जलों को, मेघों से नीचे गिराता हुआ, {वह} इन्द्र मरुत् वीरों से युक्त हमारी रक्षा हेतु होवे ।

मन्त्र - स मन्युमीः समदनस्य कर्तास्माकेभिर्नृभिः सूर्यं सनत् ।
अस्मिन्नहन्त्सत्पतिः पुरुहूतो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ।। 6 ।।

पदपाठ- सः । मन्युऽमीः । सऽमदनस्य । कर्ता । अस्माकेभिः । नृभिः । सूर्यम् । सनत् ।
अस्मिन् । अहन् । सत्ऽपतिः । पुरुऽहूतः । मरुत्वान् । नः । भवतु । इन्द्रः । ऊती ।

मन्त्रार्थ- वह {शत्रुओं पर} क्रोध करने वाला, {जहाँ सब मिलकर विजय का आनन्द मनाते हैं ऐसे} युद्ध का कर्ता, सज्जनों का पालक, बहुतों {यजमानों} से प्रशंसित आज ही के दिन, हमारे वीरों के साथ {मिलकर असुर द्वारा छिपाये हुए} सूर्य को प्राप्त करे । मरुतवीरों से युक्त {वह} इन्द्र हमारी रक्षा हेतु होवे ।

मन्त्र - तमूतयो रणयञ्छूरसातौ तं क्षेमस्य क्षितयः कृण्वत त्राम् ।
स विश्वस्य करुणस्येश एको मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ।। 7 ।।

पदपाठ- तम् । ऊतयः । रणयन् । शूरऽसातौ । तम् । क्षेमस्य । क्षितयः । कृण्वत । त्राम् ।
सः । विश्वस्य । करुणस्य । ईशे । एकः । मरुत्वान् । नः । भवतु । इन्द्रः ऊती ।।

मन्त्रार्थ- रक्षकों ने शूर जहाँ धन प्राप्त करते हैं, ऐसे युद्धों में उस {इन्द्र} को हर्षित किया। प्रजाओं ने उसे रक्षणीय धन का रक्षक बनाया। वह {इन्द्र} अकेला ही समस्त उत्तम कर्मों का शासक संचालक है। मरुत-वीरों से युक्त {वह} इन्द्र हमारी रक्षा हेतु होवे ।

मन्त्र - तमप्सन्त शवस उत्सवेषु नरो नरमवसे तं धनाय ।
सो अन्धे चित्तमसि ज्योतिर्विदन्मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ।। 8 ।।

पदपाठ- तम् । अप्सन्त । शवसः । उत्ऽसवेषु । नरः । नरम् । अवसे । तम् । धनाय । ...।
सः । अन्धे । चित् । तमसि । ज्योतिः । विदत् । मरुत्वान् । नः । भवतु । इन्द्रः । ऊती ।।

मन्त्रार्थ - बलशाली वीरों ने उत्सवों या युद्धों में उस {वीर इन्द्र} को रक्षा और उस धन के निमित्त प्राप्त किया । वह {इन्द्र} घोर अन्धकार में भी ज्योति को प्राप्त किया । मरुत्वीरों से युक्त {वह} इन्द्र हमारी रक्षा हेतु होवे ।

मन्त्र - स सव्येन यमति व्राधतश्चित्स दक्षिणे संगृभीता कृतानि ।
स कीरिणा चित्सनिता धनानि मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती।।9।।

पदपाठ- सः।सव्येन।यमति।व्राधतः।चित्।सः।दक्षिणे।समऽगृभीता।कृतानि।
सः।कीरिणा।चित्।सनिता।धनानि।मरुत्वान्।नः।भवतु।इन्द्रः।ऊती।

मन्त्रार्थ- वह(इन्द्र) बायें हाथ से महान् शत्रुओं को भी वश में करता है । वह दक्षिण हाथ में यजमानों द्वारा किये गए हविषों को संगृहीत करता है । वह स्तुतिमात्र से प्रसन्न होकर धन बाँटता है। मरुतवीरों से युक्त (वह) इन्द्र हमारी रक्षा हेतु होवे ।

मन्त्र- स ग्रामेभिः सनिता स रथेभिर्विदे विश्वाभिः कृष्टिभिर्न्वद्य ।
स पौंस्येभिरभिभूरशस्तीर्मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ।। 10 ।।

पदपाठ- सः।ग्रामेभिः।सनिता।सः।रथेभिः।विदे।विश्वाभिः कृष्टिऽभिः।नु।अद्य ।
सः।पौंस्येभिः अभिऽभूः।अशस्तीः।मरुत्वान्।नः।भवतु।इन्द्रः ऊती ।

मन्त्रार्थ- वह(इन्द्र)मरुतों की सेना और रथों द्वारा धन का दाता है।(वह) सम्पूर्ण प्रजाओं द्वारा आज ही जाना जाता है (अर्थात् आज से उसे समस्त प्रजा जानती है) वह बलों से शत्रुओं को पराजित करने वाला है । मरुत वीरों से युक्त (वह) इन्द्र हमारी रक्षा हेतु होवे ।

मन्त्र - स जामिभिर्यत्समजाति मीळ्हेऽजामिभिर्वा पुरुहूत एवैः ।
अपां तोकस्य तनयस्य जेषे मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ।। 11 ।।

पदपाठ- सः । जामिभिः । यत् । सम्ऽअजाति । मीळ्हे । अजामिऽभिः । वा । पुरुऽहूत । एवैः ।
अपाम् । तोकस्य । तनयस्य । जेषे । मरुत्वान् । नः । भवतु । इन्द्रः । ऊती ।

मन्त्रार्थ- वह (इन्द्र) बहुतों के द्वारा आहूत जिस समय बन्धुओं या अबन्धुओं
सैनिकों के साथ संग्राम में जाता है, तब उन बन्धु तुल्य वीरों के
पुत्र और पौत्र के विजय के लिए प्रयत्न करता है। (ऐसा वह) मरुत्
वीरों से युक्त इन्द्र हमारी रक्षा के हेतु होवे ।

मन्त्र - स वज्रभृद्दस्युहा भीम उग्रः सहस्रचेताः शतनीथ ऋभ्वा ।
चम्रीषो न शवसा पाञ्चजन्यो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ।। 12 ।।

पदपाठ- सः । वज्रऽभृत् । दस्युऽहा । भीमः । उग्रः । सहस्रऽचेताः । शतऽनीथः । ऋभ्वा ।
चम्रीषः । न । शवसा । पाञ्चऽजन्यः । मरुत्वान् । नः । भवतु । इन्द्रः । ऊती ।

मन्त्रार्थ- वह (इन्द्र) वज्रधारी, दुष्टसंहारक, भयङ्कर, वीर, विविधज्ञानसम्पन्न,
सैकड़ों नीतियों वाला, महान्, पात्र में एकत्रित (सोम की भाँति)
बल से पाँच प्रकार के मनुष्यों का हितरक्षक, मरुत्युक्त (वह) इन्द्र
हमारी रक्षा हेतु होवे ।

मन्त्र - तस्य॒ वज्रः॑ क्रन्दति॒ स्मत्स्व॒र्षा दि॒वो न त्वे॒षो र॒वथः॒ शिमी॑वान्।
तं स॑चन्ते स॒नय॒स्तं धना॑नि म॒रुत्वा॑न्नो भव॒त्विन्द्र॑ ऊ॒ती ।। 13 ।।

पदपाठ- तस्य॑। वज्रः॑। क्रन्दति। स्मत्। स्वःऽसाः। दि॒वः। न। त्वे॒षः। र॒वथः॑। शिमी॑ऽवान्।
तम्। स॒च॒न्ते॒। स॒नयः॑। तम्। धना॑नि। म॒रुत्वा॑न्। नः॒। भ॒व॒तु॒। इन्द्रः॑। ऊ॒ती ।

मन्त्रार्थ- उस इन्द्र का वज्र बहुत भारी शब्द करता है, गर्जना करता है, [वह इन्द्र] शोभनोदक का दाता, द्योतमान [सूर्य] की भाँति दीप्त, तेजस्वी-व्याख्यान देने वाला [तथा], शिमी नामक कर्म में कुशल है, [ऐसा] मरुत्वीरों से युक्त इन्द्र हमारी रक्षा हेतु होवे ।

मन्त्र - यस्याज॑स्रं॒ शव॑सा॒ मान॑मु॒क्थं प॑रिभु॒जद्रोद॑सी वि॒श्वतः॒ सीम् ।
स पा॑रिष॒त्क्रतु॑भिर्मन्दसा॒नो म॒रुत्वा॑न्नो भव॒त्विन्द्र॑ ऊ॒ती ।।14।।

पदपाठ- यस्य॑। अज॑स्रम्। शव॑सा। मान॑म्। उ॒क्थम्। प॒रि॒ऽभु॒जत्। रोद॑सी॒ इति॑। वि॒श्वतः॑। सीम्।
सः। पा॒रि॒ष॒त्। क्रतु॑ऽभिः। म॒न्द॒सा॒नः। म॒रुत्वा॑न्। नः॒। भ॒व॒तु॒। इन्द्रः॑। ऊ॒ती।।

मन्त्रार्थ- [जिस इन्द्र का] प्रशंसनीय बल अपनी शक्ति से दोनों लोकों का सब तरफ से निरन्तर पालन कर रहा है, वह [इन्द्र] [हमारे] याग कर्म से आनन्दित होता हुआ [हमें] दुःखों से पार करे, [वह] मरुत्वीरों से युक्त इन्द्र हमारी रक्षा हेतु होवे ।

मन्त्र - न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापुः ।
स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती।। 15 ।।

पदपाठ- न। यस्य। देवाः। देवता। न। मर्ताः। आपः। चन। शवसः। अन्तम्। आपुः ।
सः। प्रऽरिक्वा। त्वक्षसा। क्ष्मः। दिवः। च। मरुत्वान्। नः। भवतु। इन्द्रः। ऊती।।

मन्त्रार्थ- जिस (इन्द्र के) बल का अन्त दानशील एवं तेजस्वी देव, मनुष्य, और जल नहीं पा सके, वह (इन्द्र) (अपनी) सूक्ष्म शक्ति से पृथिवी और द्युलोक से आगे बढ़ा हुआ है (ऐसा) मरुतवीरयुक्त इन्द्र हमारी रक्षा हेतु होवे ।

मन्त्र - रोहिच्छ्यावा सुमदंशुर्ललामीर्द्युक्षा राय ऋज्राश्वस्य ।
वृषण्वन्तं बिभ्रती धूर्षु रथं मन्द्रा चिकेत नाहुषीषु विक्षु ।। 16 ।।

पदपाठ- रोहित् । श्यावा। सुमत्ऽअंशुः। ललामीः। द्युक्षा। राये । ऋज्रऽअश्वस्य ।
वृषण्ऽवन्तम्। बिभ्रती । धूःऽसु । रथम्। मन्द्रा। चिकेत। नाहुषीषु। विक्षु।।

मन्त्रार्थ- रोहित श्याम वर्ण वाले, अतिदीर्घ अवयव वाले, ललाम, द्युलोक में स्थित ऋज्राश्व नामक राजर्षि के लिए धनार्थ वृषण्वान् (इन्द्रयुक्त) रथ को वहन प्रदेशों में ले जाते हुए सबको आह्लादकारी अश्वपङ्क्ति, मनुष्य सम्बन्धी प्रजाओं में जाना जाता है । (इस प्रकार का का अश्वपंक्तियुक्त इन्द्र संग्राम में अनुग्रह से प्रकट होता है) ।

मन्त्र - एतत्त्यत्त इन्द्र वृष्ण उक्थं वार्षागिरा अभि गृणन्ति राधः ।
ऋज्राश्वः प्रष्टिभिरम्बरीषः सहदेवो भयमानः सुराधाः ।। 17 ।।

पदपाठ- एतत् । त्यत् । ते । इन्द्र । वृष्णे । उक्थम् । वार्षागिराः । अभि । गृणन्ति । राधः ।
ऋज्रऽअश्वः । प्रष्टिऽभिः । अम्बरीषः । सहऽदेवः । भयमानः । सुऽराधाः ।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र । कामानाओं का वर्षक उस स्तोत्र से तुम्हें प्रसन्न करने हेतु वार्षागिर नामक राजपुत्र ने तुम्हारे सम्मुख कहा (स्तुति की) । ऋजाश्व नामक राजर्षि ने समीपस्थ अन्य ऋषियों सहित इन्द्र की स्तुति की । अम्बरीष इत्यादि राजर्षियों ने देवों के साथ, भयभीत होते हुए शोभन धनयुक्त (तुम्हारी) स्तुति की ।

मन्त्र - दस्यूञ्छिम्यूंश्च पुरुहूत एवैर्हत्वा पृथिव्यां शर्वा नि बर्हीत् ।
सनत्क्षेत्रं सखिभिः श्वित्न्येभिः सनत्सूर्यं सनदपः सुवज्रः ।।18।।

पदपाठ- दस्यून् । शिम्यून् । च । पुरुऽहूतः । एवैः । हत्वा । पृथिव्याम् । शर्वा । नि । बर्हीत् ।
सनत् । क्षेत्रम् । सखिऽभिः । श्वित्न्येभिः । सनत् । सूर्यम् । सनत् । अपः । सुऽवज्रः ।

मन्त्रार्थ- बहुतों के द्वारा (आहूत इन्द्र) गमनशीलमरुतयुक्त ~~होता हुआ~~ पृथ्वी पर स्थित शत्रुओं और राक्षसों को मारकर (उसके पश्चात्) हिंसक वज्र से निःशेष रूप से वध किया । श्वेत वर्ण के आभूषणों से प्रदीप्त अङ्ग वाले मरुतों के साथ शत्रुओं की विजित भूमि को ग्रहण किया । तथा वृत्र के तिरोहित होने पर सूर्य को प्राप्त किया । शोभन वज्र-युक्त (इन्द्र) वृत्र के द्वारा निरुद्ध जल को प्राप्त किया ।

मन्त्र - त्वि वाहेन्द्रो अधिवक्ता नो अस्त्वपरिहवृताः सनुयाम वाजम् ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ।।।१।।

पदपाठ- त्वि वाहा । इन्द्रः । अधिऽवक्ता । नः । अस्तु । अपरिऽहवृताः । सनुयाम । वाजम् ।
तत् । नः । मित्रः । वरुणः । ममहन्ताम् । अदितिः । सिन्धुः । पृथिवी । उत । द्यौः ।

मन्त्रार्थ - सभी कालों में हम लोगों का इन्द्र {ही} अधिवक्ता होवे । {हम लोग} अकुटिलगति वाले हों, अन्न से संपूरित हों। इस सूक्त से प्रार्थित वे मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी और द्यौ पूजित होवें ।

प्रथम मण्डल सूक्त संख्या ।0।

मन्त्र - प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना ।
अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ।। । ।।

पदपाठ- प्र । मन्दिने । पितुऽमत् । अर्चत । वचः । यः । कृष्णऽगर्भाः । निःऽअहन् । ऋजिश्वना ।
अवस्यवः । वृषणम् । वज्रऽदक्षिणम् । मरुत्वन्तम् । सख्याय । हवामहे ।। । ।।

मन्त्रार्थ- हे ऋत्विज लोगों। तुम स्तुति के योग्य के लिए इन्द्र के अन्नादियुक्त वाणियों का प्रकृष्ट रूप से उच्चारण करो। जिस{इन्द्र}ने ऋजिश्व नामक राजा के साथ वृत्र की अन्धेरे में छिपी नगरियों को नष्ट किया। रक्षण की इच्छा वाले हम बलवान् दाहिने हाथ में वज्र धारण करने वाले मरुतों से युक्त इन्द्र को मित्रता हेतु बुलाते हैं ।

मन्त्र - यो व्यंसं जाहृषाणेन मन्युना यः शम्बरं यो अहन्पिप्रुमव्रतम् ।
इन्द्रो यः शुष्णमशुषं न्यावृणङ्मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ।। 2 ।।

पदपाठ- यः । विऽअंसम् । जहृषाणेन । मन्युना । यः । शम्बरम् । यः । अहन् । पिप्रुम् । अव्रतम् ।
इन्द्रः । यः । शुष्णम् । अशुषम् । नि । अवृणक् । मरुत्वन्तम् । सख्याय । हवामहे ।

मन्त्रार्थ- जिस इन्द्र ने बढ़े हुए क्रोध से कटे हुए कंधों वाले असुर को मारा । और जिसने शम्बर को मारा तथा जिसने यज्ञादि कर्म के विरोधी पिप्रु नामक असुर को मारा तथा जिस इन्द्र ने शोषकरहित शुष्क नामक असुर को मारा (उस) मरुतयुक्त (इन्द्र) को मित्रता हेतु पुकारते हैं ।

मन्त्र - यस्य द्यावापृथिवी पौंस्यं महद्यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्यः ।
यस्येन्द्रस्य सिन्धवः सश्चति व्रतं मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ।।3।।

पदपाठ- यस्य । द्यावापृथिवी इति । पौंस्यम् । महत् । यस्य । व्रते । वरुणः । यस्य । सूर्यः ।
यस्य । इन्द्रस्य । सिन्धवः । सश्चति । व्रतम् । मरुत्वन्तम् । सख्याय । हवामहे ।।

मन्त्रार्थ - जिस (इन्द्र की) महान् शक्ति का द्युलोक और पृथ्वीलोक अनुसरण करते हैं, वरुण जिसके व्रत में (नियम में) रहता है, सूर्य भी जिसके नियमन में रहता है, नदियाँ भी जिस इन्द्र के व्रत में गतिशील रहती हैं, (ऐसे) मरुतयुक्त (इन्द्र) को मित्रता हेतु पुकारते हैं ।

मन्त्र - यो अश्वानां यो गवां गोपतिर्वशी य आरितः कर्मणिकर्मणि स्थिरः।
वीळोश्चिदिन्द्रो यो असुन्वतो वधो मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे।।4 ।।

पदपाठ- यः।अश्वानाम्।यः।गवाम्।गोऽपतिः।वशी।यः।आरितः।कर्मणिऽकर्मणि।स्थिरः।
वीळोः।चित्।इन्द्रः।यः।असुन्वतः।वधः।मरुत्वन्तम्।सख्याय।हवामहे।।4।।

मन्त्रार्थ- जो (इन्द्र) घोड़ों का स्वामी है, जो गौवों का स्वामी है, जो सबको वश में रखता है, जो प्रत्येक कर्म में स्थिर रहता हुआ प्रशंसित होता है, जो इन्द्र नियमपूर्वक यज्ञानुष्ठान विरोधी शत्रु को मारने वाला है, (ऐसे) मरुत्युक्त (इन्द्र) को मित्रता हेतु बुलाते हैं।

मन्त्र - यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पतिर्यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत्।
इन्द्रो यो दस्यूँरधराँ अवातिरन्मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ।। 5 ।।

पदपाठ- यः।विश्वस्य।जगतः।प्राणतः। पतिः।यः।ब्रह्मणे।प्रथमः।गाः।अविन्दत्।
इन्द्रः।यः।दस्यून्।अधरान्।अवऽअतिरत्।मरुत्वन्तम्।सख्याय।हवामहे ।। 5 ।।

मन्त्रार्थ- जो (इन्द्र) समस्त साँस लेने वाले गतिशील संसार का स्वामी है, (और) जो ब्राह्मणों के लिए सर्वप्रथम गायों को प्राप्त किया, जिस इन्द्र ने शत्रुओं को नीचे खींचकर मारा, (उस) मरुत्युक्त इन्द्र को हम मित्रता हेतु बुलाते हैं।

मन्त्र - यःशूरेभिर्हव्यो यश्च भीरुभिर्यो धावद्भिर्हूयते यश्च जिग्युभिः ।
इन्द्रं यं विश्वा भुवनाभि संदधुर्मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ।। 6 ।।

पदपाठ- यः । शूरेभिः । हव्यः । यः । च । भीरुऽभिः । यः । धावंऽभिः । हूयते । यः । च । जिग्युभिः ।
इन्द्रम् । यम् । विश्वा । भुवना । अभि । सम्ऽदधुः । मरुत्वन्तम् । सख्याय । हवामहे ।।6।।

मन्त्रार्थ- जो {इन्द्र} शौर्योपेत पुरुषों के द्वारा युद्ध के लिए बुलाने योग्य है, जो कातर पुरुषों के द्वारा भी बुलाने योग्य है, जो इन्द्र युद्ध में पराजय से भागते हुए के द्वारा {रक्षार्थ} बुलाया जाता है और जो विजयी पुरुषों के द्वारा {पुकारा जाता है}, और जिसे समस्त भुवन सम्मुख रखते हैं, ऐसे मरुतयुक्त {इन्द्र} को {हम} मित्रता हेतु बुलाते हैं ।

मन्त्र - रुद्राणामेति प्रदिशा विचक्षणो रुद्रेभिर्योषा तनुते पृथु ज्रयः ।
इन्द्रं मनीषा अभ्यर्चति श्रुतं मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ।। 7 ।।

रुद्राणाम् । एति । प्रऽदिशा । विऽचक्षणः । रुद्रेभिः । योषा । तनुते । पृथु । ज्रयः ।
इन्द्रम् । मनीषा । अभि । अर्चति । श्रुतम् । मरुत्वन्तम् । सख्याय । हवामहे ।।7।।

मन्त्रार्थ- जो बुद्धिमान इन्द्र रुद्र पुत्र मरुतों की दिशा में जाता है, मरुतों और माध्यमिका वाक् द्वारा विस्तृत वेग को फैलाता है, उन मरुतों के साथ वर्तमान प्रख्यात इन्द्र की, स्तुति रूपी वाणी प्रमुख रूप से स्तुति करती है, ऐसे उस मरुत्युक्त {इन्द्र} को {हम} मित्रता हेतु बुलाते हैं ।

मन्त्र - यद्वा मरुत्वः परमे सधस्थे यद्वावमे वृजने मादयासे ।
अत आ याह्यध्वरं नो अच्छा त्वाया हविश्चकृमा सत्यराधः ।।8।।

पदपाठ- यत्। वा। मरुत्वः। परमे। सधऽस्थे। यत्। वा। अवमे। वृजने। मादयासे।
अतः। आ। याहि। अध्वरम्। नः। अच्छ। त्वाऽया। हविः। चकृम। सत्यऽराधः ।।8।।

मन्त्रार्थ- हे मरुत्युक्त इन्द्र । उत्कृष्ट रूप से सहस्थान घर में तृप्त होवो । या अर्वाचीन गृह में {तृप्त होओ} अतः दोनों प्रकार के स्थान से हमारे यज्ञ में प्रमुखरूप से आओ । हे सत्यधन तुम्हारी कामना हेतु हम यज्ञ किये हैं ।

मन्त्र - त्वायेन्द्र सोमं सुषुमा सुदक्ष त्वाया हविश्चकृमा ब्रह्मवाहः ।
अधा नियुत्वः सगणो मरुद्भिरस्मिन्यज्ञे बर्हिषि मादयस्व ।। 9 ।।

पदपाठ- त्वाऽया। इन्द्र। सोमम्। सुसुम। सुऽदक्ष। त्वाऽया। हविः। चकृम। ब्रह्मऽवाहः।
अध। नियुत्वः। सऽगणः। मरुत्ऽभिः। अस्मिन्। यज्ञे। बर्हिषि। मादयस्व।।9।।

मन्त्रार्थ- हे शोभनबल इन्द्र । तुम्हारी कामना {हेतु हमने} सोम का अभिषवन किया है । मन्त्र, स्तोत्र से प्राप्तव्य इन्द्र तुम्हारी कामना हेतु पुरोडाश लक्षण युक्त हवि का आयोजन किया है । हे नियोजिताश्व। इसके बाद मरुतों एवं गणों सहित इस यज्ञ में बिछे हुए दर्भ पर बैठकर तृप्त होवों ।

मन्त्र - मादयस्व हरिभिर्ये त इन्द्र वि ष्यस्व शिप्रे वि सृजस्व धेने ।
आ त्वा सुशिप्र हरयो वहन्तूशन्हव्यानि प्रति नो जुषस्व ।। 10 ।।

पदपाठ- मादयस्व।हरिऽभिः।ये।ते।इन्द्र।वि।स्यस्व।शिप्रे इति।वि।सृजस्व।धेने इति।
आ।त्वा।सुऽशिप्र।हरयः।वहन्तु।उशन्।हव्यानि।प्रति।नः।जुषस्व।।10।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र । घोड़ों के साथ तृप्त होवो । जो तुम्हारी अपनी है उनके लिए सोम पीने हेतु विवृत करो तथा पानसाधन होने से जिह्वोपजिह्व को साम पान हेतु फैलाओं । हे शोभनशिप्रेन्द्र । तुम्हारे घोड़े इस यज्ञ में तुम्हें ढोकर लाएं । और तुम कामना करते हुए हम सबकी हविओं को प्रत्येक {हवियों को} ग्रहण करो । {उदासीन मत होवो } ।

मन्त्र - मरुत्स्तोत्रस्य वृजनस्य गोपा वयमिन्द्रेण सनुयाम वाजम् ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ।। 11 ।।

पदपाठ- मरुत्ऽस्तोत्रस्य।वृजनस्य।गोपाः।वयम्।इन्द्रेण।सनुयाम।वाजम्।
तत्।नः।मित्रः।वरुणः।ममहन्ताम्।अदितिः।सिन्धुः।पृथिवी।उत।द्यौः।। 11 ।

मन्त्रार्थ- {उस} मरुत्स्तोत्र की, शत्रुओं को फेकने वाले इन्द्र सम्बन्धी, गोपनीय रक्षणीय हम उस इन्द्र से अन्न प्राप्त करें । ऐसा हमारे प्रार्थना करने पर वे मित्र, वरुण, द्यावा-पृथ्वी इत्यादि पूजन करें ।

"द्वितीय मण्डल" सूक्त संख्या- 13

मन्त्र - ऋतुर्जनित्री तस्या अपस्परि मक्षू जात आविशद्यासु वर्धते ।
तदाहना अभवत्पिप्युषी पयोंऽशोः पीयूषं प्रथमं तदुक्थ्यम्।। 1 ।।

पदपाठ- ऋतुः । जनित्री ।तस्याः।अपः।परि।मक्षु।जातः।आ।अविशत्।यासु।वर्धते।
तत्।आहनाः।अभवत्।पिप्युषी।पयः।अंशोः।पीयूषम्।प्रथमम्।तत्।उक्थ्यम्।। 1 ।।

मन्त्रार्थ- {वर्षा} ऋतु उस {सोम की} माता है। उस वर्षा से उत्पन्न होकर {सोम} जिन जलों में बढ़ता है,उसने उन्हीं जलों में शीघ्र प्रवेश किया । कूटी जाने वाली वह लता उस जल को बढ़ाने वाली हुई । उस सोम का जो रसभूत पेय है,वह इन्द्र की प्रशंसनीय हवि है ।

मन्त्र - सध्रीमा यन्ति परि बिभ्रतीः पयो विश्वप्स्न्याय प्र भरन्त भोजनम्।
समानो अध्वा प्रवतामनुष्यदे यस्ताकृणोः प्रथमं सास्युक्थ्यः ।। 2 ।।

पदपाठ- सध्री।ईम्।आ।यन्ति।परि।बिभ्रतीः।पयः।विश्वऽप्स्न्याय।प्र।भरन्त।भोजनम्।
समानः।अध्वा।प्रऽवताम्।अनुऽस्यदे।यः।ता।अकृणोः।प्रथमम्।सः।असि।उक्थ्यः।।

मन्त्रार्थ- ये साथ साथ {अनुकूल} बहने वाली नदियाँ जल धारण करती हुई सब ओर से आती है । वे नदियाँ सब प्रकार के जलों के आश्रयभूत समुद्र के लिए भोजन की प्रकृष्ट रूप से व्यवस्था करती हैं । इन गतिशील नदियों के लिए मार्ग एक ही दिशा में जाता है । {हे इन्द्र} तूने नदियों को प्रवाहित करने का जो प्रसिद्ध कर्म अबसे पूर्व किया है,वह {तू} उन कार्यों के कारण प्रशंसनीय है ।

मन्त्र - अन्वेको वदति यद्ददाति तद्रूपा मिमन्तदंपा एक ईयते ।
विश्वा एकस्य विनुदंस्तितिक्षते यस्ताकृणोः प्रथमं सास्युक्थ्यः ।। 3 ।।

पदपाठ- अनु। एकः। वदति। यत्। ददाति। तत्। रूपा। मिनन्। तत्ऽअपाः। एकः। ईयते।
विश्वाः। एकस्य। विऽनुदः। तितिक्षते। यः। ता। अकृणोः। प्रथमम्। सः। असि।
उक्थ्यः ।। 3 ।।

मन्त्रार्थ- {यजमान} जो {हवि देवों को} देता है, उसे एक {होता} {अनुमोदन करता हुआ} बोलता है। एक { अध्वर्यु} पशु आदि रूपों का {भेद करता जाता है} देवयजन हेतु सब जगह जाता है । एक की अध्वर्यु सब करने योग्य कर्मों का विक्षेपणरूप कर्मों का विस्तार करता है। उस कर्म के योग्य प्रायश्चित्त कर्म से ब्रह्मा {क्षमा याचन ।} करता है । जिस तूने उनके लिए {उनकर्मों को} सर्वप्रथम किया वह {तू} प्रशंसनीय है ।

मन्त्र- प्रजाभ्यः पुष्टिं विभजन्त आसते रयिमिव पृष्ठं प्रभवन्तमायते ।
असिन्वन्दंष्ट्रैः पितुरत्ति भोजनं यस्ताकृणोः प्रथमं सास्युक्थ्यः ।। 4 ।।

पदपाठ- प्रऽजाभ्यः। पुष्टिम्। विऽभजन्तः। आसते। रयिम्ऽइव। पृष्ठम्। प्रऽभवन्तम्।
आऽयते। असिन्वन्। दंष्ट्रैः। पितुः। अत्ति। भोजनम्।
यः। ता। अकृणोः। प्रथमम्। सः। असि। उक्थ्यः ।। 4 ।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ।{तुम्हारे द्वारा प्रदत्त} पोषक धन प्रजाओं हेतु बाँटते हैं । {विभाग करते हुए गृहमेधिन् अपने घरों में निवास करते हैं}। घर आये अतिथि के लिए भरण समर्थ धन सामर्थ्यानुसार बाँटकर जाते हैं। सेतुबन्धादि कर्म करते हुए लोक में द्युलोक के समीप आये हुए जलों तथा ओषधियों को दाँतों से खाते हैं। हे {इन्द्र} जिस तूने उनके लिए {उन कर्मों को} सर्वप्रथम किया, वह तू प्रशंसनीय है ।

मन्त्र - अधाकृणोः पृथिवीं संदृशे दिवे यो धौतीनामहिहन्नारिणक्पथः ।
तं त्वा स्तोमेभिरुदभिर्न वाजिनं देवं देवा अजनन्त्सास्युक्थ्यः ।।5।।

पदपाठ- अध । अकृणोः । पृथिवीम् । सम्ऽदृशे । दिवे । यः । धौतीनाम् । अहिऽहन् । अरिणक् । पथः ।
तम् । त्वा । स्तोमेभिः । उदऽभिः । न । वाजिनम् ।
देवम् । देवाः । अजनन् । सः । असि । उक्थ्यः ।। 5 ।।

मन्त्रार्थ- {हे इन्द्र ।} तुमने द्योतमान सूर्य के लिए गतिशील पृथ्वी को स्थिर करके देखने योग्य किया । जो तुमने गतिशील नदियों के मार्गों को खोला । हे अहिहन् इन्द्र । {उस प्रकार} हम स्तोता स्तोत्रों से वर्धित किये, जिस प्रकार जल से {धोकर} घोड़े वर्धित होते हैं । वह तू प्रशंसनीय है ।

मन्त्र - यो भोजनं च दयसे च वर्धनमार्द्रादा शुष्कं मधुमद्दुदोहिथ ।
सः शेवधिं नि दधिषे विवस्वति विश्वस्यैक ईशिषे सास्युक्थ्यः ।। 6।।

पदपाठ- यः । भोजनम् । च । दयसे । च । वर्धनम् । आर्द्रात् । आ । शुष्कम् । मधुऽमत् । दुदोहिथ ।
सः । शेवऽधिम् । नि । दधिषे । विवस्वति । विश्वस्य । एकः । ईशिषे । सः । असि । उक्थ्यः ।।

मन्त्रार्थ - {हे इन्द्र} जो तू यजमानों हेतु बृद्धिकारक धन एवं भोजन देता है तथा गीले वृक्षादि से सूखा मधुररसयुक्त {फल} उत्पन्न करता है, वह तू सेवा करने वाले यजमान के घर धन स्थापित करता है । समस्त जगत का अकेला ही स्वामी है, वह {तू} प्रशंसनीय है ।

मन्त्र - यः पुष्पिणीश्च प्रस्वश्च धर्मणाधि दाने व्यवनीरधारयः ।
यश्चासमा अजनो दिद्युतो दिव उरुर्वा अभितः सास्युक्थ्यः ।। 7 ।।

पदपाठ- यः। पुष्पिणीः। च। प्रऽस्वः। च। धर्मणा। अधि। दाने। वि। ... अवनीः। अधारयः। यः। च। असमाः। अजनः। दिद्युतः। दिवः।
उरुः। ऊर्वान्। अभितः। सः। असि। उक्थ्यः ।। 7 ।।

मन्त्रार्थ- (हे इन्द्र) जिसने खेत में पुष्पवती तथा फल उत्पन्न करने तथा संरक्षक औषधियों को उनके गुणों से युक्त करके विविध रूपों में प्रतिष्ठित किया, जिसने द्योतमान सूर्य की समानता रहित विविध गुण वाली किरणें उत्पन्न कीं और जिसने सब ओर फैले हुए महान् पर्वतों को उत्पन्न किया, वह (तू) प्रशंसनीय है ।

मन्त्र - यो नार्मरं सहवसुं निहन्तवे पृक्षाय च दासवेशाय चावहः ।
ऊर्जयन्त्या अपरिविष्टमास्यमुतैवाद्य पुरुकृत्सास्युक्थ्यः ।। 8 ।।

पदपाठ- यः। नार्मरम्। सहऽवसुम्। निऽहन्तवे। पृक्षाय। च। दासऽवेशाय। च। अवहः।
ऊर्जयन्त्याः। अपरिऽविष्टम्। आस्यम्।
उत। एव। अद्य। पुरुऽकृत्। सः। असि। उक्थ्यः ।। 8 ।।

मन्त्रार्थ- विविध कर्मों के सम्पादनकर्ता हे इन्द्र । जिस (तूने) धनसम्पन्न नार्मर को वध हेतु, अन्न लाभहेतु, दस्यु लोगों के विनाश हेतु (अपनी) तीक्ष्ण बलवती वज्र की धार के निर्मल मुख को आज ही उस असुर पर फेंका । वह (तू) प्रशंसनीय है ।

मन्त्र - शतं वा यस्य दश साकमाद्य एकस्य श्रुष्टौ यद्ध चोदमाविथ ।
अरज्जौ दस्यून्त्समुनब्दभीतये सुप्राव्यो अभवः सास्युक्थ्यः ।। 9 ।।

पदपाठ- शतम्।वा।यस्य।दश।साकम्।आ ।अद्यः ।एकस्य।श्रुष्टौ।यत्।ह।चोदम्।आविथ।
अरज्जौ ।दस्यून्।सम्।उनप्।दभीतये।सुप्रऽअव्यः।अभवः।सः।असि।उक्थ्यः।।

मन्त्रार्थ- {हे इन्द्र} जिस तूने एक बार सुख निमित्त दाता यजमान की रक्षा की, जिसके {रथ को} दश या सौ घोड़े एक साथ वहन करते हैं, जो तू सबका भोज्य है, जिसने दभीति ऋषि के लिए बिना रज्जु से बाँधे ही शत्रुओं को नष्ट कर दिया और उस दभीति नामक ऋषि का उत्तम साथी बना वह {तू} प्रशंसनीय है ।

मन्त्र - विश्वेदनु रोधना अस्य पौंस्यं ददुरस्मै दधिरे कृत्नवे धनम् ।
षळस्तभ्ना विष्टिरः पञ्च संदृशः परि परो अभवः सास्युक्थ्यः ।। 10 ।।

पदपाठ- विश्वा ।इत्।अनु।रोधनाः।अस्य।पौंस्यम्।ददुः ।अस्मै।दधिरे।कृत्नवे।धनम्।
षट्।अस्तभ्नाः।विऽस्तिरः।पञ्च।सम्ऽदृशः।परि।परः।अभवः।सः।असि।
उक्थ्यः।। 10 ।।

मन्त्रार्थ- समस्त नदियाँ ही इस {इन्द्र} के पराक्रमानुकूल चलती हैं । {अर्थात् उसका अनुशीलन करती हैं।} {यजमान} इसके लिए {हवि} प्रदान करते हैं, {उन्होंने इस} {क्रियावान्} के लिए धन एकत्र किया है। {हे इन्द्र ।} तूने छः {क} विस्तृत पदार्थों को नियमित किया है । {तू} पाँच प्रकार की सम्यक् दृष्टियुक्त प्रजा का सब ओर से पालक {सिद्ध} हुआ है । वह तू प्रशंसनीय है ।

मन्त्र – प्रवाचनं तव वीर वीर्यं यदेकेन क्रतुना विन्दसे वसु ।
जातूष्ठिरस्य प्र वयः सहस्वतो या चकर्थ सेन्द्र विश्वास्युक्थ्यः ।। 11 ।।

पदपाठ– प्रवाचनम् । तव । वीर । वीर्यम् । यत् । एकेन । क्रतुना । विन्दसे । वसु ।
जातूऽस्थिरस्य । प्र । वयः । सहस्वतः । या । चकर्थ । सः । इन्द्र । विश्वा । असि । उक्थ्यः ।।

मन्त्रार्थ– हे बलवान इन्द्र ! जिस कारण तू एक ही बार के कर्म से (प्रयास से) (अभीष्ट) धन प्राप्त कर लेता है, (इस कारण) तेरा वह पराक्रम सुन्दर ढग से प्रशंसनीय है । (तू) बलवान जातूष्ठिर का अन्न स्वीकार करता है । हे इन्द्र ! तूने जिन समस्त श्रेष्ठ कर्मों को सम्पादित किया, वह (तू) प्रशंसनीय है ।

मन्त्र – अरमयः सरपसस्तराय कं तुर्वीतये च वय्याय च स्रुतिम् ।
नीचा सन्तमुदनयः परावृजं प्रान्धं श्रोणं श्रवयन्त्सास्युक्थ्यः ।। 12 ।।

पदपाठ– अरमयः । सरःऽअपसः । तराय । कम् । तुर्वीतये । च । वय्याय । च । स्रुतिम् ।
नीचा । सन्तम् । उत् । अनयः । पराऽवृजम् । प्र । अन्धम् । श्रोणम् । श्रवयन् । सः ।
असि । उक्थ्यः ।।

मन्त्रार्थ– (हे इन्द्र !) (तूने) तुर्वीति और वय्य को सुखपूर्वक जल से पार जाने हेतु जलों के प्रवाह को नियम में रखा । जल की गहराई में स्थित परावृक् ऋषि को जल से ऊपर किया । अपनी कीर्ति को बढ़ाते हुए तूने अन्धे एवं लड़खड़े (पड्गु) को आँख एवं पाँव दान किए, वह तू प्रशंसनीय है ।

मन्त्र - अस्मभ्यं तद्वसो दानाय राधः समर्थयस्व बहु ते वसव्यम् ।
इन्द्र यच्चित्रं श्रवस्या अनु द्यून्बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ।।

पदपाद- अस्मभ्यम् । तत् । वसो इति । दानाय। राधः । सम् । अर्थयस्व। बहु। ते।
वसव्यम् ।
इन्द्र। यत्। चित्रम्। श्रवस्याः । अनु। द्यून्। बृहत्। वदेम। विदथे। सुवीराः ।। ।3 ।।

मन्त्रार्थ - हे धनयुक्त इन्द्र । तेरे (पास) प्रभूतमात्रा में धन है, (तू) वह धन दान हेतु (भोग हेतु) हमें प्रदान करो, जो तेरा इच्छित धन है, उसे तू प्रतिदिन देने की इच्छा कर । (हम) उत्तम वीरों से युक्त होकर यज्ञ में बृहद् साम स्तुति का पाठ करें ।

"ऋग्वेद" द्वितीय मण्डल, सूक्त संख्या-14

मन्त्र- अध्वर्यवो भरतेन्द्राय सोममामत्रेभिः सिञ्चता मद्यमन्धः।
कामी हि वीरः सदमस्य पीतिं जुहोत वृष्णेतदिदेष वष्टि॥

पदपाठ- अध्वर्यवः। भरत। इन्द्राय। सोमम्। आ।
अमत्रेभिः। सिञ्चत। मद्यम्। अन्धः।
कामी। हि। वीरः। सदम्। अस्य। पीतिम्।
जुहोत। वृष्णे। तत्। इत्। एषः। वष्टि।।

मन्त्रार्थ- हे अध्वर्यु लोगों। इन्द्र के लिए (प्रभूत मात्रा में) सोम प्रदान करो। पात्रों से इसके लिए मदकर अन्न प्रदान करो। वीर इन्द्र इस सोमपान के सर्वदा कामना करने वाला है। इस सुख की वर्षा करने वाले के लिए (सोम का) हवन करो। यह (इन्द्र) उसी (सोमद्रव्य) की कामना करता है।

मन्त्र- अध्वर्यवो यो अपो वव्रिवांसं वृत्रं जघानाशन्येव वृक्षम्।
तस्मा एतं भरत तद्वशायँ एष इन्द्रो अर्हति पीतिमस्य॥

पदपाठ- अध्वर्यवः। यः। अपः। वव्रिऽवांसम्। वृत्रम्। जघान। अशन्याऽइव। वृक्षम्।
तस्मै। एतम्। भरत। तत्ऽवशाय। एषः। इन्द्रः। अर्हति। पीतिम्। अस्य।।

मन्त्रार्थ- हे अध्वर्यु लोगों। जिस (इन्द्र) ने जैसे विद्युत (अग्नि) वृक्ष को जला देती है, वैसे ही जल को रोकने वाले वृत्र को मारा। (ऐसी) इच्छावाले उस (इन्द्र) के लिए यह (सोमरस) भर दो। यह इन्द्र इस (सोम को) पीने की योग्यता रखता है।

मन्त्र- अध्वर्यवो यो दृभीकं जघान यो गा उदाजदप हि वलं वः।
तस्मा एतमन्तरिक्षे न वातमिन्द्रं सोमैरोर्णुत जूर्न वस्त्रैः।।

पदपाठ- अध्वर्यवः। यः। दृभीकम्। जघान। यः। गाः।
उत्ऽआजत्। अप। हि। वलम्। वरिति वः।
तस्मै। एतम्। अन्तरिक्षे। न। वातम्। इन्द्रम्। सोमैः।
आ। ऊर्णुत। जूः। न। वस्त्रैः।।

मन्त्रार्थ- हे अध्वर्यु लोगों। जिस (इन्द्र) ने दृभीक (नामक असुर) का वध किया, जिसने बलासुर के द्वारा निरुद्ध गाएं प्रकट कीं और बल नामक असुर को आवृत्त किया (बल के घेरे को तोड़ दिया)। जैसे आकाश में वायु को स्थिर करते हैं, वैसे उस इन्द्र के लिए यह सोम स्थापित करो। जैसे जीर्ण मनुष्य वस्त्रों से अपने अंगों को ढकता है, वैसे ही इन्द्र को सोम से आच्छादित करो।

मन्त्र- अध्वर्यवो य उरणं जघान नव चख्वांसं नवतिं च बाहून्।
यो अर्बुदमव नीचा बबाधे तमिन्द्रं सोमस्य भृथे हिनोत।।4।।

पदपाठ- अध्वर्यवः। यः। उरणम्। जघान। नव। चख्वांसम्।
नवतिम्। च। बाहून्। यः। अर्बुदम्। अव। नीचा।
बबाधे। तम्। इन्द्रम्। सोमस्य। भृथे। हिनोत।।

मन्त्रार्थ- हे अध्वर्यु लोगों, जिसने उरण को मारा, उसकी नौ आँखों और नब्बे भुजाओं को नष्ट किया, जिसने अर्बुद (नामक असुर) को नीचे करके गिरा दिया, उस इन्द्र को सोम के यज्ञ की ओर प्रेरित करो।

मन्त्र- अध्वर्यवो यः स्वश्नं जघान यः शुष्णमशुषं यो व्यंसम्।
यः पिप्रुं नमुचिं यो रुधिक्रां तस्मा इन्द्रायान्धसो जुहोत।।5।।

पदपाठ- अध्वर्यवः। यः। सु। अश्नम्। जघान। यः।
शुष्णम्। अशुषम्। यः। विऽअंसम्।
यः। पिप्रुम्। नमुचिम्। यः। रुधिऽक्राम्।
तस्मै। इन्द्राय। अन्धसः। जुहोत।

मन्त्रार्थ- हे अध्वर्यु लोगों ! जिस {इन्द्र} ने अश्न {नामक असुर} को मारा, जिसने न मरने योग्य किन्तु {दूसरों के प्राणशोषक} शुष्ण नामक असुर को {मारा}, जिसने अंसहीन करके {अहि को} मारा, जिसने पिप्रु को, नमुचि को और रुधिक्रा को मारा, उस इन्द्र के लिए हविर्लक्षणयुक्त अन्न का हवन करो।

मन्त्र- अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः।
यो वर्चिनः शतमिन्द्रः सहस्रमपावपद्भरता सोममस्मै।।6।।

पदपाठ- अध्वर्यवः। यः। शतम्। शम्बरस्य। पुरः।
बिभेद। अश्मनाऽइव। पूर्वीः।
यः। वर्चिनः। शतम्। इन्द्रः। सहस्रम्।
अपऽअवपत्। भरत। सोमम्। अस्मै।

मन्त्रार्थ- हे अध्वर्यु लोगों ! जिसने पत्थर सदृश कठोर वज्र से शम्बर {नामक मायावी असुर} के प्राचीन नगर को तोड़ दिया, जिस इन्द्र ने वर्ची {नामक असुर} के सैकड़ों, हजारों वीरों को एक साथ ही भूमि पर गिरा दिया, ऐसे {इन्द्र} के लिए सोम {प्रभूत मात्रा में} दो।

मन्त्र- अध्वर्यवो यः शतमा सहस्रं भूम्या उपस्थेऽवपज्जघन्वान्।
कुत्सस्यायोरतिथिग्वस्य वीरान्न्यावृणग्भरता सोममस्मै।।7।।

पदपाठ- अध्वर्यवः। यः। शतम्। आ। सहस्रम्। भूम्याः।
उपऽस्थे। अवपत्। जघन्वान्। कुत्सस्य।
आयोः। अतिथिऽग्वस्य। वीरान्।
नि। अवृणक्। भरत। सोमम्। अस्मै।

मन्त्रार्थ- हे अध्वर्यु लोगों ! जिस घातक ने भूमि के ऊपर सैकड़ो हजारों (असुरों) को मारकर चारों ओर गिरा दिया, जिसने कुत्स, आयु और अतिथिग्व के वीरों को नीचा दिखाया, ऐसे (इन्द्र) के लिए सोम (प्रभूत मात्रा में) दो।

मन्त्र- अध्वर्यवो यन्नरः कामयाध्वे श्रुष्टी वहन्तो नशथा तदिन्द्रे।
गभस्तिपूतं भरत श्रुतायेन्द्राय सोमं यज्यवो जुहोत।।8।।

पदपाठ- अध्वर्यवः। यत्। नरः। कामयाध्वे। श्रुष्टी। वहन्तः। नशथ।
तत्। इन्द्रे। गभस्तिऽपूतम्। भरत। श्रुताय। इन्द्राय।
सोमम्।यज्यवः। जुहोत।।

मन्त्रार्थ- हे नेता अध्वर्यु लोगों ! (तुम) जो कुछ कामना करो, इन्द्र के निमित्त शीघ्र हवि देते हुए उस (अभिलषित फल) को प्राप्त करो। याग करते हुए (हे अध्वर्यु लोगों) हाथों से मार्जन, दोहनादि से शुद्ध किये गए सोम को, प्रसिद्ध इन्द्र के लिए प्रभूत मात्रा में दो, (अर्थात् अग्नि में हवन करो।)।

मन्त्र- अध्वर्यव: कर्तना श्रुष्टिमस्मै वने निपूतं वन उन्नयध्वम्।
जुषाणो हस्त्यमभि वावशे व इन्द्राय सोमं मदिरं जुहोत।।9।।

पदपाठ- अध्वर्यव:। कर्तन। श्रुष्टिम्। अस्मै। वने। निऽपूतम्। वने।
उत्। नयध्वम्। जुषाण:। हस्त्यम्। अभि। वावशे। व:।
इन्द्राय। सोमम्। मदिरम्। जुहोत।।

मन्त्रार्थ- हे अध्वर्यु लोगों ! इस {इन्द्र} के {निमित्त} सुखकर सोमयज्ञ करो। लकड़ी के पात्र में रखे हुए, छान कर शुद्ध किए गए सोम को {इन्द्र के} आगे ले जाओ, सोम सेवन करने वाला {वह इन्द्र} तुम्हारे हाथ से अभिषुत सोम को {बहुत} चाहता है, {इसलिए} इन्द्र के लिए मदकर सोम का हवन करो।

मन्त्र- अध्वर्यव: पयसोधर्यथा गो: सोमेभिरीं पृणता भोजमिन्द्रम्।
वेदाहमस्य निभृतं म एतद्दित्सन्तं भूयो यजतश्चिकेत।।10।।

पदपाठ- अध्वर्यव:। पयसा। ऊध:। यथा। गो:। सोमेभि:। ईम्। पृणत।
भोजम्। इन्द्रम्। वेद। अहम्। अस्य। निऽभृतम्। मे। एतत्।
दित्सन्तम्। भूय:। यजत:। चिकेत।

मन्त्रार्थ- हे अध्वर्यु लोगों ! जिस प्रकार गाय का थन दूध से भरा रहता है, उसी प्रकार इस भोजनदाता इन्द्र को सोमरस से परिपूर्ण करो। मेरे इस सोम के गूढ़ सुख साधनस्वभाव को मैं ही जानता हूँ। यजनीय {इन्द्र} देने की इच्छा वाले {यजमान} को और अधिक देता है।

मन्त्र- अध्वर्यवो यो दिव्यस्य वस्वो यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा।
तमूर्दरं न पृणता यवेनेन्द्रं सोमेभिस्तदपो वो अस्तु।।11।।

पदपाठ- अध्वर्यवः। यः। दिव्यस्य। वस्वः। यः। पार्थिवस्य।
क्षम्यस्य। राजा। तम्। ऊर्दरम्। न। पृणत। यवेन।
इन्द्रम्। सोमेभिः। तत्। अपः। वः। अस्तु।

मन्त्रार्थ- हे अध्वर्यु लोगों ! जो {इन्द्र} द्युलोक में उत्पन्न, अन्तरिक्ष में उत्पन्न, और पृथ्वी पर उत्पन्न धन का स्वामी है, उस इन्द्र को जो आदि अन्न से जैसे कोठे भरे रखते हैं, वैसे उसे {इन्द्र को} सोम से परिपूर्ण करो। तुम्हारा वह {कार्य} सदा बना रहे।

मन्त्र- अस्मभ्यं तद्वसो दानाय राधः समर्थयस्व बहु ते वसव्यम्।
इन्द्र यच्चित्रं श्रवस्या अनु द्यून्बृहद्वदेम विदथे सुवीराः।।12।।

पदपाठ- अस्मभ्यम्। तत्। वसो इति। दानाय। राधः। सम्।
अर्धयस्व। बहु। ते। वसव्यम्। इन्द्र। यत्। चित्रम्।
श्रवस्याः। अनु। द्यून। बृहत्। वदेम। विदथे। सुऽवीराः।।

मन्त्रार्थ- हे धनसम्पन्न इन्द्र ! तेरे पास बहुत धन है। तू वह धन दान हेतु हमें दो। जो तेरा अभीष्ट धन है, उसे तू प्रतिदिन देने की इच्छा कर। हम उत्तम वीरों से युक्त होकर यज्ञ में तेरे सामने मंत्रों का अत्यधिक उच्चारण करें।

"ऋग्वेद" द्वितीय मण्डल, सूक्त संख्या-15

मन्त्र- प्र घान्वस्य महतो महानि सत्या सत्यस्य करणानि वोचम्।
त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्यास्य मदे अहिमिन्द्रो जघान।।1।।

पदपाठ- प्र। घ। नु। अस्य। महतः। महानि। सत्या। सत्यस्य।
करणानि। वोचम्। त्रिकद्रुकेषु। अपिबत्। सुतस्य।
अस्य। मदे। अहिम्। इन्द्रः। जघान।

मन्त्रार्थ- सत्यस्वरूप इस महान् इन्द्र के सर्वदा स्थिर महान् कर्मों को मैं प्रकृष्ट रूप से कहता हूँ। इन्द्र ने तीन पात्रों में सोम का पान किया। इस (सोम) के मद में अहि को मारा।

मन्त्र- अवंशे द्यामस्तभायद्बृहन्तमा रोदसी अपृणदन्तरिक्षम्।
स धारयत्पृथिवीं पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार।।2।।

पदपाठ- अवंशे। द्याम्। अस्तभायत्। बृहन्तम्। आ। रोदसी इति।
अपृणत्। अन्तरिक्षम्। सः। धारयत्। पृथिवीम्। पप्रथत्।
च। सोमस्य। ता। मदे। इन्द्रः। चकार।।

मन्त्रार्थ- इन्द्र ने द्युलोक को बिना कारण अन्तरिक्ष में स्थिर किया। बढ़े हुए आकाश और द्यावापृथिवी को (अपनी सत्ता से) परिपूर्ण कर दिया। उस (इन्द्र) ने पृथिवी को धारण किया और उसे विस्तृत किया। इन्द्र ने ये (सब कर्म) सोम के मद में किया।

मन्त्र- सद्मेव प्राचो वि मिमाय मानैर्वज्रेण खान्यतृणन्नदीनाम्।
वृथासृजत्पथिभिर्दीर्घयाथैः सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार।।3।।

पदपाठ- सद्मऽइव। प्राचः। वि। मिमाय। मानैः। वज्रेण। खानि।
अतृणत्। नदीनाम्। वृथा। असृजत्। पथिऽभिः। दीर्घऽयाथैः।
सोमस्य। ता। मदे। इन्द्रः। चकार।

मन्त्रार्थ- इन्द्र ने माप तौल के अनुसार नदियों को यज्ञ गृह के समान पूर्व की ओर गतिमान बनाया। (अपने) वज्र से (उन) नदियों के मार्ग को खोदा। (उन्हें) दूर तक जाने योग्य मार्गों से सहज ही बहाया। इन्द्र ने ये (सब कर्म) सोम के मद में किया।

मन्त्र- स प्रवोळ्हॄन्परिगत्या दभीतेर्विश्वमधागायुधमिद्धे अग्नौ।
सं गोभिरश्वैरसृजद्रथेभिः सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार।।4।।

पदपाठ- सः। प्रऽवोळ्हॄन्। परिऽगत्य। दभीतेः। विश्वम्। अधाक्।
आयुधम्। इद्धे। अग्नौ। सम्। गोभिः। अश्वैः। असृजत्।
रथेभिः। सोमस्य। ता। मदे। इन्द्रः। चकार।

मन्त्रार्थ- उस (इन्द्र) ने दभीति के अपहर्ता असुरों को चारों ओर से घेर (उनके समस्त अस्त्र-शस्त्र प्रदीप्त हुई अग्नि में जला दिया उस दभीति नामक राजर्षि को) गायों, घोड़ों और रथों से संयुक्त किया। ये सब कर्म इन्द्र ने सोम के मद में किया।

- -

मन्त्र- स ईं महीं धुनिमेतोररम्णात्सो अस्नातॄनपारयत्स्वस्ति।
त उत्स्नाय रयिमभि प्र तस्थुः सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार।।5।।

पदपाठ- सः। ईम्। महीम्। धुनिम्। एतोः। अरम्णात्। सः। अस्नातॄन्।
अपारयत्। स्वस्ति। ते। उत्ऽस्नाय। रयिम्। अभि। प्र। तस्थुः।
सोमस्य। ता। मदे। इन्द्रः। चकार।

मन्त्रार्थ- उस इन्द्र ने इन (ऋषियों) को पार जाने हेतु इस महती नदी को
स्थिर किया। उसने पार जाने में असमर्थ लोगों को कुशलता पूर्वक
नदी के पार कर दिया। वे ऋषि लोग नदी को तैर कर धन की
ओर प्रस्थान किए। ये सब कर्म इन्द्र ने सोम के मद में किया।

मन्त्र- सोदञ्चं सिन्धुमरिणान्महित्वा वज्रेणान उषसः सं पिपेष।
अजवसो जविनीभिर्विवृश्चन्त्सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार।।6।।

पदपाठ- सः। उदञ्चम्। सिन्धुम्। अरिणात्। महि ऽत्वा। वज्रेण। अनः।
उषसः। सम्। पिपेष। अजवसः। जविनीभिः। विऽवृश्चन्। सोमस्य। ता।
मदे। इन्द्रः। चकार।।

मन्त्रार्थ- उस (इन्द्र) ने अपने महान् बल से नदी को उत्तर की ओर बहाया।
उषा (देवी) की शकट (गाड़ी) को वज्र से नष्ट किया। जवयुक्त
वेगवान् सेनाओं द्वारा निर्बल सेनाओं को विशेष प्रकार से नष्ट
किया। इन्द्र ने ये सब कर्म सोम के मद में किया।

- -

मन्त्र- स विद्वाँ अपगोहं कनीनामाविर्भवन्नुदतिष्ठत्परावृक्।
प्रति श्रोणः स्थाद्व्य् नगचष्ट सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार।।7।।

पदपाठ- सः। विद्वान्। अपऽगोहम्। कनीनाम्। आविः। भवन्। उत्।
अतिष्ठत्। पराऽवृक्। प्रति। श्रोणः। स्थात्। वि। अनक्।
अचष्ट सोमस्य। ता। मदे। इन्द्रः। चकार।।

मन्त्रार्थ- वह परावृक् ऋषि सुन्दर स्त्रियों के तिरोहित होने के कारणों
को जानकर (इन्द्र की कृपा से) पुनः प्रत्यक्ष होता हुआ उनके
सम्मुख उपस्थित हुआ। पंगु (ऋषि पाँव पाकर के) उनके पास
गये, नेत्रहीन (ऋषि नेत्र पाकर के) पूर्णतया स्पष्ट देखने लगा।
ये (सब कर्म) इन्द्र ने सोम के मद में किया।

मन्त्र- भिनद्वलमङ्गिरोभिर्गृणानो वि पर्वतस्य दृंहितान्यैरत्।
रिणग्रोधांसि कृत्रिमाण्येषां सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार।।8।।

पदपाठ- भिनत्। वलम्। अंगिरऽभिः। गृणानः। वि। पर्वतस्य। दृंहितानि।
ऐरत्। रिणक्। रोधांसि। कृत्रिमाणि। एषाम्। सोमस्य। ता।
मदे। इन्द्रः। चकार।

मन्त्रार्थ- अंगिरा लोगों से प्रशंसित होकर (इन्द्र ने) बल को तोड़ दिया।
(तथा गायों के अवरोधक) पर्वत के सुदृढ़ द्वारों को खोल दिया।
इन पर्वतों के द्वारा कृत्रिम रूप निर्मित अवरोधक द्वारों को दूर
किया। इन्द्र ने ये (सब कर्म) सोम के मद में किया।

- -

मन्त्र- स्वप्नेनाभ्युप्या चुमुरिं धुनिं च जघन्थ दस्युं प्रदभीतिमावः।
रम्भी चिदत्र विविदे हिरण्यं सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार।।9।।

पदपाठ- स्वप्नेन। अभिऽउप्य। चुमुरिम्। धुनिम्। च। जघन्थ। दस्युम्।
प्र। दभीतिम्। आवः। रम्भी। चित्। अत्र। विविदे। हिरण्यम्।
सोमस्य। ता। मदे। इन्द्रः। चकार।।

मन्त्रार्थ- {तुमने} दुष्ट चुमुरि और धुनि {नामक असुरों} को दीर्घनिद्रा से युक्त करके मार डाला {और} दभीति की रक्षा की। दण्डधारी ने धन {युद्ध में धन प्राप्त किया। इन्द्र ने ये {सब कर्म} सोम के मद में किया।

मन्त्र- नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः।।10।।

पदपाठ- नूनम्। सा। ते। प्रति। वरम्। जरित्रे। दुहीयत्। इन्द्र। दक्षिणा।
मघोनी। शिक्ष। स्तोतृऽभ्यः। मा। अति। धक्। भगः। नः।
बृहत्। वदेम। विदथे। सुऽवीराः।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र! तेरी वह ऐश्वर्ययुक्त दक्षिणा निश्चय ही स्तोता हेतु श्रेष्ठ धन प्राप्त कराती है। ऐसी दक्षिणा {तुम} स्तोताओं हेतु दो। {किन्तु} हमें छोड़कर मत दो {अर्थात् धन वितरित करते समय हमारा त्याग न करो}। {तेरी कृपा से} हमें ऐश्वर्य प्राप्त होवे। अच्छे वीर युक्त स्तोता गण यज्ञ में {तेरे लिए} बड़ा स्तोत्र बोलें।

- -

"ऋग्वेद" पंचम मण्डल, सूक्त संख्या-40

मन्त्र- आ याह्यद्रिभिः सुतं सोमं सोमपते पिब।
वृषन्निन्द्र वृषभिर्वृत्रहन्तम।। 1 ।।

पदपाठ- आ। याहि। अद्रिऽभिः। सुतम्। सोमम्। सोमऽपते।
पिब। वृषन्। इन्द्र। वृषऽभिः। वृत्रहन्ऽतम।।

मन्त्रार्थ- हे वृत्रहतक, बलवान् इन्द्र। तू घोड़ों से (इस यज्ञ में) आओ।
हे सोम के स्वामी इन्द्र। पत्थरों से कूट कर निचोड़े गए
(इस) सोमरस का पान करो।

नोट-(क) सायण ने इस मंत्र में 'वृषभिः' का तात्पर्य "वर्षकैर्मरुद्भिः सह"
मन्त्र-। किया। वहाँ अर्थ होगा "वर्षक मरुतों के साथ आओ।"

मन्त्र- वृषा ग्रावा वृषा मदो वृषा सोमो अयं सुतः।
वृषन्निन्द्र वृषभिर्वृत्रहन्तम।।2।।

पदपाठ- वृषा। ग्रावा। वृषा। मदः। वृषा। सोमः। अयम्। सुतः।
वृषन्। इन्द्र। वृषऽभिः। वृत्रहन्ऽतम।।

मन्त्रार्थ- पत्थर मजबूत हैं, यह निचोड़ा गया सोम रस भी बलवर्धक है।
इसका मद (आनन्द) भी बलवर्धक है, अतः हे वृत्रहतक बलवान्
इन्द्र तू घोड़ों से आओ और सोमपान करो।

- -

मन्त्र- वृषा त्वा वृषणं हुवे वज्रिञ्चित्राभिरूतिभिः।
वृषन्निन्द्र वृषभिर्वृत्रहन्तम।।3।।

पदपाठ- वृषा। त्वा। वृषणम्। हुवे। वज्रिन्। चित्राभिः। ऊतिऽभिः।
वृषन्। इन्द्र। वृषऽभिः। वृत्रहन्ऽतम।।

मन्त्रार्थ- हे वज्रयुक्त इन्द्र । मैं विविध रक्षा के उपायों से युक्त, तुझ बलवान् को पुकारता हूँ। हे सर्वाधिक वृत्रहन्तक इन्द्र । तू घोड़ों से आओ।

मन्त्र- ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट्छुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा।
युक्त्वा हरिभ्यामुप यासदर्वाङ्माध्यन्दिने सवने मत्सदिन्द्रः।।4।।

पदपाठ- ऋजीषी। वज्री। वृषभः। तुराषाट्। शुष्मी। राजा। वृत्रऽहा।
सोमऽपावा। युक्त्वा। हरिऽभ्याम्। उप। यासत्। अर्वाङ्।
माध्यंदिने। सवने। मत्सत्। इन्द्रः।

मन्त्रार्थ- सोम पास में रखने वाला, वज्रयुक्त, बलवान् शत्रुओं की शीघ्रता से नाश करने वाला, तेजस्वी, वृत्रहन्तक, सोम पान करने वाला इन्द्र घोड़ों को रथ में जोड़कर हमारे समीप आए और माध्यन्दिन सवन में आनन्दित होवे।

- -

मन्त्र- यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः।।5।।

पदपाठ- यत्। त्वा। सूर्य। स्वःऽभानुः। तमसा। अविध्यत्। आसुरः।
अक्षेत्रऽवित्। यथा। मुग्धः। भुवनानि। अदीधयुः।।

मन्त्रार्थ- हे सूर्य !, जब तुमको स्वर्भानु नामक असुर ने {मायानिर्मित} अन्धकार से ढक लिया, {तब} जैसे अपने स्थान को न जानने वाला व्यक्ति मोहित हो जाता है, {भटक जाता है। उसी प्रकार समस्त लोक मोहित हो गए।

मन्त्र- स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्।
गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः।।6।।

पदपाठ- स्वःऽभानोः। अध। यत्। इन्द्र। मायाः। अवः। दिवः।
वर्तमानाः। अवऽअहन्। गूळ्हम्। सूर्यम्। तमसा। अपऽव्रतेन।
तुरीयेण। ब्रह्मणा। अविन्दत्। अत्रिः।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! इसके बाद जब {तुमने} स्वर्भानु असुर के द्युलोक के नीचे विद्यमान मायाओं को दूर किया। तब प्रकाश फैलाने वाले, अपगतकर्म से, अन्धकार से छिपे हुए सूर्य को अत्रि ने अत्यन्त श्रेष्ठ ज्ञान से प्राप्त किया।

- -

मन्त्र- मा मामिमं तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा नि गारीत्।
त्वं मित्रो असि सत्यराधास्तौ मेहावतं वरुणश्च राजा॥7॥

पदपाठ- मा। माम्। इमम्। तव। सन्तम्। अत्रे। इरस्या। द्रुग्धः।
भियसा। नि। गारीत्। त्वम्। मित्रः। असि। सत्यऽराधाः।
तौ। मा। इह। अवतम्। वरुणः। च। राजा।

मन्त्रार्थ- हे अत्रि ऋषि। तुम्हारे विद्यमान रहते द्रोह करने वाला, दुष्ट राक्षस, क्रोधासुर भय के कारण या क्षुधा (अन्न की इच्छा) से निगल न जाए? तू सत्यधन से युक्त मित्र है। तू तथा तेजस्वी वरुण दोनों मिलकर यहाँ मेरी रक्षा करो।

मन्त्र- ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन्।
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्स्वर्भानोरप माया अघुक्षत्॥8॥

पदपाठ- ग्राव्णः। ब्रह्मा। युयुजानः। सपर्यन्। कीरिणा। देवान्। नमसा।
उपऽशिक्षन्। अत्रिः। सूर्यस्य। दिवि। चक्षुः। आ। अधात्। स्वःऽभानोः।
अप। मायाः। अघुक्षत्॥

मन्त्रार्थ- ज्ञानवान् अत्रि ने पत्थरों को परस्पर संयुक्त करते हुए स्तोत्र से देवों की पूजा करते हुए, अन्न से या (नमस्कार से) उन देवों को प्रसन्न करते हुए द्युलोक में सूर्य के मण्डल को स्थापित किया। स्वर्भानु नामक असुर की माया के (अन्धकार के) आवरण को दूर किया।

- -

मन्त्र- यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन्।।1।।

पदपाठ- यम्। वै। सूर्यम्। स्वः॑ऽभानुः। तमसा। अविध्यत्। आसुरः।
अत्रयः। तम्। अनु। अविन्दन्। नहि। अन्ये। अशक्नुवन्।।

मन्त्रार्थ- जिस सूर्य को ही स्वर्भानु ने अंधकार से ढक दिया था, उस सूर्य को अत्रियों ने प्राप्त किया। दूसरे उसे (सूर्य) को प्राप्त नहीं कर सके।

- -

"ऋग्वेद" मण्डल-6, सूक्त संख्या-44

मन्त्र- यो रयिवो रयिंतमो यो द्युम्नैर्द्युम्नवत्तमः।
सोमः सुतः स इन्द्र तेऽस्ति स्वधापते मदः।।1।।

पदपाठ- यः। रयिऽवः। रयिम्ऽतमः। यः। द्युम्नैः। द्युम्नवत्ऽतमः।
सोमः। सुतः। सः। इन्द्र। ते। अस्ति। स्वधाऽपते मदः।

मन्त्रार्थ- हे धनवान् इन्द्र ! जो {सोम} अतिशय धनवान् है, जो द्योतमान यशों से अतिशय यशस्वी है, हे स्वधापति, इन्द्र, वह सोम अभिषुत होने पर तुम्हारे लिए मदकर है।

मन्त्र- यः शग्मस्तुविशग्म ते रायो दामा मतीनाम्।
सोमः सुतः स इन्द्र तेऽस्ति स्वधापते मदः।।2।।

पदपाठ- यः। शग्मः। तुविऽशग्म। ते। रायः। दामा। मतीनाम्।
सोमः। सुतः। सः। इन्द्र। ते। अस्ति। स्वधाऽपते। मदः।।

मन्त्रार्थ- हे बहुसुखयुक्त इन्द्र ! जो सुखकर सोम तेरे स्तोतागण को धन ऐश्वर्य देने वाला है, हे स्वधापति इन्द्र ! वह सोम अभिषुत होने पर तुम्हारे लिए मदकर है।

- -

मन्त्र- येन॑ वृद्धो न शव॑सा तुरो न स्वाभि॑रूतिभि॑:।
सोम॑: सुत: स इ॑न्द्र तेऽस्ति॑ स्वधापते मद॑:।।3।।

पदपाठ- येन॑। वृद्ध:। न। शव॑सा। तुर:। न। स्वाभि॑:। ऊतिऽभि॑:।
सोम॑:। सुत:। स:। इन्द्र:। ते। अस्ति॑। स्वधाऽपते। मद:।।

मन्त्रार्थ- जिस के द्वारा (सोम पीने से) प्रवृद्ध होता हुआ अपनी संरक्षण शक्तियों से और अपनी सामर्थ्य से, शत्रुओं का शीघ्र नाश किया जाता है, हे स्वधापति इन्द्र ! वह सोम अभिषुत होने पर तेरे लिए मदकर है।

मन्त्र- त्वमु॑ वो अप्र॑हणं गृणीषे शव॑सस्पति॑म्।
इन्द्रं॑ विश्वासाहं॑ नरं॑ मंहि॑ष्ठं विश्वच॑र्षणिम्।।4।।

पदपाठ- त्यम्। ऊँ इति॑। व:। अप्र॑ऽहनम्। गृणीषे। शव॑स:। पति॑म्।
इन्द्रम्। विश्वऽसह॑म्। नर॑म्। मंहि॑ष्ठम्। विश्वऽच॑र्षणिम्।।

मन्त्रार्थ- हे ऋत्विग्यजमान लोगों ! तुम्हारे लिए सज्जनों पर प्रहार न करने वाले, (भक्तों के लिए अनुग्राहक) बल के पालक, समस्त शत्रुओं को अभिभूत करने वाले, नेता, महाबलम्, दानी, सर्वज्ञ उस इन्द्र की स्तुति करो।

- -

मन्त्र- यं वर्धयन्तीद्गिरः पतिं तुरस्य राधसः।
तमिन्न्वस्य रोदसी देवी शुष्मं सपर्यतः॥5॥

पदपाठ- यम्। वर्धयन्ति। इत्। गिरः। पतिम्। तुरस्य। राधसः।
तम्। इत्। नु। अस्य। रोदसी इति। देवी इति। शुष्मम्। सपर्यतः॥

मन्त्रार्थ- ये स्तुतियाँ (इन्द्र सम्बन्धी) जो बल को बढ़ाती हैं, हिंसक शत्रुओं के स्वामी, (शत्रु) धन को (छीनने वाले), इस इन्द्र के उसी शोषक बल की देवनशील द्यावापृथिवी शीघ्रता से सेवा करते हैं।

मन्त्र- तद्व उक्थस्य बर्हणेन्द्रायोपस्तृणीषणि।
विपो न यस्योतयो वि यद्रोहन्ति सक्षितः॥6॥

पदपाठ- तत्। वः। उक्थस्य। बर्हणा। इन्द्राय। उपऽस्तृणीषणि।
विपः। न। यस्य। ऊतयः। वि। यत्। रोहन्ति। सऽक्षितः॥

मन्त्रार्थ- हे स्तोता लोग, तुम्हारे स्तोत्रों की वह विस्तृत महिमा है, जो इन्द्र के समीप जाकर (उसके बल को) बढ़ाते हैं, जिस (इन्द्र की रक्षाएं मेधावियों की भाँति श्रेष्ठ होती हैं, जिसमें समान रूप से निवास करने वाली रक्षाएं बढ़ती रहती हैं।

- -

मन्त्र- अविदद्दक्षं मित्रो नवीयान्पपानो देवेभ्यो वस्यो अचैत्।
ससवान्त्स्तौलाभिर्धौतरीभिरुरुष्या पायुरभवत्सखिभ्यः॥7॥

पदपाठ- अविदत्। दक्षम्। मित्रः। नवीयान्। पपानः। देवेभ्यः।
वस्यः। अचैत्। ससवान्। स्तौलाभिः। धौतरीभिः। उरुष्या।
पायुः। अभवत्। सखिऽभ्यः॥

मन्त्रार्थ- उस इन्द्र ने (कर्मों में) समर्थ (यजमान) को जाना। मित्रभूत,
अत्यन्त नवीन, सोमरस पान करने वाला, स्तोताओं को
श्रेष्ठ धन देता है। (वह इन्द्र) अन्नयुक्त, प्रवृद्ध (शत्रुओं
को अपने तेज से) कँपाने वाला, (स्तोताओं का) मित्रों
का विशेष रक्षक होता है।

मन्त्र- ऋतस्य पथि वेधा अपायि श्रिये मनांसि देवासो अक्रन्।
दधानो नाम महो वचोभिर्वपुर्दृशये वेन्यो व्यावः॥8॥

पदपाठ- ऋतस्य। पथि। वेधाः। अपायि। श्रिये। मनांसि। देवासः।
अक्रन्। दधानः। नाम। महः। वचःऽभिः। वपुः। दृशये।
वेन्यः। वि। आवरित्यावः॥

मन्त्रार्थ- ऋत के मार्ग में रहकर ज्ञानी ने (सोम) पिया (इन्द्र के)
मनों को प्रसन्न करने हेतु ऋत्विज् लोग (कर्म) करते हैं।
(वह इन्द्र) प्रसिद्ध, महान् (आत्मीय) शरीर धारण करता
हुआ, स्तुतियों से प्रशंसित होता हुआ दर्शनार्थ प्रकट होवे।

- -

मन्त्र- द्युमत्तमं दक्षं धेह्यस्मे सेधा जनानां पूर्वीररातीः।
वर्षीयो वयः कृणुहि शचीभिर्धनस्य सातावस्माँ अविड्ढि॥9॥

पदपाठ- द्युमत्ऽतमम्। दक्षम्। धेहि। अस्मे इति। सेध। जनानाम्।
पूर्वीः। अरातीः। वर्षीयः। वयः। कृणुहि। शचीभिः।
धनस्य। सातौ। अस्मान्। अविड्ढि॥

मन्त्रार्थ- (हे इन्द्र !) तेजस्वी बल हमें धारण कराओ। हम स्तोताओं के बहुत से शत्रुओं को (नाश करो) दूर करो। प्रवृद्ध अन्न अपनी प्रज्ञा से (हमें प्रदान) करो। धन के वितरण के समय हमारा संरक्षण करो।

मन्त्र- इन्द्र तुभ्यमिन्मघवन्नभूम वयं दात्रे हरिवो मा वि वेनः।
नकिरापिर्ददृशे मर्त्यत्रा किमङ्ग रध्रचोदनं त्वाहुः॥10॥

पदपाठ- इन्द्र। तुभ्यम्। इत्। मघऽवन्। अभूम। वयम्। दात्रे। हरिऽवः।
मा। वि। वेनः। नकिः। आपिः। ददृशे। मर्त्यऽत्रा। किम्। अङ्ग।
रध्रऽचोदनम्। त्वा। आहुः॥

मन्त्रार्थ- हे धनवान् इन्द्र ! तुझ दाता के पास हम होवें। या (तुम्हारे लिए ही हविप्रदान में (हम) उपस्थित रहें)। हे अश्वों के स्वामी, (हम से) प्रतिकूल मत होओ। मनुष्यों के बीच तुमसे भिन्न दूसरा कोई बन्धु नहीं दिखता। अतः हे प्रिय ! सब लोग तुमको धन का प्रेरक कहते हैं।

- -

मन्त्र- मा जस्वने वृषभ नो ररीथा मा ते रेवतः सख्ये रिषाम।
पूर्वीष्ट इन्द्र निष्षिधो जनेषु जह्यसुष्वीन्प्र वृहापृणतः।।11।।

पदपाठ- मा। जस्वने। वृषभ। नः। ररीथाः। मा। ते। रेवतः।
सख्ये। रिषाम। पूर्वीः। ते। इन्द्र। निःऽसिधः। जनेषु।
जहि। असुस्वीन्। प्र। वृह। अपृणतः।

मन्त्रार्थ- हे बलवान् । हिंसक शत्रु को हमें मत देना । तुझ धनवान् की
मित्रता में हम हिंसित न हों। हे इन्द्र । तेरे बहुत से निवारक
मनुष्यों में रहे हैं, इसलिए उन शत्रुओं को मारो और कृपण का
नाश करो।

मन्त्र- उदभ्राणीव स्तनयन्नियर्तीन्द्रो राधांस्यश्व्यानि गव्या।
त्वमसि प्रदिवः कारुधाया मा त्वादामान आ दभन्मघोनः।।12।।

पदपाठ- उत्। अभ्राणिऽइव। स्तनयन्। इयर्ति। इन्द्रः। राधांसि।
अश्व्यानि। गव्या। त्वम्। असि। प्रऽदिवः। कारुऽधायाः।
मा। त्वा। अदामानः। आ। दभन्। मघोनः।।

मन्त्रार्थ- मेघ जैसी गर्जन ध्वनि उत्पन्न करता है,वैसा ही इन्द्र (स्तोताओं
को देने हेतु) अश्व सम्बन्धी, गौ सम्बन्धी (दो प्रकार का) धन
उत्पन्न करता है। प्राचीन काल से तू स्तोताओं को धारण करने
वाले हो। धनवान् को कृपण (हविष् न देने वाले) हिंसित न करें।

- -

मन्त्र- अध्वर्यों वीर प्र महे सुतानामिन्द्राय भर स ह्यस्य राजा।
य: पूर्व्याभिरुत नूतनाभिर्गीर्भिर्वावृधे गृणतामृषीणाम्।।3।।

पदपाठ- अध्वर्यो इति। वीर। प्र। महे। सुतानाम्। इन्द्राय। भर।
स:। हि। अस्य। राजा। य:। पूर्व्याभि:। उत। नूतनाभि:।
गी:ऽभि:। ववृधे। गृणताम्। ऋषीणाम्।।

मन्त्रार्थ- हे वीर अध्वर्यु! महान् इन्द्र के लिए निचोड़ा गया सोमरस प्रभूत मात्रा में दो। वह [इन्द्र] ही इस [सोम का] राजा है, जो पूर्वकालीन तथा नूतन [वर्तमान समय में की गई स्तुति] उपासक ऋषियों की स्तुति से वृद्धि को प्राप्त करता है।

मन्त्र- अस्य मदे पुरु वर्पांसि विद्वानिन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघान।
तमु प्र होषि मधुमन्तमस्मै सोमं वीराय शिप्रिणे पिबध्यै।।4।।

पदपाठ- अस्य। मदे। पुरु। वर्पांसि। विद्वान्। इन्द्र:। वृत्राणि। अप्रति।
जघान। तम्। ऊँ इति। प्र। होषि। मधुऽमन्तम्। अस्मै। सोमम्।
वीराय। शिप्रिणे। पिबध्यै।।

मन्त्रार्थ- इस [सोम पान] से उत्साहित विद्वान् इन्द्र ने बहुत से ढके हुए शत्रुओं को, स्वयं न हारने वाला होकर मारा। मधुरतायुक्त उसी सोम को शोभन हनु वाले इस वीर को पीने हेतु दो।

- -

मन्त्र- पातो सुतमिन्द्रो अस्तु सोमं हन्ता वृत्रं वज्रेण मन्दसानः।
गन्ता यज्ञं परावतश्चिदच्छा वसुर्धीनामविता कारुधायाः।।15।।

पदपाठ- पातो। सुतम्। इन्द्रः। अस्तु। सोमम्। हन्ता। वृत्रम्। वज्रेण।
मन्दसानः। गन्ता। यज्ञम्। पराऽवतः चित्। अच्छ। वसुः।
धीनाम्। अविता। कारुऽधायाः।।

मन्त्रार्थ- यह इन्द्र सबको निवास स्थान देने वाला, ज्ञानी विद्वानों का
रक्षक, यजमानों का धारक, अभिषुत सोम का [योग्य] पान कर्ता
होवे। [उस सोम से उत्साहित] वज्र से छिपे हुए शत्रु का विनाशक
होवे। दूर देश से भी यज्ञ होने पर पहुँच जाता है।।

मन्त्र- इदं त्यत्पात्रमिन्द्रपानमिन्द्रस्य प्रियममृतमपायि।
मत्सद्यथा सौमनसाय देवं व्यस्मद्द्वेषो युयवद्व्यंहः।। [16]

पदपाठ- इदम्। त्यत्। पात्रम्। इन्द्रऽपानम्। इन्द्रस्य। प्रियम्। अमृतम्।
अपायि। मत्सत्। यथा। सौमनसाय। देवम्। वि। अस्मत्।
द्वेषः। युयवत्। वि। अंहः।।

मन्त्रार्थ- इन्द्र के पीने योग्य पात्र से, इन्द्र का प्रिय यह अमृत रस [इन्द्र]
पान करे। जिस प्रकार मन की प्रसन्नता के लिए देव इन्द्र को
आनन्द प्राप्त हो, उसी भाँति वह पान करे। द्वेष और पाप
भी हमसे दूर हो जायें।

- -

मन्त्र- एना मन्दानो जहि शूर शत्रूञ्जामिमजामिं मघवन्नमित्रान्।
अभिषेणाँ अभ्यादेदिशानान्पराच इन्द्र प्रमृणा जही च।। §17§

पदपाठ- एना। मन्दानः। जहि। शूर। शत्रून्। जामिम्। अजामिम्।
मघवन्। अमित्रान्। अभिऽसेनान्। अभि। आऽदेदिशानान्।
पराचः। इन्द्र। प्र। मृण। जहि। च।।

मन्त्रार्थ- हे धनवान्, शूरवीर इन्द्र ! इससे आनन्दित होकर ज्ञाति अज्ञाति §दोनों प्रकार§ के शत्रुओं को मारो। हमारी ओर आते हुए शस्त्रों को, §हमारे सामने से छोड़ने वाले§ शत्रुओं को हे इन्द्र ! दूर से ही मारो तथा उनका समूल नाश करो।

मन्त्र- आसुष्मा णो मघवन्निन्द्र पृत्स्वस्मभ्यं महि वरिवः सुगं कः।
अपां तोकस्य तनयस्य जेष इन्द्र सूरीन्कृणुहि स्मा नो अर्धम्।। §18§

पदपाठ- आसु। स्म। नः। मघऽवन्। इन्द्र। पृत्ऽसु। अस्मभ्यम्। महि।
वरिवः। सुऽगतम्। करितिकः। अपाम्। तोकस्य। तनयस्य।
जेषे। इन्द्र। सूरीन्। कृणुहि। स्म। नः। अर्धम्।।

मन्त्रार्थ- हे धनवान् इन्द्र ! हमें इन युद्धों में सरलता से प्राप्त होने वाला वरणीय धन दो। हे इन्द्र ! प्राप्तव्य धन पुत्र एवं पौत्र के जय हेतु हमें विद्वान और समृद्ध बनाओ।

- -

मन्त्र- आ त्वा हरयो वृषणो युजाना वृषरथासो वृषरश्मयोऽत्याः।
अस्मत्राञ्चो वृषणो वज्रवाहो वृष्णे मदाय सुयुजो वहन्तु।। §19§

पदपाठ- आ। त्वा। हरयः। वृषणः। युजानाः। वृषऽरथासः। वृषऽरश्मयः। अत्याः। अस्मत्राञ्चः। वृषणः। वज्रऽवाहः। वृष्णे। मदाय। सुऽयुजः। वहन्तु।।

मन्त्रार्थ- §हे इन्द्र§ तुझे बलवान्, §स्वयं ही§ रथ में जुड़ने वाले बलवान् रथ के साथ रहने वाले वृषरश्मियुक्त, सतत चलने वाले हमारे समीप आने वाले, वीरतायुक्त वज्र की भाँति तीक्ष्ण बाहु वाले, सुन्दर ढंग से जुते हुए घोड़े बल वर्धक मद §पान§ हेतु ले आएं।

मन्त्र- आ ते वृषन्वृषणो द्रोणमस्थुर्घृतप्रुषो नोर्मयो मदन्तः।
इन्द्र प्र तुभ्यं वृषभिः सुतानां वृष्णे भरन्ति वृषभाय सोमम्।। §20§

पदपाठ- आ। ते। वृषन्। वृषणः। द्रोणम्। अस्थुः। घृतऽप्रुषः। न। ऊर्मयः। मदन्तः। इन्द्र। प्र। तुभ्यम्। वृषऽभिः। सुतानाम्। वृष्णे। भरन्ति। वृषभाय। सोमम्।।

मन्त्रार्थ- हे सामर्थ्यवान् वीर इन्द्र ! जल से मिश्रित समुद्री तरंगों की भाँति आनन्दित करने वाले §ये रस§ तेरे पात्र में स्थित हैं। हे इन्द्र ! समर्थ बलवान् तुम्हारे लिए पत्थरों से कूटकर निकाला गया सोमरस प्रभूत मात्रा में देते हैं।

- -

मन्त्र- वृषासि दिवो वृषभ: पृथिव्या वृषा सिन्धूनां वृषभ: स्तियानाम्।
वृष्णे त इन्दुर्वृषभ पीपाय स्वादू रसो मधुपेयो वराय।। §21§

पदपाठ- वृषा। असि। दिव:। वृषभ:। पृथिव्या। वृषा। सिन्धूनाम्।
वृषभ:। स्तियानाम्। वृष्णे। ते। इन्दु:। वृषभ। पीपाय।
स्वादु:। रस:। मधुऽपेय:। वराय।।

मन्त्रार्थ- §हे इन्द्र तु§ द्युलोक का §बलवान्§ वीर है। पृथिवी का बलवान् आधार है, स्यन्दशील नदियों का वर्षा द्वारा पूरक है। सँघीभूत स्थावर जंगम प्राणियों का उत्पादक है। हे वृषभ इन्द्र । श्रेष्ठ वीरवान् तुम्हारे लिए स्वादिष्ट मधुरतायुक्त पीने योग्य सोमरस तैयार हो रहा है §इसको§ पीयो।

मन्त्र- अयं देव: सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत्।
अयं स्वस्य पितुरायुधानीन्दुरमुष्णादशिवस्य मायाः।। §22§

पदपाठ- अयम्। देव:। सहसा।।जायमान:। इन्द्रेण। युजा। पणिम्।
अस्तभायत्। अयम्। स्वस्य। पितु:। आयुधानि। इन्दु:।
अमुष्णात्। अशिवस्य। मायाः।।

मन्त्रार्थ- द्योतमान इस सोम ने इन्द्र के साथ पैदा होते हुए पणि असुर को बल से रोका। अपने गौरूप धन के पालयिता अशुभ शत्रु के आयुध एवं कुटिल योजनाओं को चुरा लिया।

- -

मन्त्र- अयमकृणोदुषसः सुपत्नीरयं सूर्ये अदधाज्ज्योतिरन्तः।
अयं त्रिधातु दिवि रोचनेषु त्रितेषु विन्ददमृतं निगूळहम्।। ॥23॥

पदपाठ- अयम्। अकृणोत्। उषसः। सुऽपत्नीः। अयम्। सूर्ये। अदधात्।
ज्योतिः। अन्तरिति। अयम्। त्रिऽधातु। दिवि। रोचनेषु।
त्रितेषु। विन्दत। अमृतम्। निऽगूळहम्।

मन्त्रार्थ- इस ॥सोम॥ ने उषाकालों को शोभनपति ॥सूर्य॥ से युक्त किया। इसी ने सूर्य मण्डल के मध्य में तेज को रखा। तीन प्रकार की धारक शक्तियों से युक्त यह द्युलोक में तीनों प्रकाशमान स्थानों में अदृश्य ॥रहस्यमय ढंग से छिपे हुए अमृत को प्राप्त करता है।

मन्त्र- अयं द्यावापृथिवी विष्कभायदयं रथमयुनक्सप्तरश्मिम्।
अयं गोषु शच्या पक्वमन्तः सोमो दाधार दशयन्त्रमुत्सम्।। ॥24॥

पदपाठ- अयम्। द्यावापृथिवी इति। वि। स्कभायत्। अयम्। रथम्।
अयुनक्। सप्तऽरश्मिम्। अयम्। गोषु। शच्या। पक्वम्। अन्तरिति।
सोमः। दाधार। दशऽयन्त्रम्। उत्सम्।

मन्त्रार्थ- इसी ने द्यावापृथिवी को स्थिर किया है। इसी ने सूर्य के रथ को सप्त किरणों से युक्त किया। इस सोम ने ही गायों के थन में पके दूध को शक्तियुक्त करके धारण कराया, जो दश ग्राहों वाले सोम प्रवाह को धारण किया।

- -

"ऋग्वेद" सप्तम मण्डल

मन्त्र- अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन्।
सखा सुशेव एधि नः।। §1§

पदपाठ- अमीवऽहा। वास्तोः। पते। विश्वा। रूपाण्याविशन्।
सखा। सुशेवः। एधि। नः।। §।§

मन्त्रार्थ- हे वास्तु के देवता, अमीवा के विनाशक के रूप में अनेक रूपों में §देवगण§ प्रविष्ट हो गए। हमारे सुकर सखा बन जाओ।

मन्त्र- यदर्जुन सारमेय दतः पिशंग यच्छसे।
वीव भ्राजन्त ऋष्टय उप स्रक्वेषु बप्सतो नि षु स्वप।। §2§

पदपाठ- यत्। अर्जुन। सारमेय। दतः। पिशंग। यच्छसे।
विऽइव। भ्राजन्ते। ऋष्टयः। उप। स्रक्वेषु। बप्सतः। नि। सु। स्वप।।

मन्त्रार्थ- हे श्वेत एवं किंचित् श्वेत वर्ण §पिशंग वर्ण§ वाले सरमा के पुत्र §तुम§ जब §हमें काटने हेतु§ दाँतों को खोलते हो, तब §हमारे§ समीप से काटने वाले §तुम्हारे दाँत§ आयुध की भाँति विशेष रूप से §वे§ जबड़ों में चमकते हैं। §ऐसा तू अब§ अच्छी तरह सो जा।

- -

मन्त्र- स्तेनं राय सारमेय तस्करं वा पुनःसर।
स्तोतॄनिन्द्रस्य रायसि किमस्मान्दुच्छुनायसे नि षु स्वप।। §3§

पदपाठ- स्तेनम्। राय। सारमेय। तस्करम्। वा। पुनःऽसर।
स्तोतॄन्। इन्द्रस्य। रायसि। किम्। अस्मान्। दुच्छुनऽयसे। नि। सु। स्वप।

मन्त्रार्थ- जिस स्थान में एक बार जाते हैं, उसी स्थान में पुनः-पुनः जाने वाले हे पुत्र। §प्रत्यक्षधन का अपहरण करने वाले§ तस्कर पर दौड़। इन्द्र के स्तोताओं पर क्यों दौड़ता है ? हमें क्यों बाँधता है ? §ऐसा तू अब§ अच्छी तरह सो जा।

मन्त्र- त्वं सूकरस्य दर्दृहि तव दर्दर्तु सूकरः।
स्तोतॄनिन्द्रस्य रायसि किमस्मान्दुच्छुनायसे नि षु स्वप।। §4§

पदपाठ- त्वम्। सूकरस्य। दर्दृहि। तव। दर्दर्तु। सूकरः। स्तोतॄन्। इन्द्रस्य।
रायसि। किम्। अस्मान्। दुच्छुनऽयसे। नि। सु। स्वप।

मन्त्रार्थ- §हेसारमेय§ तू सुअर को फाड़। सुअर भी तुझ पर आक्रमण करे। तू इन्द्र के स्तोताओं पर क्यों दौड़ता है ? हमें क्यों बाँधता है ? §ऐसा तू अब§ अच्छी तरह सो जा।

- -

मन्त्र- सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः।
ससन्तु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयमभितो जनः।। (5)

पदपाठ- सस्तु। माता। सस्तु। पिता। सस्तु। श्वा। सस्तु। विश्पतिः।
ससन्तु। सर्वे। ज्ञातयः। सस्तु। अयम्। अभितः। [illegible] जनः।।

मन्त्रार्थ- (हे सारमेय !) (तुम्हारी) जननी सो जाये, और पिता भी सो जाये, कुत्ता सोवे तथा प्रजापालक (भी) सो जाये। समस्त बन्धु-बान्धव सो जाएं। चारों तरफ से सब लोग सो जाएं।

मन्त्र- य आस्ते यश्च चरति यश्च पश्यति नो जनः।
तेषां सं हन्मो अक्षाणि यथेदं हर्म्यं तथा।। (6)

पदपाठ- यः। आस्ते। यः। च। चरति। यः। च। पश्यति। नः। जनः।
तेषाम्। सम्। हन्मः। अक्षाणि। यथा। इदम्। हर्म्यम्। तथा।।

मन्त्रार्थ- जो (मनुष्य इस प्रदेश में) बैठता है और जो जाता है, जो मनुष्य हमें देखता है, उनके आँखों को हम एक केन्द्र में लाते हैं। इस राजप्रसाद के सदृश (उनकी आँखें एक केन्द्र में स्थिर) हों।

- -

मन्त्र- सहस्रशृंगो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्।
तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि।। §7§

पदपाठ- सहस्रऽशृंगः। वृषभः। यः। समुद्रात्। उत्ऽआचरत्।
तेन। सहस्येन। वयम्। नि। जनान्। स्वापयामसि।।

मन्त्रार्थ- सहस्रों किरणों से युक्त जो बलवान् या §वृष्टि करने वाला§ वृषभ है, वह समुद्र से ऊपर आया है, उस शत्रु को पराजित करने वाले सूर्य §के बल§ से हम सब लोगों को सुला देते हैं।

मन्त्र- प्रोष्ठेशया वह्येशया नारीर्यास्तल्पशीवरीः।
स्त्रियो याः पुण्यगन्धास्ताः सर्वाः स्वापयामसि।। §8§

पदपाठ- प्रोष्ठेऽशयाः। वह्येऽशयाः। नारीः। याः। तल्पऽशीवरीः।
स्त्रियः। याः। पुण्यऽगन्धाः। ताः। सर्वाः। स्वापयामसि।।

मन्त्रार्थ- जो आँगन में सोती हैं, जो वाहनों में सोती हैं, जो स्त्रियाँ बिस्तरों पर सोती हैं, जो उत्तम गन्धवाली स्त्रियाँ हैं, उन सब स्त्रियों को §हम§ सुलाते हैं।

- -

"ऋग्वेद" अष्टम मण्डल, सूक्त संख्या-12

मन्त्र- य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति।
येना हंसि न्यत्रिणं तमीमहे।। ‖1‖

पदपाठ- यः। इन्द्र। सोमऽपातमः। मदः। शविष्ठ। चेतति।
येन। हंसि। नि। अत्रिणम्। तम्। ईमहे।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! जो तुम अतिशय सोम पीने वाले, बलवान् तथा वृत्रवधादि कर्म को जानने वाले सोम पानजनित मद में आनन्दित होने वाले, तथा उसी मद से राक्षसादि को निकृष्ट रूप से हिंसित करने वाले हो, ‖ऐसे‖ तुमको हम लोग माँगते हैं।

मन्त्र- येना दशग्वमध्रिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम्।
येना समुद्रमाविथा तमीमहे।। ‖2‖

पदपाठ- येन। दशऽग्वम्। अध्रिऽगुम्। वेपयन्तम्। स्वःऽनरम्।
येन। समुद्रम्। आविथ। तम्। ईमहे।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! जिस ‖सोमपानजनित मद से‖ दशग्व तथा अध्रिगु ऋषि ‖भय से‖ काँपते हुए यजमान की रक्षा की और जिस ‖बल‖ से समुद्र की रक्षा की थी, उस ‖बल‖ को ‖हम‖ माँगते हैं।

मन्त्र- येन सिन्धुं महीरपो रथाँइव प्रचोदयः।
पन्थामृतस्य यातवे तमीमहे।। ‖3‖

पदपाठ- येन। सिन्धुम्। मही:। अप:। रथान्ऽइव। प्रऽचोदयः
पन्थाम्। ऋतस्य। यातवे। तम्। ईमहे।।

मन्त्रार्थ- (हे इन्द्र ।) जिस (सोमपानजन्य मद) से रथों के समान बड़े-बड़े प्रवाहों को समुद्र की ओर प्रेरित किया, ऋत के मार्ग पर जाने हेतु (हम) उस (मद) को माँगते हैं।

मन्त्र- इमं स्तोममभिष्टये घृतं न पूतमद्रिवः।
येना नु सद्य ओजसा ववक्षिथ।। (4)

पदपाठ- इमम्। स्तोमम्। अभिष्टये। घृतम्। न। पूतम्। अद्रिऽवः।
येन। नु। सद्यः। ओजसा। ववक्षिथ।।

मन्त्रार्थ- वज्र धारण करने वाले इन्द्र । घृत की भाँति पवित्र इस स्तोम (स्तुति) को अभिष्ट की प्राप्ति तथा धनादि लाभ हेतु (सुनो)। जिससे (तुम) आत्मीय बल से युक्त होकर शीघ्र ही (अभिलषित धन को) दे सकते हो।

मन्त्र- इमं जुषस्व गिर्वणः समुद्रइव पिन्वते।
इन्द्र विश्वाभिरूतिभिर्ववक्षिथ।। (5)

पदपाठ- इमम्। जुषस्व। गिर्वणः। समुद्रःऽइव। पिन्वते।
इन्द्र। विश्वाभिः। ऊतिऽभिः। ववक्षिथ।

- -

मन्त्रार्थ- हे स्तुतियों के द्वारा सेवनीय इन्द्र ! इस (मेरे द्वारा रचित स्तोम) का सेवन करो। समुद्र की भाँति बढ़ने वाले तुम समस्त सुरक्षाओं के साथ हमारा संरक्षण करते हो।

मन्त्र- यो नो देव: परावत: सखित्वनाय मामहे।
दिवो न वृष्टिं प्रथयन्ववक्षिथ। (6)

पदपाठ- य:।न:।देव:।पराऽवत:।सखिऽत्वनाय।ममहे।
दिव:।न।वृष्टिम्।प्रथयन्।ववक्षिथ।।

मन्त्रार्थ- जो देव दूर देश (द्युलोक) से आकर, हमारी मित्रता हेतु धनों को देता है; ऐसे तुम हे इन्द्र, जैसे द्युलोक से वर्षा को (फैलाते हो) वैसे ही (हमारे धनों को) फैलाते हुए (तुम) हमारे पास पहुँचते हो।

मन्त्र- ववक्षुरस्य केतव उत वज्रो गभस्त्यो:।
यत्सूर्यो न रोदसी अवर्धयत्।। (7)

पदपाठ- ववक्षु:।अस्य।केतव:।उत।वज्र:।गभस्त्यो:।
यत्।सूर्य:।न।रोदसी इति।अवर्धयत्।।

मन्त्रार्थ- यह (इन्द्र) सूर्य (सबके प्रेरक आदित्य) की भाँति द्यावापृथिवी को बढ़ाता है, तब इसके रथ की पताका फैलती है या हमारा स्तुति सम्बन्धी प्रज्ञान विस्तृत होता है। (इन्द्र के) हाथों में वज्र भी है।

- -

मन्त्र- यदि प्रवृद्ध सत्पते सहस्रं महिषाँ अघः।
आदित्त इन्द्रियं महि प्र वावृधे।। ॥4॥

पदपाठ- यदि। प्रऽवृद्ध। सत्ऽपते। सहस्रम्। महिषान्। अघः।
आत्। इत्। ते। इन्द्रियम्। महि। प्र। ववृधे।।

मन्त्रार्थ- हे प्रवृद्ध एवं सज्जनों के पालक इन्द्र। जब तुमने हजारों महान् असुरों का वध किया, उसके बाद ही तुम्हारा बल अत्यधिक बढ़ा।

मन्त्र- इन्द्रः सूर्यस्य रश्मिभिर्न्यर्शसानमोषति।
अग्निर्वनेव सासहिः प्र वावृधे।। ॥9॥

पदपाठ- इन्द्रः। सूर्यस्य। रश्मिऽभिः। नि। अर्शसानम्। ओषति।
अग्निः। वनाऽइव। ससहिः। प्र। ववृधे।।

मन्त्रार्थ- यह इन्द्र सूर्य की किरणों से त्रासदायक शत्रु को जैसे अग्नि ॥दावानल॥ वनों को जला डालती है, वैसे ही विशेष रूप से जला डालता है ॥और॥ शत्रु को पराजित करने वाला वह इन्द्र प्रकृष्ट रूप से बढ़ता है।

मन्त्र- इयं त ऋत्वियावती धीतिरेति नवीयसी।
सपर्यन्ती पुरुप्रिया मिमीत इत्।। ॥10॥

पदपाठ- इयम्। ते। ऋत्वियऽवती। धीतिः। एति। नवीयसी।
सपर्यन्ती। पुरुऽप्रिया। मिमीते। इत्।।

- -

मन्त्रार्थ- §हे इन्द्र !§ यह §मेरे द्वारा रचित वसन्तादि काल में अनुष्ठेय§ यज्ञ कर्म में अतिशय नवीन स्तुति, बहुतों को प्रिय §स्तुति§ तेरे पास जाती है और तेरे गुणों का वर्णन करती है।

मन्त्र- गर्भो यज्ञस्य देवयुः क्रतुं पुनीत आनुषक्।
स्तोमैरिन्द्रस्य वावृधे मिमीत इव।। §11§

पदपाठ- गर्भः। यज्ञस्य। देवऽयुः। क्रतुम्। पुनीते। आनुषक्।
स्तोमैः। इन्द्रस्य। ववृधे। मिमीते। इव।।

मन्त्रार्थ- यज्ञ के गर्भ का अनुष्ठान करने वाला, देवों की प्राप्ति की इच्छा करने वाला §ऋत्विज्§ निरन्तर क्रम से पवित्र रीति से प्रज्ञापक सोम को शोधित करता रहता है। इन्द्र §विषयक§ स्तुति से बढ़ता रहता है §एवं§ इन्द्र के गुणों का वर्णन करता रहता है।

मन्त्र- सनिर्मित्रस्य पप्रथ इन्द्रः सोमस्य पीतये।
प्राची वाशीव सुन्वते मिमीत इव।। §12§

पदपाठ- सनिः। मित्रस्य। पप्रथे। इन्द्रः। सोमस्य। पीतये।
प्राची। वाशीऽइव। सुन्वते। मिमीते इव।।

मन्त्रार्थ- मित्र §स्तोता§ को धन देने वाला इन्द्र सोमपानार्थ, सोमयाग करने वाले यजमान की श्रेष्ठ स्तुति को सुनने से विस्तीर्ण होता है और विस्तीर्ण होने पर इन्द्र का महात्म्य वर्णित होता है।

- -

मन्त्र- यं विप्रा उक्थवाहसोऽभिप्रमन्दुरायवः।
घृतं न पिप्य आसन्यृतस्य यत्।। §13§

पदपाठ- यम्। विप्राः।उक्थऽवाहसः।अभिऽप्रमन्दुः।आयवः।
घृतम्।न।पिप्ये।आसनि।ऋतस्य।यत्।।

मन्त्रार्थ- ज्ञानी एवं स्तुतिकर्ता मनुष्य जिस §इन्द्र§ को आनन्दित करते हैं,उसके मुख में यज्ञ का जो द्रव्य §सोमरस§ है,उसे घी समान पिलाते हैं।

मन्त्र- उत स्वराजे अदितिः स्तोममिन्द्राय जीजनत्।
पुरुप्रशस्तमूतय ऋतस्य यत्।। §14§

पदपाठ- उत। स्वऽराजे। अदितिः। स्तोमम्। इन्द्राय। जीजनत्।
पुरुऽप्रशस्तम्।ऊतये।ऋतस्य।यत्।।

मन्त्रार्थ- और अखण्डनीय स्तोता ने स्वयं प्रकाशमान इन्द्र के लिए संरक्षण हेतु यज्ञ का जो बहुतों के द्वारा प्रशंसनीय स्तोत्र है, §उसे§ बनाया है।

मन्त्र- अभि वह्नय ऊतयेऽनूषत प्रशस्तये।
न देव विव्रता हरी ऋतस्य यत्।। §15§

पदपाठ- अभि।वह्नयः।ऊतये।अनूषत।प्रऽशस्तये।
न।देव।विऽव्रता।हरी इति।ऋतस्य।यत्।।

- -

मन्त्रार्थ- ऋत्विक् लोग रक्षणार्थ एवं प्रशंसा हेतु §इन्द्र की§ स्तुति करते हैं। हे दानादिगुणयुक्त इन्द्र । विविध कर्म संपादित करने वाले §तेरे§ घोड़े यज्ञ का जो §स्थान§है; उसकी तरफ §तुझे§ ले आवें।

मन्त्र- यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वाघ त्रित आप्त्ये।
यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः।। §16§

पदपाठ- यत्।सोमम्।इन्द्र।विष्णवि।यत्।वा।घ।त्रिते।आप्त्ये।
यत्।वा।मरुत्ऽसु।मन्दसे।सम्।इन्दुऽभिः।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र । यज्ञ में जिस सोम को पीकर आनन्दित होते हो और जिसको त्रित और आप्त्य नामक राजर्षि यजमान के §यज्ञ में§ पीते हो, जिसे मरुतों में पीते हो, उसी प्रकार हमारे सोमरस से भी सम्यक् रूप से आनन्दित होवो।

मन्त्र- यद्वा शक्र परावति समुद्रे अधि मन्दसे।
अस्माकमित्सुते रणा समिन्दुभिः।। §17§

पदपाठ- यत्।वा।शक्र।पराऽवति।समुद्रे।अधि।मन्दसे।
अस्माकम्।इत्।सुते।रण।सम्।इन्दुऽभिः।।

मन्त्रार्थ- हे शक्र §इन्द्र ।§ जिस प्रकार दूर देश में बहने वाले सोम में आनन्दित होते हो, उसी प्रकार हमारे सोम याग में भी सोमरस द्वारा सम्यक् रूप से आनन्दित होवो।

- -

मन्त्र- यद्वासि सुन्वतो वृधो यजमानस्य सत्पते।
उक्थे वा यस्य रण्यसि समिन्दुभिः।। §18§

पदपाठ- यत्।वा।असि।सुन्वतः।वृधः।यजमानस्य।सत्ऽपते।
उक्थे।वा।यस्य।रण्यसि।सम्।इन्दुऽभिः।।

मन्त्रार्थ- हे सज्जनों के पालक इन्द्र । जिस प्रकार सोम का अभिषव करते हुए यजमान को वर्धित करते हो, यजमान के यज्ञ में प्रशंसित होने पर आनन्दित होते हो, उसी प्रकार हमारे सोमरस से भी सम्यक् रूप से आनन्दित होओ

मन्त्र- देवंदेवं वोऽवस इन्द्रमिन्द्रं गृणीषणि।
अधा यज्ञाय तुर्वणे व्यानशुः।। §19§

पदपाठ- देवम्ऽदेवम्।वः।अवसे।इन्द्रम्ऽइन्द्रम्।गृणीषणि।
अध।यज्ञाय।तुर्वणे।वि।आनशुः।।

मन्त्रार्थ- §हे ऋत्विक् ।§ तुम सबकी रक्षा हेतु देव §दानादिगुणयुक्त§ इन्द्र की §मैं§ स्तुति करता हूँ। इसके बाद शत्रु को मारने हेतु एवं यज्ञ के लिए मेरी वे स्तुतियाँ व्याप्त होवें।

मन्त्र- यज्ञेभिर्यज्ञवाहसं सोमेभिः सोमपातमम्।
होत्राभिरिन्द्रं वावृधुर्व्यानशुः।। §20§

पदपाठ- यज्ञेभिः।यज्ञऽवाहसम्।सोमेभिः।सोमऽपातमम्।
होत्राभिः। इन्द्रम्।ववृधुः।वि।आनशुः।।

- -

मन्त्रार्थ- यज्ञ में बुलाने योग्य, अतिशय सोमपान करने वाले इन्द्र को यज्ञों से, सोम से, स्तुतियों से {स्तोता} बढ़ाते हैं, तथा इन्द्र को व्याप्त करते हैं।

मन्त्र- मुहीरस्य प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः।
विश्वा वसूनि दाशुषे व्यानशुः।। {21}

पदपाठ- मुहीः। अस्य। प्रऽनीतयः। पूर्वीः। उत। प्रऽशस्तयः।
विश्वा। वसूनि। दाशुषे। वि। आनशुः।।

मन्त्रार्थ- इस {इन्द्र} की प्रणीतियाँ महान् हैं और {इसकी} प्रशंसनीय कीर्तियाँ पूर्व काल से चली आयी हैं। इसका सम्पूर्ण धन दाता {चरु पुरोडाश आदि देने वाले यजमान} के लिये प्राप्त होता है।

मन्त्र- इन्द्रं वृत्राय हन्तवे देवासो दधिरे पुरः।
इन्द्रं वाणीरनूषता समोजसे।। {22}

पदपाठ- इन्द्रम्। वृत्राय। हन्तवे। देवासः। दधिरे। पुरः।
इन्द्रम्। वाणीः। अनूषत। सम्। ओजसे।।

मन्त्रार्थ- देवताओं ने वृत्र के मारने हेतु {इस} इन्द्र को आगे किया। अतः {इन्द्र के} ओज के लिए स्तुतिरूप वाणियाँ इसी की स्तुति करती हैं।

मन्त्र- मुहान्तं महिना वयं स्तोमेभिर्हवनश्रुतम्।
अर्कैरभि प्र णोनुमः समोजसे।। {23}

- -

पदपाठ- मुहा न्तम्। मुहिना। वयम्। स्तोमेभिः। हुवनऽश्रुतम्।
अर्कैः। अभि। प्र। नोनुमः। सम्। ओजसे।।

मन्त्रार्थ- अपनी महिमा से सबसे अधिक महान्, प्रार्थना को सुनने वाले, इन्द्र का
§अर्चन साधन भूत§ शस्त्रों से, स्तोत्रों से ओज के लिए प्रमुखरूपसेबार-बार
स्तुति करते हैं।

मन्त्र- न यं विविक्तो रोदसी नान्तरिक्षाणि वज्रिणम्।
अमादिदस्य तित्विषे समोजसः।। §24§

पदपाठ- न। यम्। विविक्तः। रोदसी इति। न। अन्तरिक्षाणि। वज्रिणम्।
अमात्। इत्। अस्य। तित्विषे। सम्। ओजसः।।

मन्त्रार्थ- जिस वज्रधारी इन्द्र को, द्यावापृथिवी अपने पास से पृथक् नहीं कर सकते,
अन्तरिक्ष लोक भी §जिसे§ पृथक् नहीं कर सके, ऐसे इस §इन्द्र§ के बल
तथा ओज से ही §समस्त जगत§ प्रकाशित हो रहा है।

मन्त्र- यदिन्द्र पृतनाज्ये देवास्त्वा दधिरे पुरः।
आदित्ते हर्यता हरी ववक्षतुः।। §25§

पदपाठ- यत्। इन्द्र। पृतनाज्ये। देवाः। त्वा। दधिरे। पुरः।
आत्। इत्। ते । हर्यता। हरी इति। ववक्षतुः।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! संग्राम में जब देवों ने तुझे §वृत्रवध के लिए§ आगे किया। उसके
बाद ही दो तेजस्वी घोड़े तुझे ले गए।

- -

मन्त्र- यदा वृत्रं नदीवृतं शवसा वज्रिन्नवधीः।
आदित्ते हर्यता हरी ववक्षतुः।। ॥26॥

पदपाठ- यदा। वृत्रम्। नदीऽवृतम्। शवसा। वज्रिन्। अवधीः।
आत्। इत्। ते। हर्यता। हरी इति। ववक्षतुः।।

मन्त्रार्थ- हे वज्रवान् इन्द्र। जब तुमने नदी के जल के प्रवाह को रोकने वाले वृत्र को बल से मारा, उसके बाद ही दो तेजस्वी घोड़े तुझे ले गए।

मन्त्र- यदा ते विष्णुरोजसा त्रीणि पदा विचक्रमे।
आदित्ते हर्यता हरी ववक्षतुः।। ॥27॥

पदपाठ- यदा। ते। विष्णुः। ओजसा। त्रीणि। पदा। विऽचक्रमे।
आत्। इत्। ते। हर्यता। हरी इति। ववक्षतुः।।

मन्त्रार्थ- [हे इन्द्र!] जब तुम्हारे अनुज [व्यापनशील देव] विष्णु ने बल से, तीन पदों से, तीनों लोकों को नाप लिया, उसके बाद ही दो तेजस्वी घोड़े तुम्हें ले गए।

मन्त्र- यदा ते हर्यता हरी वावृधाते दिवेदिवे।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे।। ॥28॥

पदपाठ- यदा। ते। हर्यता। हरी इति। ववृधाते इति। दिवेऽदिवे।
आत्। इत्। ते। विश्वा। भुवनानि। येमिरे।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र। जब तुम्हारे तेजस्वी घोड़े प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हुए, उसके बाद ही तुमने समस्त भुवनों को नियम में रखा।

- -

मन्त्र- यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे।। §29§

पदपाठ- यदा। ते। मारुतीः। विशः। तुभ्यम्। इन्द्र। निऽयेमिरे।
आत्। इत्। ते विश्वा। भुवनानि। येमिरे।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! जब तुम्हारी मरुद्रूपी प्रजाएं तेरे लिए §समस्त§ प्रजा को नियन्त्रित करती हैं, उसके बाद ही तूने समस्त भुवनों को नियम में रखा।

मन्त्र- यदा सूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे।। § 30§

पदपाठ- यदा। सूर्यम्। अमुम्। दिवि। शुक्रम्। ज्योतिः। अधारयः।
आत्। इत्। ते। विश्वा। भुवनानि। येमिरे।।

मन्त्रार्थ- §हे इन्द्र !§ जब §तुमने§ इस §विप्रकृष्ट§ निर्मल, द्योतमान, सूर्य को द्युलोक में §जगत को प्रकाशित करने हेतु§ स्थापित किया। उसके बाद ही तूने समस्त भुवनों को नियम में रखा।

मन्त्र- इमां त इन्द्र सुष्टुतिं विप्र इयर्ति धीतिभिः।
जामिं पदेव पिप्रतीं प्राध्वरे।। §31§

पदपाठ- इमाम्। ते। इन्द्र। सुऽस्तुतिम्। विप्रः। इयर्ति। धीतिऽभिः।
जामिम्। पदाऽइव। पिप्रतीम्। प्र। अध्वरे।।

- -

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! जैसे कोई अपने बन्धु को उत्कृष्ट स्थान पर ले जाता है, उसी प्रकार मेधावी स्तोता इन (आगे चलने वाली) प्रसन्नता वर्धक, शोभन स्तुति को (यज्ञों के) परिचरण कर्मों के साथ यज्ञ में ले जाता है।

मन्त्र- यदस्य धामनि प्रिये समीचीनासो अस्वरन्।
नाभा यज्ञस्य दोहना प्राध्वरे।। (32)

पदपाठ- यत्। अस्य। धामनि। प्रिये। सम्ऽईचीनासः। अस्वरन्।
नाभा। यज्ञस्य। दोहना। प्र। अध्वरे।।

मन्त्रार्थ- यज्ञ के केन्द्र भाग में सोम का अभिषव स्थान (अर्थात् वेदी) इस (इन्द्र) के प्रिय स्थान में एकत्रित होकर (साथ-साथ) स्तुति करने वाले (स्तोतागण) उच्च स्वर से स्तुति करते हैं।

मन्त्र- सुवीर्यं स्वश्व्यं सुगव्यमिन्द्र दद्धि नः।
होतेव पूर्वचित्तये प्राध्वरे।। (33)

पदपाठ- सुऽवीर्यम्। सुऽअश्व्यम्। सुऽगव्यम्। इन्द्र। दद्धि। नः।
होताऽइव। पूर्वऽचित्तये। प्र। अध्वरे।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! हमें शोभन बल, उत्तम घोड़े, शोभन गायों वाला धन दो। मैं यज्ञ में होता के समान, प्रथम प्रज्ञानवान् होने हेतु, तुम्हारी स्तुति करता हूँ।

- -

"ऋग्वेद" अष्टम मण्डल, सूक्त संख्या-38

मन्त्र- ऋषि-श्यावाश्य आत्रेयः। देवता-इन्द्राग्नी। छन्द-गायत्री।

मन्त्र- यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सस्नी वाजेषु कर्मसु।
इन्द्राग्नी तस्य बोधतम्।। §1§

पदपाठ- यज्ञस्य। हि। स्थः। ऋत्विजा। सस्नी इति। वाजेषु। कर्मऽसु।
इन्द्राग्नी इति। तस्य। बोधतम्।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र और अग्नि! शुद्ध और पवित्र §तुम दोनों§ यज्ञ के ऋत्विज् हो।
अतः यज्ञादिक कर्मों में तुम आओ तथा §मेरी§ उस §अभिलाषा को जानो।

मन्त्र- तोशासा रथयावाना वृत्रहणापराजिता।
इन्द्राग्नी तस्य बोधतम्।। §2§

पदपाठ- तोशासा। रथऽयावाना। वृत्रऽहना। अपराऽजिता।
इन्द्राग्नी इति। तस्य। बोधतम्।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्राग्नी ! §तुम दोनों§ शत्रुओं के विनाशक, रथों से गमन करने
वाले, वृत्र को मारने वाले, स्वयं अपराजित, मेरी उस §अभिलाषा§
को जानो।

नोट- मन्त्र सा॰ ने "वाजेषु" का अर्थ "युद्धेषु" किया है। किन्तु कर्मसु के साथ
यज्ञपरक अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है।

मन्त्र- इदं वां मदिरं मध्वधुक्षन्नद्रिभिर्नरः।
इन्द्राग्नी तस्य बोधतम्।। ॥3॥

पदपाठ- इदम्। वाम्। मदिरम्। मधु। अधुक्षन्। अद्रिऽभिः। नरः।
इन्द्राग्नी इति। तस्य। बोधतम्।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्राग्नी ! तुम दोनों हेतु यज्ञकर्ताओं ने पत्थरों से ॥कूटकर॥
मसलकर मधुर ॥सोमरस॥ निकाला है, उस ॥यज्ञ कर्ता की अभिलाषा॥
को जानो।

मन्त्र- जुषेथां यज्ञमिष्टये सुतं सोमं सधस्तुती।
इन्द्राग्नी आ गतं नरा।। ॥4॥

पदपाठ- जुषेथाम्। यज्ञम्। इष्टये। सुतम्। सोमम्। सधस्तुती इति। सधऽस्तुती।
इन्द्राग्नी इति। आ। गतम्। नरा।।

मन्त्रार्थ- हे साथ-साथ बैठकर स्तुति सुनने वाले नेता इन्द्राग्नी ! ॥हमारी॥
अभिलाषा की पूर्ति हेतु यज्ञ में आओ तथा निचोड़े गए सोमरस का
सेवन करो।

- -

नोट- मन्त्र④ "इष्टये" का अर्थ सायण ने "यागाय" किया, किन्तु मुझे यहाँ अभिलाषा
"इष्टि", अभीष्ट अर्थ ज्यादा उपयुक्त प्रतीत हुआ। व्याकरण प्रकरण
में इसका विस्तृत उल्लेख है।

मन्त्र- इमा जुषेथां सवना येभिर्हव्यान्यूहथुः।
इन्द्राग्नी आ गतं नरा।। {5}

पदपाठ- इमा। जुषेथाम्। सवना। येभिः। हव्यानि। ऊहथुः।
इन्द्राग्नी इति। आ। गतम्। नरा।।

मन्त्रार्थ- हे नेता इन्द्राग्नी ! जिन सामर्थ्यों से तुम हवियों को ले जाते हो, उन्हीं सामर्थ्यों से इन सवनों {यज्ञों का} सेवन करो {तथा} {हमारे} यज्ञों में आओ।

मन्त्र- इमां गायत्रवर्तनिं जुषेथां सुष्टुतिं मम।
इन्द्राग्नी आ गतं नरा।। {6}

पदपाठ- इमाम्। गायत्रऽवर्तनिम्। जुषेथाम्। सुऽस्तुतिम्। मम।
इन्द्राग्नी इति। आ। गतम्। नरा।।

मन्त्रार्थ- हे नेता इन्द्राग्नी ! {तुम दोनों} मेरी गायत्री छन्द वाली इस शोभन स्तुति को सुनो और {हमारे पास} आओ।

मन्त्र- प्रातर्यावभिरा गतं देवेभिर्जेन्यावसू।
इन्द्राग्नी सोमपीतये।। {7}

पदपाठ- प्रातर्यावऽभिः। आ। गतम्। देवेभिः। जेन्यावसू इति।
इन्द्राग्नी इति। सोमऽपीतये।।

- -

मन्त्रार्थ- हे शत्रुधनों को जीतने वाले इन्द्राग्नी । प्रातःकाल आने वाले देवों के साथ सोमपान हेतु आओ।

मन्त्र- श्यावाश्वस्य सुन्वतोऽत्रीणां शृणुतं हवम्।
इन्द्राग्नी सोमपीतये।। §8§

पदपाठ- श्यावऽअश्वस्य। सुन्वतः। अत्रीणाम्। शृणुतम्। हवम्।
इन्द्राग्नी इति। सोमऽपीतये।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्राग्नी । सोम का अभिषव करने वाले श्यावाश्व की तथा अत्रि ऋत्विजों की पुकार को सुनों तथा सोम पान हेतु आओ।

मन्त्र- एवा वामह्व ऊतये यथाहुवन्त मेधिराः।
इन्द्राग्नी सोमपीतये।। §9§

पदपाठ- एव। वाम्। अह्वे। ऊतये। यथा। अहुवन्त। मेधिराः।
इन्द्राग्नी इति। सोमऽपीतये।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्राग्नी । §तुम दोनों को§ जिस प्रकार विद्वानों ने आह्वाहित किया, उसी प्रकार §मैं भी§ अपनी रक्षा हेतु और सोमपानार्थ बुलाता हूं।

मन्त्र- आहं सरस्वतीवतोरिन्द्राग्न्योरवो वृणे।
याभ्यां गायत्रमृच्यते।। §10§

पदपाठ- आ। अहम्। सरस्वतीऽवतोः। इन्द्राग्न्योः। अवः। वृणे।
याभ्याम्। गायत्रम्। ऋच्यते।।

- -

मन्त्रार्थ- जिन (देवों) को गायत्री छन्द वाले मन्त्र बोले जाते हैं, उन सरस्वती से युक्त, इन्द्राग्नी के संरक्षण का मैं वरण करता हूँ।

"ऋग्वेद" अष्टम मण्डल, सूक्त संख्या-45

मन्त्र- आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्।
येषामिन्द्रो युवा सखा।। (8/45/1)

पदपाठ- आ। घ। ये। अग्निम्। इन्धते। स्तृणन्ति। बर्हिः। आनुषक्।
येषाम्। इन्द्रः। युवा। सखा।।

मन्त्रार्थ- जो (ऋषि लोग) प्रमुख रूप से अग्नि को प्रज्वलित करते हैं और जिनका नित्य तरुण इन्द्र सखा है, वे आसन को ठीक से बिछाते हैं।

मन्त्र- बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्तं पृथुः स्वरुः।
येषामिन्द्रो युवा सखा।। (8/45/2)

पदपाठ- बृहन्। इत्। इध्मः। एषाम्। भूरि। शस्तम्। पृथुः। स्वरुः।
येषाम्। इन्द्रः। युवा। सखा।।

मन्त्रार्थ- जिनका तरुण इन्द्र मित्र है, उनकी समिधा बृहत् होती है। स्तोत्र बड़ा होता है, यज्ञीय स्तम्भ विस्तृत होता है।

मन्त्र- अयुद्ध इद्युधा वृतं शूर आजति सत्वभिः।
येषामिन्द्रो युवा सखा।। (8/45/3)

पदपाठ- अयुद्धः। इत्। युधा। वृतम्। शूरः। आ। अजति। सत्वऽभिः।
येषाम्। इन्द्रः। युवा। सखा।।

मन्त्रार्थ- जिनका तरुण इन्द्र मित्र है, {वह} वीर युद्ध के बिना ही योद्धाओं से
घिरे हुए शत्रु को, अपने बल से, नम्र कर देता है।

मन्त्र- आ बुन्दं वृत्रहा ददे जातः पृच्छद्वि मातरम्।
क उग्राः के ह शृण्विरे।। {8/45/4}

पदपाठ- आ। बुन्दम्। वृत्रऽहा। ददे। जातः। पृच्छत्। वि। मातरम्।
के। उग्राः। के। ह। शृण्विरे।।

मन्त्रार्थ- उत्पन्न होते ही इन्द्र ने धनुषबाण हाथ में लिया {और} अपनी माता
से पूछा, {कि} कौन-कौन वीर प्रख्यात सुने जाते हैं ?

मन्त्र- प्रति त्वा शवसी वदद्गिरावप्सो न योधिषत्।
यस्ते शत्रुत्वमाचके।। {8/45/5}

पदपाठ- प्रति। त्वा। शवसी। वदत्। गिरौ। अप्सः। न। योधिषत्।
यः। ते। शत्रुऽत्वम्। आऽचके।।

मन्त्रार्थ- {हे इन्द्र।} तुमसे {तेरी} बलवती माता बोली कि जो तेरे साथ शत्रुता
की कामना करता है, {वह} पर्वत में स्थित अदर्शनीय हाथी के समान
युद्ध करता है।

- -

मन्त्र- उत त्वं मघवञ्छृणु यस्ते वष्टि ववक्षि तत्।
यद्वीळयासि वीळु तत्।। [8/45/6]

पदपाठ- उत। त्वम्। मघऽवन्। शृणु। यः। ते। वष्टि। ववक्षि। तत्।
यत्। वीळयासि। वीळु। तत्।।

मन्त्रार्थ- और भी हे मघवन् इन्द्र ! [हमारी स्तुति को] तुम सुनो। जो [स्तोता] तुमसे कामना करता है, वह [उसे] दो, [क्योंकि तुम] जिसे दृढ़ करते हो वह [सर्वथा] दृढ़ होता है।

मन्त्र- यदाजिं यात्याजिकृदिन्द्रः स्वश्वयुरुप। रथीतमो रथीनाम्।। [8/45/7]

पदपाठ- यत्। आजिम्। याति। आजिऽकृत्। इन्द्रः। स्वश्वऽयुः। उप।
रथिऽतमः। रथिनाम्।।

मन्त्रार्थ- जब युद्ध करने वाला इन्द्र, कल्याणयुक्त घोड़ों को जोड़ने वाला, युद्ध में जाता है [तब] सभी रथियों में श्रेष्ठतम रथी होता है।

मन्त्र- वि षु विश्वा अभियुजो वज्रिन्विष्वग्यथा वृह।
भवा नः सुश्रवस्तमः।। [8/45/8]

पदपाठ- वि। सु। विश्वाः। अभिऽयुजः। वज्रिन्। विष्वक्। यथा। वृह।
भव। नः। सुश्रवःऽतमः।।

- -

मन्त्रार्थ- हे वज्रिन् (इन्द्र) ! सब प्रजा को जोड़ने वाले, शत्रुओं को अच्छी प्रकार से चारों तरफ से मारो। हमारे बीच शोभन अन्न युक्त होवो। या उत्तम यशवाले बनो।

मन्त्र- अस्माकं सु रथं पुर इन्द्रः कृणोतु सातये।
न यं धूर्वन्ति धूर्तयः।। (8/45/9)

पदपाठ- अस्माकम्। सु। रथम्। पुरः। इन्द्रः। कृणोतु। सातये।
न। यम्। धूर्वन्ति। धूर्तयः।।

मन्त्रार्थ- जिस (इन्द्र) की हिंसक (शत्रु) हिंसा नहीं कर सकते (वह) इन्द्र हम सबके अभीष्ट लाभ के लिए (अपने) उत्तम रथ को आगे करे।

मन्त्र- वृज्याम ते परि द्विषोऽरं ते शक्र दावने। गमेमेदिन्द्र गोमतः।।(8/45/10)

पदपाठ- वृज्याम। ते। परि। द्विषः। अरम्। ते। शक्र। दावने।
गमेम। इत्। इन्द्र। गोऽमतः।।

मन्त्रार्थ- हे शक्र ! (सामर्थ्यवान् इन्द्र) ! (हम याचना करते हुए) तुम्हारे शत्रुओं से पूर्णरूप से दूर रहें। हे इन्द्र ! गोयुक्त, अभीष्टदान हेतु तुमको अवश्य प्राप्त करें (अर्थात् तुम्हारे पास अवश्य जाएं)।

मन्त्र- शनैश्चिद्यन्तो अद्रिवोऽश्वावन्तः शतग्विनः।
विवक्षणा अनेहसः।। (8/45/11)

- -

पदपाठ- शनैः। चित्। यन्तः। अद्रिऽवः। अश्वऽवन्तः। शतऽग्विनः।
विवक्षणाः। अनेहसः।।

मन्त्रार्थ- हे वज्रधारणकर्ता इन्द्र । धीरे-धीरे चलते हुए हम घोड़ों से युक्त, सैकड़ों गायों से युक्त धन लाने वाले तथा निष्पाप हों।

मन्त्र- ऊर्ध्वा हि ते दिवेदिवे सहस्रा सूनृता शता।
जरितृभ्यो विमंहते।। (8/45/12)

पदपाठ- ऊर्ध्वा। हि। ते। दिवेऽदिवे। सहस्रा। सूनृता। शता।
जरितृऽभ्यः। विऽमंहते।।

मन्त्रार्थ- (हे इन्द्र।) तुम्हारे स्तोताओं के लिए प्रतिदिन सैकड़ों, हजारों प्रकार के उर्ध्व एवं सुनृत (सुन्दर) उत्तम प्रकार का धन (यजमान को) देता है।

मन्त्र- विद्मा हि त्वा धनंजयमिन्द्र दृळ्हा चिदारुजम्।
आदारिणं यथा गयम्।। (8/45/13)

पदपाठ- विद्म। हि। त्वा। धनम्ऽजयम्। इन्द्र। दृळ्हा। चित्। आऽरुजम्।
आऽदारिणम्। यथा। गयम्।।

- -

नोट- अनेहसः- सायण ने "उपद्रवरहिता" अर्थ किया है। सातवलेकर ने "निष्पाप" अर्थ किया है। मन्त्र-11

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! तुमको धनों को जितने वाले, दृढ़ शत्रुओं को प्रमुख रूप से भंग करने वाले तथा मारने वाले {तुमको} घर के समान उपद्रवों से रक्षा करने वाला जानते हैं।

मन्त्र- ककुहं चित्त्वा कवे मन्दन्तु धृष्णविन्दवः।
आ त्वा पणिं यदीमहे।। {8/45/14}

पदपाठ- ककुहम्। चित्। त्वा। कवे। मन्दन्तु। धृष्णो इति। इन्दवः।
आ। त्वा। पणिम्। यत्। ईमहे।।

मन्त्रार्थ- हे क्रान्तकर्मन्, धर्षक {शत्रु विनाशक} इन्द्र ! जब {हम} सर्वश्रेष्ठ तुमसे प्रमुख रूप से अभीष्ट धन माँगते हैं, तब सोमरस तुम्हें तृप्त करें।

मन्त्र- यस्ते रेवाँ अदाशुरिः प्रममर्ष मघत्तये।
तस्य नो वेद आ भर।। {8/45/15}

पदपाठ- यः। ते। रेवान्। अदाशुरिः। प्रऽममर्ष। मघत्तये।
तस्य। नः। वेदः। आ। भर।।

मन्त्रार्थ- {हे इन्द्र !} जो अदानशील {परन्तु} धनवान् मनुष्य, धन प्रदान करने वाले तुझसे ईर्ष्या करता है, उसका धन हमारे लिए ला।

- -

नोट- मंत्र 13 में "दृळ्हा" का अर्थ सातवलेकर ने "दृढ़ दुर्ग" किया है। सायण "दृढानामपि शत्रूणाम्" अर्थ किया है, जो उपयुक्त प्रतीत होता है।

मन्त्र- इम उ त्वा वि चक्षते सखाय इन्द्र सोमिनः।
पुष्टावन्तो यथा पशुम्।। {8/45/16}

पदपाठ- इमे। ऊँ इति। त्वा। वि। चक्षते। सखायः। इन्द्र। सोमिनः।
पुष्टऽवन्तः। यथा। पशुम्।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र । ये सोमयाग करने वाले मित्रजन जैसे पुष्टीकारक अन्न को पशु देखते हैं, वैसे ही {वे सोमयागी पुरूष} तुम्हें देखते हैं।

मन्त्र- उत त्वाबधिरं वयं श्रुत्कर्णं सन्तमूतये।
दूरादिह हवामहे।। {8/45/17}

पदपाठ- उत। त्वा। अबधिरम्। वयम्। श्रुत्ऽकर्णम्। सन्तम्। ऊतये।
दूरात्। इह। हवामहे।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र । बधिरता रहित और अच्छी प्रकार सुनने वाले तुमको हम रक्षा के लिए दूर से बुलाते हैं।

मन्त्र- यच्छुश्रूया इमं हवं दुर्मर्षं चक्रिया उत।
भवेरापिर्नो अन्तमः।। {8/45/18}

पदपाठ- यत्। शुश्रूयाः। इमम्। हवम्। दुःऽमर्षम्। चक्रियाः। उत।
भवेः। आपिः। नः। अन्तमः।।

- -

मन्त्रार्थ- §हे इन्द्र ।§ जब हमारी प्रार्थना को सुनोगे तो शत्रुओं को दु:सह बल दिखाओगे। और हमारे निकटतम बन्धु हो जाओगे।

मन्त्र- यच्चिद्धि ते अपि व्यथिर्जगन्वांसो अमन्महि।
गोदा इदिन्द्र बोधि नः।। §8/45/19§

पदपाठ- यत्। चित्। हि। ते। अपि। व्यथिः। जगन्वांसः। अमन्महि।
गोऽदाः। इत्। इन्द्र। बोधि। नः।।

मन्त्रार्थ- और भी हे इन्द्र, जब दु:ख से व्यथित, गमनशील हम तुम्हारे पास पहुँचे तब गोदाता इन्द्र हमारी प्रार्थना को स्वीकार करो।

मन्त्र- आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररभ्मा शवसस्पते। उश्मसि त्वा सधस्थ आ।।
§8/45/20§

पदपाठ- आ। त्वा। रम्भम्। न। जिव्रयः। ररभ्म। शवसः। पते।
उश्मसि। त्वा। सधऽस्थे। आ।।

मन्त्रार्थ- हे बल के स्वामी इन्द्र । क्षीण वृद्धजन जैसे छड़ी का सहारा लेते हैं, §वैसे ही§ हम तेरा सहारा लेता हैं, और यज्ञ में §हम तुम्हारी कामना करते हैं।

मन्त्र- स्तोत्रमिन्द्राय गायत पुरुनृम्णाय सत्वने।
नकिर्यं वृण्वते युधि।। §8/45/21§

- -

पदपाठ- स्तोत्रम्। इन्द्राय। गायत्। पुरुऽनृम्णाय। सत्वने।
नकिः। यम्। वृण्वते। युधि।।

मन्त्रार्थ- जिसे युद्ध में कोई भी हरा नहीं सकता, उस दानशील, बहुधनवाले, इन्द्र के लिए स्तोत्र का गान करो।

मन्त्र- अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये।
तृम्पा व्यश्नुही मदम्।। §8/45/22§

पदपाठ- अभि। त्वा। वृषभ। सुते। सुतम्। सृजामि। पीतये।
तृम्प। वि। अश्नुहि। मदम् ।।

मन्त्रार्थ- हे बलवान् इन्द्र । §मैं§ सोमयाग में तुमको पीने हेतु सोमरस तैयार करता हूँ। §हे इन्द्र§ तृप्त होवो और आनन्द को प्राप्त करो।

मन्त्र- मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन्।
माकीं ब्रह्मद्विषो वनः।। §8/45/23§

पदपाठ- मा। त्वा। मूराः। अविष्यवः। मा। उपऽहस्वानः। आ। दभन्।
माकीम्। ब्रह्मऽद्विषः। वनः।।

मन्त्रार्थ- §हे इन्द्र ।§ मूर्ख मनुष्य, परन्तु अपनी रक्षा की इच्छा वाले, तुझे कष्ट न दें। §दूसरे§ उपहास करने वाले भी तुझे कष्ट न दें। तू विद्वानों से द्वेष करने वालों का आश्रय मत बन।

- -

मन्त्र- इह त्वा गोपरीणसा महे मन्दन्तु राधसे।
सरो गौरो यथा पिब।। §8/45/24§

पदपाठ- इह। त्वा। गोऽपरीणसा। महे। मन्दन्तु। राधसे।
सरः। गौरः। यथा। पिब।।

मन्त्रार्थ- §हे इन्द्र !§ यहाँ यज्ञ में §मनुष्य लोग§ प्रभूत धन हेतु गोदुग्धमिश्रित सोम से तुम्हें आनन्दित करें और सफेद हिरण जैसे पानी पीता है, उसी प्रकार §तुम§ सोमपान करो।

मन्त्र- या वृत्रहा परावति सना नवा च चुच्युवे।
ता संसत्सु प्र वोचत।। §8/45/25§

पदपाठ- या। वृत्रऽहा। पराऽवति। सना। नवा। च। चुच्युवे।
ता। संसत्ऽसु। प्र। वोचत।।

मन्त्रार्थ- वृत्रवधकर्ता इन्द्र ने पूर्व समय में जो पुराने और नवीन धन दिए, उनका तुम सभाओं में वर्णन करो।

मन्त्र- अपिबत्कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रबाह्वे।
अत्रादेदिष्ट पौंस्यम्।। §8/45/26§

पदपाठ- अपिबत्। कद्रुवः। सुतम्। इन्द्रः। सहस्रऽबाह्वे।
अत्र। अदेदिष्ट। पौंस्यम्।।

- -

मन्त्रार्थ- कद्रु नामक ऋषि द्वारा अभिषुत सोम को इन्द्र ने पिया और हजारों भुजाओं वाले [शत्रु का विनाश किया] यहाँ इन्द्र का पौरुष चमका।

मन्त्र- सत्यं तत्तुर्वशे यदौ विदानो अह्नवाय्यम्।
व्यानट् तुर्वणे शमि।। [8/45/27]

पदपाठ- सत्यम्। तत्। तुर्वशे। यदौ। विदानः। अह्नवाय्यम्।
वि। आनट्। तुर्वणे। शमि।

मन्त्रार्थ- [हे इन्द्र] तुर्वश और युदुनामक राजा के उस प्रसिद्ध सत्य शमि कर्म को जानकर, उनकी प्रशन्नता के लिए अह्नवाय्य नामक शत्रु को संग्राम में मारा।

मन्त्र- तरणिं वो जनानां त्रदं वाजस्य गोमतः।
समानमु प्र शंसिषम्।। [8/45/28]

पदपाठ- तरणिम्। वः। जनानाम्। त्रदम्। वाजस्य। गोऽमतः।
समानम्। ऊँ इति। प्र। शंसिषम्।।

मन्त्रार्थ- [मैं] तुम मनुष्यों के दुःखों के तारक, शत्रु को मारने वाले, गौयुक्त अन्न देने वाले [इन्द्र की] समान रूप प्रशंसा करता हूँ।

मन्त्र- ऋभुक्षणं न वर्तव उक्थेषु तुग्र्यावृधम्।
इन्द्रं सोमे सचा सुते।। [8/45/29]

- -

पदपाठ- ऋभुक्षणम्। न। वर्तवे। उक्थेषु। तुग्र्यऽवृधम्।
इन्द्रम्। सोमे। सर्चा। सुते।। ﴾8/45/29﴿

मन्त्रार्थ- महान् और जल को बढ़ाने वाले इन्द्र का सोम याग में, अभिषव होने पर, शास्त्रों से ﴾स्तोत्रों से﴿ धन वरण हेतु साथ-साथ ﴾गुणगान करते﴿ हैं﴿

मन्त्र- यः कृन्तदिद्वि योन्यं त्रिशोकाय गिरिं पृथुम्।
गोभ्यो गातुं निरेतवे।। ﴾8/45/30﴿

पदपाठ- यः। कृन्तत्। इत्। वि। योन्यम्। त्रिऽशोकाय। गिरिम्। पृथुम्।
गोभ्यः। गातुम्। निःऽएतवे।।

मन्त्रार्थ- जिस ﴾इन्द्र﴿ ने जल के निर्गमन द्वार को विस्तीर्ण किया। मेघ को त्रिशोक ऋषि के लिये तोड़ा, ﴾वर्षा﴿, जलों के जाने हेतु पृथिवी पर मार्ग बनाता है।

मन्त्र- यद्दधिषे मनस्यसि मन्दानः प्रेदियक्षसि।
मा तत्करिन्द्र मृळय।। ﴾8/45/31﴿

पदपाठ- यत्। दधिषे। मनस्यसि। मन्दानः। प्र। इत्। इयक्षसि।
मा। तत्। कः। इन्द्र। मृळय।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र! प्रसन्न होकर जिस ﴾शुभ धन﴿ को धारण करते हो और इच्छा करते हो, जिसका दान करते हो, वह ﴾मेरे लिए﴿ क्यों नहीं करते हो? हमें सुखी करो।

- -

मन्त्र- दभ्रं चिद्धि त्वावतः कृतं शृण्वे अधि क्षमि।
जिगात्विन्द्र ते मनः।। {8/45/32}

पदपाठ- दभ्रम्। चित्। हि। त्वाऽवतः। कृतम्। शृण्वे। अधि। क्षमि।
जिगातु। इन्द्र। ते। मनः।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! तुम्हारे जैसे देवता का थोड़ा सा भी कार्य पृथ्वी पर प्रसिद्ध हो जाता है। तुम्हारा ध्यान मेरे ऊपर हो।

मन्त्र- तवेदु ताः सुकीर्तयोऽसन्नुत प्रशस्तयः।
यदिन्द्र मृळयासि नः।। {8/45/33}

पदपाठ- तव। इत्। ऊँ इति। ताः। सुऽकीर्तयः। असन्। उत। प्रऽशस्तयः।
यत्। इन्द्र। मृळयासि। नः।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! जब हमें सुखी करते हो तब, तुम्हारी ही शोभन कीर्ति और प्रशंसा होती है।

मन्त्र- मा न एकस्मिन्नागसि मा द्वयोरुत त्रिषु।
वधीर्मा शूर भूरिषु।। {8/45/34}

पदपाठ- मा। नः। एकस्मिन्। आगसि। मा। द्वयोः। उत। त्रिषु।
वधीः। मा। शूर। भूरिषु।।

मन्त्रार्थ- हे शूर {वीर} इन्द्र ! एक अपराध होने पर हमें मत मार। दो या तीन अपराधों के होने पर भी {हमें} मत मार और असंख्य अपराध होने पर भी {हमें} न मार।

मन्त्र- बिभया हि त्वावत उग्रादभिप्रभंगिणः।
दस्मादहमृतीषहः।। (8/45/35)

पदपाठ- बिभय। हि। त्वाऽवतः। उग्रात्। अभिऽप्रभंगिनः।
दस्मात्। अहम्। ऋतिऽसहः।।

मन्त्रार्थ- (हे इन्द्र।) तुझ सदृश वीर से, शत्रुओं पर प्रहार करने वाले, पापों का नाश करने वाले, शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ, (इन्द्र) देव से मैं हमेशा डरूँ।

मन्त्र- मा सख्युः शूनमा विदे मा पुत्रस्य प्रभूवसो।
आवृत्वद्भूतु ते मनः।। (8/45/36)

पदपाठ- मा। सख्युः। शूनम्। आ। विदे। मा। पुत्रस्य। प्रभूवसो इति प्रभुऽवसो।
आऽवृत्वत्। भूतु। ते। मनः।।

मन्त्रार्थ- हे प्रभूत धन वाले इन्द्र। मैं मित्र के सुख को नहीं माँगता। पुत्र के धन को भी नहीं माँगता, तेरा मन आवर्तन युक्त मेरी ओर हो जाय। (अर्थात् भग्नित न हो)

मन्त्र- को नु मर्या अमिथितः सखा सखायमब्रवीत्।
जहा को अस्मदीषते।। (8/45/37)

पदपाठ- कः। नु। मर्याः। अमिथितः। सखा। सखायम्। अब्रवीत्।
जहा। कः। अस्मत्। ईषते।।

- -

मन्त्रार्थ- हे मनुष्यों ! क्रोध रहित मित्र {इन्द्र} अपने सखा से पूछता है, कि मैंने किस {निरपराध मनुष्य} को मारा या कौन मुझसे {डरकर} पलायन करता है? {भागता है}

मन्त्र- एवारे वृषभा सुतेऽसिन्वन्भूर्यावयः। श्वघ्नीव निवता चरन्।। {8/45/38}

पदपाठ- एवारे। वृषभा। सुते। असिन्वन्। भूरि। आवयः।
श्वघ्नीऽइव। निऽवता। चरन्।।

मन्त्रार्थ- हे बलवान् इन्द्र ! एवार नामक मनुष्य के सोमयाग करने पर पहाड़ों में विचरने वाला शिकारी, जैसे जवान पशुओं को प्राप्त करता है, उसी प्रकार {तुमने} उसको भी प्रभूत धन दिया।

मन्त्र- आ त एता वचोयुजा हरी गृभ्णे सुमद्रथा।
यदीं ब्रह्मभ्य इद्ददः।। {8/45/39}

पदपाठ- आ। ते। एता। वचःऽयुजा। हरी इति। गृभ्णे। सुमत्ऽरथा।
यत्। ईम्। ब्रह्मऽभ्यः। इत्। ददः।।

मन्त्रार्थ- तुम्हारे कल्याण रथ वाले, वाणी से जुड़ने वाले, इन दोनों घोड़ों को अपनी ओर आकृष्ट करता हूँ, क्योंकि तुम ब्राह्मणों के लिए ही इस {धन} को देते हो।

मन्त्र- भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः।
वसु स्पार्हं तदा भर।। {8/45/40}

- -

पदपाठ- भिन्धि । विश्वाः । अप । द्विषः । परि । बाधः । जहि । मृधः ।
वसु । स्पार्हम् । तत् । आ । भर ।।

मन्त्रार्थ- {हे इन्द्र !} समस्त शत्रुसेना को मार दो, हिंसक शत्रुओं को संग्राम में मारो तथा उस स्पृहणीय प्रसिद्ध धन को {हमारे लिए} दो।

मन्त्र- यद्वीळाविन्द्र यत्स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम्।
वसु स्पार्हं तदा भर।। {8/45/41}

पदपाठ- यत् । वीळौ । इन्द्र । यत् । स्थिरे । यत् । पर्शाने । पराऽभृतम् ।
वसु । स्पार्हम् । तत् । आ । भर ।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र, जो धन सुदृढ़ स्थान में है, जो धन स्थिर भूमि में है, तथा जो धन स्पर्श से दूर रखा हुआ है, उस स्पृहणीय प्रसिद्ध धन को {हमारे लिए} दो।

मन्त्र- यस्य ते विश्वमानुषो भूरेर्दत्तस्य वेदति।
वसु स्पार्हं तदा भर।। {8/45/42}

पदपाठ- यस्य । ते । विश्वऽमानुषः । भूरेः । दत्तस्य । वेदति । वसु ।
स्पार्हम् । तत् । आ । भर ।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! तुम्हारे द्वारा प्रदत्त प्रभूत धन को सभी मनुष्य जानते हैं, उस स्पृहणीय प्रसिद्ध धन को {हमारे लिए} दो।

- -

"ऋग्वेद" अष्टम मण्डल, सूक्त संख्या-80

मन्त्र- नह्यन्यं बळाकरं मर्डितारं शतक्रतो ।
त्वं न इन्द्र मृळय।। {8/80/1}

पदपाठ- नहि। अन्यम्। बळा। अकरम्। मर्डितारम्। शतक्रतो इति शतऽक्रतो।
त्वम्। नः। इन्द्र। मृळय।।

मन्त्रार्थ- हे सैकड़ो कर्मों वाले इन्द्र ! सचमुच तुझसे भिन्न को मैंने अपना सुखदाता नहीं बनाया {इसलिए} हे इन्द्र ! तू ही हमें सुखी करो।

मन्त्र- यो नः शश्वत्पुराविथामृध्रो वाजसातये।
स त्वं न इन्द्र मृळय।। {8/80/2}

पदपाठ- यः। नः। शश्वत्। पुरा। आविथ। अमृध्रः। वाजऽसातये।
सः। त्वम्। नः। इन्द्र। मृळय।।

मन्त्रार्थ- जिस अहिंसक ने पहले हमें अन्न प्राप्ति हेतु सुरक्षित किया। हे इन्द्र ! वह तुम हमें सर्वदा सुखी करो।

मन्त्र- किमङ्ग रध्रचोदनः सुन्वानस्यावितेदसि।
कुवित्स्विन्द्र णः शकः।। {8/80/3}

पदपाठ- किम्। अङ्ग। रध्रऽचोदनः। सुन्वानस्य। अविता। इत्। असि।
कुवित्। सु। इन्द्र। नः। शकः।।

- -

मन्त्रार्थ- हे प्रिय इन्द्र ! (तु) दाता का प्रेरक, यज्ञ कर्ता का रक्षक ही है। अतः (तु) हमें बहुत (धन) देने में समर्थ हो।

मन्त्र- इन्द्र प्र णो रथमव पश्चाच्चित्सन्तमद्रिवः।
पुरस्तादेनं मे कृधि।। (8/80/4)

पदपाठ- इन्द्र। प्र। नः। रथम्। अव। पश्चात्। चित्। सन्तम्। अद्रिऽवः।
पुरस्तात्। एनम्। मे। कृधि।।

मन्त्रार्थ- हे वज्रधारिन् इन्द्र ! तू हमारे पीछे भी रहने वाले रथ की रक्षा कर। तू मेरे लिए इसे (सबसे) आगे कर दे।

मन्त्र- हन्तो नु किमाससे प्रथमं नो रथं कृधि।
उपमं वाजयु श्रवः।। (8/80/5)

पदपाठ- हन्तो इति। नु। किम्। आससे। प्रथमम्। नः। रथम्। कृधि।
उपऽमम्। वाजऽयु। श्रवः।।

मन्त्रार्थ- हे हन्त इन्द्र ! इस समय (तू) चुप क्यों बैठा है ? हमारा रथ सबसे आगे कर दे। बल देने वाला अन्न (तुम्हारे) समीप है।

मन्त्र- अवा नो वाजयुं रथं सुकरं ते किमित्परि।
अस्मान्त्सु जिग्युषस्कृधि।। (8/80/6)

पदपाठ- अव। नः। वाजऽयुम्। रथम्। सुऽकरम्। ते। किम्। इत्। परि।
अस्मान्। सु। जिग्युषः। कृधि।।

- -

मन्त्रार्थ- ॥हे इन्द्र ।॥ तुम्हारे लिए कोई भी कार्य सब तरफ से सुकर है। तू हमारे अन्नयुक्त रथ की रक्षा कर, तथा ॥संग्राम में॥ हमें श्रेष्ठ विजेता कर।

मन्त्र- इन्द्र दृह्यस्व पूरसि भद्रा त एति निष्कृतम्।
इयं धीर्ऋत्वियावती।। ॥8/80/7॥

पदपाठ- इन्द्र। दृह्यस्व। पूः। असि। भद्रा। ते। एति। निःऽकृतम्। ।
इयम्। धीः। ऋत्वियऽवती।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र । तू ॥कामना॥ पूरक है अतः ॥संग्राम में॥ दृढ़ होवो। यह यज्ञोपयोगी कल्याणी वाणी ॥स्तुति॥ तेरे निमित्त किए कर्म के पास जाती है।

मन्त्र- मा सीमवद्य आ भागुर्वी काष्ठा हितं धनम्।
अपावृक्ता अरत्नयः।। ॥8/80/8॥

पदपाठ- मा। सीम्। अवद्ये। आ। भाक्। उर्वी। काष्ठा। हितम्। धनम्।
अपऽआवृक्ताः। अरत्नयः।।

मन्त्रार्थ- ॥हे इन्द्र ।॥ विशाल युद्ध क्षेत्रों में स्थित धन निन्दित लोगों में मत बाँटो अप्रिय शत्रु हमसे दूर हो जायँ।

मन्त्र- तुरीयं नाम यज्ञियं यदा करस्तदुश्मसि।
आदित्पतिर्न ओहसे।। ॥8/80/9॥

- -

पदपाठ- तुरीयम्। नाम। यज्ञियम्। यदा। करः। तत्। उश्मसि।
आत्। इत्। पतिः। नः। ओहसे।। §8/80/9§

मन्त्रार्थ- §हे इन्द्र !§ तुमने जो चौथा यज्ञ सम्बन्धी नाम किया है, §हम§
उसे चाहते हैं। इसके बाद हम तुझ पालक को प्राप्त करें।

मन्त्र- अवीवृधद्वो अमृता अमन्दीदेकद्यूर्देवा उत याश्च देवीः।
तस्मा उ राधः कृणुत प्रशस्तं प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्।। §8/80/10§

पदपाठ- अवीवृधत्। वः। अमृताः। अमन्दीत्।एकद्यूः।देवाः।उत।याः।च।देवीः।
तस्मै।ऊँ इति। राधः।कृणुत।प्रऽशस्तम्।प्रातः।मक्षु।धियाऽवसुः।जगम्यात्।।

मन्त्रार्थ- हे देवों और देवियों ! एकद्यू ऋषि ने तुम्हें अमृत से तथा स्तुति से बढ़ाया
सोम से आनन्दित किया। उसके लिए प्रशस्त धन प्रदान करो। हे कर्म
धन इन्द्र ! प्रातःकाल शीघ्र ही आओ।

- - -

"ऋग्वेद" अष्टम मण्डल, सूक्त संख्या =82

मन्त्र- आ प्र द्रव परावतोऽर्वावतश्च वृत्रहन्।
मध्वः प्रति प्रभर्मणि।। §8/82/1§

पदपाठ- आ। प्र। द्रव। पराऽवतः। अर्वाऽवतः।च। वृत्रऽहन्।
मध्वः। प्रति। प्रऽभर्मणि।।

मन्त्रार्थ- हे वृत्रहन्तक इन्द्र ! §तू§ हमारे प्रभर्मा यज्ञ में दूर देश से और समीपस्थ
देश से §कहीं से भी§ आनन्ददायक सोम के प्रति आ।

- -

मन्त्र- तीव्राः सोमास आ गहि सुतासो मादयिष्णवः।
पिबा दधृग्यथोचिषे।। ﴾8/82/2﴿

पदपाठ- तीव्राः। सोमासः। आ। गहि। सुतासः। मादयिष्णवः।
पिब। दधृक्। यथा। ओचिषे।।

मन्त्रार्थ- ﴾हे इन्द्र।﴿ ये शीघ्र आनन्द देने वाला सोम तुम्हारे लिए निचोड़ा गया है, तू ﴾हमारे यज्ञ की ओर﴿ आ। जिस प्रकार तू सोम का सेवन करता है, उसी प्रकार प्रगल्भ होकर ﴾उन्हें﴿ पी।

मन्त्र- इषा मन्दस्वादु तेऽरं वराय मन्यवे।
भुवत्त इन्द्र शं हृदे।। ﴾8/82/3﴿

पदपाठ- इषा। मन्दस्व। आत्। ऊँ इति। ते। अरम्। वराय। मन्यवे।
भुवत्। ते। इन्द्र। शम्। हृदे।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र। सोमलक्षणयुक्त अन्न से प्रसन्न होवो। वह अन्न खाने के पश्चात् तेरे शत्रु निवारण हेतु तथा क्रोध के लिए वह सोम पर्याप्त होवे। वह ﴾सोम﴿ तेरे हृदय के लिए सुखकर होवे।

मन्त्र- आ त्वशत्रवा गहि न्युक्थानि च हूयसे।
उपमे रोचने दिवः।। ﴾8/82/4﴿

पदपाठ- आ। तु। अशत्रो इति। आ। गहि। नि। उक्थानि। च। हूयसे।
उपऽमे। रोचने। दिवः।।

- -

मन्त्रार्थ- हे शत्रुरहित इन्द्र ! तू यज्ञ में स्तावों से निकट बुलाया जाता है, अतः अग्नि से प्रकाशित द्युलोक से (यज्ञ में) शीघ्र आ।

मन्त्र- तुभ्यायमद्रिभिः सुतो गोभिः श्रीतो मदाय कम्।
प्र सोम इन्द्र हूयते।। (8/82/5)

पदपाठ- तुभ्य। अयम्। अद्रिऽभिः। सुतः। गोभिः। श्रीतः। मदाय। कम्।
प्र। सोमः। इन्द्र। हूयते।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! पत्थरों से कूट कर यह (सोम रस) तुम्हारे लिए अभिषुत किया गया है। गोदुग्ध से पकाया हुआ आनन्द हेतु, सुखदायी सोम अग्नि में तेरे लिए हवन किया जाता है, (आकर सोम पी)।

मन्त्र- इन्द्र श्रुधि सु मे हवमस्मे सुतस्य गोमतः।
वि पीतिं तृप्तिमश्नुहि।। (8/82/6)

पदपाठ- इन्द्र। श्रुधि। सु। मे। हवम्। अस्मे इति। सुतस्य। गोऽमतः।
वि। पीतिम्। तृप्तिम्। अश्नुहि।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! मेरी पुकार (ढंग से) सुनो। हमारे द्वारा अभिषुत गोदुग्ध मिश्रित सोम का पान कर और (पीने के पश्चात् विविध प्रकार की) तृप्ति को प्राप्त कर।

मन्त्र- य इन्द्र चमसेष्वा सोमश्चमूषु ते सुतः। पिबेदस्य त्वमीशिषे।।
(8/82/7)

- -

पदपाठ- यः। इन्द्र। चमसेषु। आ। सोमः। चमूषु। ते। सुतः।
पिब। इत्। अस्य। त्वम्। ईशिषे।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! जो सोम चमसों में और (चमस नामक) पात्रों में तेरे लिए अभिषुत है, इसे पीओ। तू इसका स्वामी है, (अतः उसे पी)।

मन्त्र- यो अप्सु चन्द्रमा इव सोमश्चमूषु ददृशे।
पिबेदस्य त्वमीशिषे।। (8/82/8)

पदपाठ- यः। अप्सु। चन्द्रमाःऽइव। सोमः। चमूषु। ददृशे।
पिब। इत्। अस्य। त्वम्। ईशिषे।।

मन्त्रार्थ- (हे इन्द्र !) जो सोम चमूपात्रों में अन्तरिक्ष में चन्द्रमा के सदृश स्पष्ट दिखाई देता है, तू इसका स्वामी है, अतः (इसे पीयो ही)।

मन्त्र- यं ते श्येनः पदाभरत्तिरो रजांस्यस्पृतम्।
पिबेदस्य त्वमीशिषे।। (8/82/9)

पदपाठ- यम्। ते। श्येनः। पदा। आ। अभरत्। तिरः। रजांसि। अस्पृतम्।
पिब। इत्। अस्य। त्वम्। ईशिषे।।

मन्त्रार्थ- (हे इन्द्र !) पक्षि रूप धारी गायत्री मन्त्र ने अन्तरिक्षादि लोकों को तिरस्कृत करते हुए, शत्रुओं द्वारा स्पर्श रहित जिस (सोम) को तुम्हारे लिए पदों से भर दिया, (सवनत्रय से लाए गए सोम को) तू पी। तू इसका स्वामी है।

- -

"ऋग्वेद" अष्टम मण्डल, सूक्त संख्या=93

मन्त्र- उद्घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम्।
अस्तारमेषि सूर्य।। §8/93/1§

पदपाठ- उत्। घ। इत्। अभि। श्रुतऽमघम्। वृषभम्। नर्यऽअपसम्।
अस्तारम्। एषि। सूर्य।।

मन्त्रार्थ- हे तेजस्वी इन्द्र ! तू प्रसिद्ध धन वाले, बलवान्, मनुष्यों के हितकारी कर्मों को करने वाले तथा उदार मनुष्यों के भी कार्य में जाने वाला है।

मन्त्र- नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा।
अहिं च वृत्रहावधीत्।। §8/93/2§

पदपाठ- नव। यः। नवतिम्। पुरः। बिभेद। बाहुऽओजसा।
अहिम्। च। वृत्रऽहा। अवधीत्।।

मन्त्रार्थ- जिस वृत्र को मारने वाले इन्द्र ने अपने बाहुबल से शत्रु की निन्यानबे नगरियों को तोड़ा और अहि का वध किया।

मन्त्र- स न इन्द्रः शिवः सखाश्वावद्गोमद्यवमत्।
उरुधारेव दोहते।। §8/93/3§

पदपाठ- सः। नः। इन्द्रः। शिवः। सखा। अश्वऽवत्। गोऽमत्। यवऽमत्।
उरुधाराऽइव। दोहते।।

- -

मन्त्रार्थ- वह कल्याणकारी मित्र इन्द्र हमारे लिए अश्वयुक्त बहुत दूध देने वाली गोपशु आदि युक्त, धान्य युक्त धन को दुहता है ‖देता है‖।

मन्त्र- यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य।
सर्वं तदिन्द्र ते वशे।। ‖8/93/4‖

पदपाठ- यत्। अद्य। कत्। च। वृत्रऽहन्। उत्ऽअगाः। अभि। सूर्य।
सर्वम्। तत्। इन्द्र। ते। वशे। ।

मन्त्रार्थ- हे वृत्रहतक तेजस्वी इन्द्र। जिस किसी पदार्थ को लक्ष्य करके आज ‖तू‖ उदय हुआ है, हे इन्द्र, वह ‖स्थावरजंगमयुक्त जगत‖ सब तेरे वश में है।

मन्त्र- यद्वा प्रवृद्ध सत्पते न मरा इति मन्यसे।
उतो तत्सत्यमित्तव।। ‖8/93/5‖

पदपाठ- यत्। वा। प्रऽवृद्ध। सत्ऽपते। न। मरै। इति। मन्यसे।
उतो इति। तत्। सत्यम्। इत्। तव।।

मन्त्रार्थ- हे प्रवृद्ध, सज्जनों के पालक इन्द्र। मैं मरने वाला नहीं, ऐसा जो ‖तू‖ मानता है, तेरा वह ‖मानना‖ सत्य ही है।

मन्त्र- ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे।
सर्वांस्ताँ इन्द्र गच्छसि।। ‖8/93/6‖

पदपाठ- ये। सोमासः। पराऽवति। ये। अर्वाऽवति। सुन्विरे।
सर्वान्। तान्। इन्द्र। गच्छसि।।

- -

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र । जो सोमरस अति दूर देश में निचोड़े जाते हैं, जो पास के देश में निचोड़े जाते हैं, उन सभी (सोमरसों) के पास (उनको पीने हेतु) जाता है।

मन्त्र- तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे।
स वृषा वृषभो भुवत्।। (8/93/7)

पदपाठ- तम्। इन्द्रम्। वाजयामसि। महे। वृत्राय। हन्तवे।
सः। वृषा। वृषभः। भुवत्।।

मन्त्रार्थ- उस महान् इन्द्र को वृत्र को मारने हेतु बलवान् बनाते हैं। वह (सोमपान से या स्तुतियों से स्तुत होता हुआ) धनों का दाता अतिशय बलवान् होवे।

मन्त्र- इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः।
द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः।। (8/93/8)

पदपाठ- इन्द्रः। सः। दामने। कृतः। ओजिष्ठः। सः। मदे। हितः।
द्युम्नी। श्लोकी। सः। सोम्यः।।

मन्त्रार्थ- वह इन्द्र स्तोताओं को धनादि दान देने हेतु (प्रजापति के द्वारा) सृजित किया गया है। वह अतिशय ओजस्वी इन्द्र (सदा) सोम के आनन्द में रहता है। वह (इन्द्र) सोम पीने वाला, स्तुत्य, प्रसिद्ध है।

- -

मन्त्र- गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः।
ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः।। {8/93/9}

पदपाठ- गिरा। वज्रः। न। सम्ऽभृतः। सऽबलः। अनपऽच्युतः।
ववक्षे। ऋष्वः। अस्तृतः।।

मन्त्रार्थ- वज्र {आयुध} के समान स्तुति से तीक्ष्ण किया हुआ सबल, अपने स्थान से न हटने वाला, महान् दीप्यमान्, युद्ध में शत्रुओं से अहिंसित, {इन्द्र, स्तोताओं को} धन देता है। -

मन्त्र- दुर्गे चिन्नः सुगं कृधि गृणान इन्द्र गिर्वणः।
त्वं च मघवन्वशः।। {8/93/10}

पदपाठ- दुःऽगे। चित्। नः। सुऽगम्। कृधि। गृणानः। इन्द्र। गिर्वणः।
त्वम्। च। मघऽवन्। वशः।।

मन्त्रार्थ- हे स्तुत्य और ऐश्वर्यवान् इन्द्र ; प्रशंसित होता हुआ तू यदि चाहो तो हमारे लिए दुर्गम मार्ग भी सुगम {सरलता से जाने योग्य} कर {सकते हो}

मन्त्र- यस्य ते नू चिदादिशं न मिनन्ति स्वराज्यम्।
न देवो नाध्रिगुर्जनः।। {8/93/11}

पदपाठ- यस्य। ते। नु। चित्। आऽदिशम्। न। मिनन्ति। स्वऽराज्यम्।
न। देवः। न। अध्रिऽगुः। जनः।।

- -

मन्त्रार्थ- (हे इन्द्र) जिस तेरे आदेश का और स्वराज्य का देव सभी अप्रतिहत गति वाले मनुष्य भी उल्लंघन नहीं कर सके।

मन्त्र- अधा ते अप्रतिष्कुतं देवी शुष्मं सपर्यतः।
उभे सुशिप्र रोदसी।। (8/93/12)

पदपाठ- अध। ते। अप्रतिऽस्कुतम्। देवी इति। शुष्मम्। सपर्यतः।
उभे इति। सुऽशिप्र । रोदसी इति।।

मन्त्रार्थ- हे शोभन शिरस्त्राण धारण करने वाले इन्द्र । दोनों अपने तेज से देदीप्यमान द्यावापृथिवी तेरे शत्रुरहित (अवार्य) बल की पूजा करते हैं।

मन्त्र- त्वमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु च।
परुष्णीषु रुशत्पयः।। (8/93/13)

पदपाठ- त्वम्। एतत्। अधारयः। कृष्णासु। रोहिणीषु। च।
परुष्णीषु। रुशत्। पयः।।

मन्त्रार्थ- (हे इन्द्र ।) तूने (श्री) कृष्ण वर्ण वाली, रोहित (लाल) वर्ण वाली और चितकबरी गायों में इस तेजस्वी दूध को धारण किया।

मन्त्र- वि यदहेरध त्विषो विश्वे देवासो अक्रमुः।
विदन्मृगस्य ताँ अमः।। (8/93/14)

पदपाठ- वि। यत्। अहेः। अध। त्विषः। विश्वे। देवासः। अक्रमुः।
विदत्। मृगस्य। तान्। अमः।।

- -

मन्त्रार्थ- इसके बाद, जब अवन्तव्य वृत्रासुर के तेज से डरकर समस्त देव भाग गए, तब {मृग रूप धारण हुए} वृत्र को एवं {सर्वत्र फैले हुए उसके} [illegible] को जान लिया।

मन्त्र- आदे मे निवरो भुवद्वृत्रहादिष्ट पौंस्यम्।
अजातिशत्रुरस्तृतः।। {8/93/15}

पदपाठ- आत्। ईं इति। मे। निऽवरः। भुवत्। वृत्रऽहा। अदिष्ट। पौंस्यम्।
अजातिऽशत्रुः। अस्तृतः।।

मन्त्रार्थ- उसके बाद ही वृत्रहतक इन्द्र मेरे शत्रु का निवारक बना तथा इन्द्र का पौरुष शत्रुरहित और अपराजेय स्थिर हुआ।

मन्त्र- श्रुतं वो वृत्रहन्तमं प्र शर्धं चर्षणीनाम्।
आ शुषे राधसे महे।। {8/93/16}

पदपाठ- श्रुतम्। वः। वृत्रहन्ऽतमम्। प्र। शर्धम्। चर्षणीनाम्।
आ। शुषे। राधसे। महे।।

मन्त्रार्थ- हे ऋत्विग्! अतिशय वृत्रहतक, बलवान्, मनुष्यों के लिए हितकारी, प्रसिद्ध इन्द्र को {तुम्हारे लिए मैं} प्रभूत धन देता हूँ।

मन्त्र- अया धिया च गव्यया पुरुणामन्पुरुष्टुत।
यत्सोमेसोम आभवः।। {8/93/17}

- -

पदपाठ- अया। धिया। च। गव्यऽया। पुरुऽनामन्। पुरुऽस्तुत।
यत्। सोमेऽसोमे। आ। अभवः।।

मन्त्रार्थ- हे बहुनामधारी तथा बहुप्रशंसित इन्द्र ! जब तू हमारे प्रत्येक सोम यज्ञ में उपस्थित होता है, तब (हम) गायों की कामना वाले, इस बुद्धि से युक्त हो जाते हैं।

मन्त्र- बोधिन्मना इदस्तु नो वृत्रहा भूर्यासुतिः।
शृणोतु शक्र आशिषम्।। (8/93/18)

पदपाठ- बोधित्ऽमनाः। इत्। अस्तु। नः। वृत्रऽहा। भूरिऽआसुतिः।
शृणोतु। शक्रः। आऽशिषम्।।

मन्त्रार्थ- जिसके लिए बहुत देशों में सोम अभिषुत किया गया, ऐसा वृत्रहन्ता इन्द्र हमारे मनों को जानने वाला होवे और संग्राम में शत्रु को मारने में समर्थ इन्द्र, हमारी स्तुतियों को सुने।

मन्त्र- कया त्वं न ऊत्याभि प्र मन्दसे वृषन्।
कया स्तोतृभ्य आ भर ।। (8/93/19)

पदपाठ- कया। त्वम्। नः। ऊत्या। अभि। प्र। मन्दसे। वृषन्।
कया । स्तोतृऽभ्यः। आ। भर।।

मन्त्रार्थ- हे बलवान् इन्द्र ! किस रक्षण शक्ति से हमें चारों ओर आनन्दित करेगा ? और किस शक्ति से स्तोताओं को (प्रभूत धन से) भरेगा?

- -

मन्त्र- कस्य वृषा सुते सचा नियुत्वान्वृषभो रणत्।
वृत्रहा सोमपीतये।। ﴾8/93/20﴿

पदपाठ- कस्य। वृषा। सुते। सचा। नियुत्वान्। वृषभः। रणत्।
वृत्रऽहा। सोमऽपीतये।।

मन्त्रार्थ- शक्तिशाली इन्द्र किस यजमान के यज्ञ में सोमपान के लिए ﴾स्तुति के﴿ साथ आनन्दित होता है ? अपने बल से अत्यन्त मिला लेने वाला मरुत, या अश्व, धनों या जल का वर्षक, वृत्र का वध करने वाला किसके यज्ञ में आनन्दित होता है ?

मन्त्र- अभी षु णस्त्वं रयिं मन्दसानः सहस्रिणम्।
प्रयन्ता बोधि दाशुषे।। ﴾8/93/21﴿

पदपाठ- अभि। सु। नः। त्वम्। रयिम्। मन्दसानः। सहस्रिणम्।
प्रऽयन्ता। बोधि। दाशुषे।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! ﴾हमारे द्वारा प्रदत्त सोम से﴿ आनन्दित होता हुआ तु हजारों तरह के धन हमारे लिए सुगमता से दे और हवि प्रदान करने वाले यजमान के लिए धनादि का प्रदाता या कर्म का नियन्ता जानो।

मन्त्र- पत्नीवन्तः सुता इम उशन्तो यन्ति वीतये।
अपां जग्मिर्निचुम्पुणः।। ﴾8/93/22﴿

- -

पदपाठ- पत्नीऽवन्तः। सुताः। इमे। उशन्तः। यन्ति। वीतये।
अपाम्। जग्मिः। निऽचुम्पुणः।।

मन्त्रार्थ- पालन करने वाले, जलों से युक्त ये निचोड़े गए (सोमरस) देवगण पीएं, ऐसी इच्छा करते हुए बहते हैं। पीने वाले को तृप्त करने वाले ये सोम रस जलों में प्रविष्ट होते हैं।

मन्त्र- इष्टा होत्रा असृक्षतेन्द्रं वृधासो। अध्वरे।
अच्छावभृथमोजसा।। (8/93/23)

पदपाठ- इष्टाः। होत्राः। असृक्षत। इन्द्रम्। वृधासः। अध्वरे।
अच्छ। अवऽभृथम्। ओजसा।।

मन्त्रार्थ- यज्ञ में हवि से इन्द्र को बढ़ाते हुए, इष्ट याग करते हुए सात संख्या वाले होत्रक अपने तेज से इन्द्र को (यज्ञ) के अन्तिम दिन तक ले जाते हैं।

मन्त्र- इह त्या सधमाद्या हरी हिरण्यकेश्या।
वोळ्हामभि प्रयो हितम्।। (8/93/24)

पदपाठ- इह। त्या। सधऽमाद्या। हरी इति। हिरण्यऽकेश्या।
वोळ्हाम्। अभि। प्रयः। हितम्।।

मन्त्रार्थ- इन्द्र के साथ हवियों से संर्पितव्य या संग्राम में साथ-साथ आनन्दित होने वाले, सुनहरे बालों से युक्त (इन्द्र के) दोनों घोड़े इस (यज्ञ) में रखे हुए हवि रूपी अन्न को लक्ष्य करके ले आएं।

- -

मन्त्र- तुभ्यं सोमाः सुता इमे स्तीर्णं बर्हिर्विभावसो।
स्तोतृभ्य इन्द्रमा वह।। {8/93/25}

पदपाठ- तुभ्यम्। सोमाः। सुताः। इमे। स्तीर्णम्। बर्हिः। विभावसो इति। विभाऽवसो।
स्तोतृऽभ्यः। इन्द्रम्। आ। वह।।

मन्त्रार्थ- हे प्रकृष्ट दीप्ति युक्त अग्नि! ये सोमरस तुम्हारे लिए निचोड़े गये हैं
तथा आसन बिछाए गये हैं, तो {तुम} स्तोताओं के लिए इन्द्र को
{सोमपानार्थ} ले आओ।

मन्त्र- आ ते दक्षं वि रोचना दधद्रत्ना वि दाशुषे।
स्तोतृभ्य इन्द्रमर्चत।। {8/93/26}

पदपाठ- आ। ते। दक्षम्। वि। रोचना। दधत्। रत्ना। वि। दाशुषे।
स्तोतृऽभ्यः। इन्द्रम्। अर्चत।।

मन्त्रार्थ- हे ऋत्विक् यजमान! तुम दाता के लिए इन्द्र तेज, बल, रत्नों को
धारण करे तथा हे मनुष्यों, स्तोताओं के लिए इन्द्र की {हवि से,
स्तुति से} पूजा करो।

मन्त्र- आ ते दधामीन्द्रियमुक्था विश्वा शतक्रतो।
स्तोतृभ्य इन्द्र मृळय।। {8/93/27}

पदपाठ- आ। ते। दधामि। इन्द्रियम्। उक्था। विश्वा। शतक्रतो। इति शतऽक्रतो।
स्तोतृऽभ्यः। इन्द्र। मृळय।।

- -

मन्त्रार्थ- हे शतकर्मकर्ता इन्द्र ! (मैं) तेरे लिए शक्तिवर्धक समस्त स्तोत्रों को धारण करता हूँ। हे इन्द्र, (तुम) स्तोताओं को सुखी करो।

मन्त्र- भद्रंभद्रं न आ भरेषमूर्जं शतक्रतो।
यदिन्द्र मृळयासि नः।। (8/93/28)

पदपाठ- भद्रम्ऽभद्रम्। नः। आ। भर। इषम्। ऊर्जम्। शतक्रतो इति शतऽक्रतो।
यत्। इन्द्र। मृळयासि। नः।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! जब तु हमें सुखी करना चाहता है, तब शतशुभकर्मकर्ता इन्द्र, हमें कल्याणकारी अन्न और बल दे।

मन्त्र- स नो विश्वान्या भर सुवितानि शतक्रतो।
यदिन्द्र मृळयासि नः।। (8/93/29)

पदपाठ- सः। नः। विश्वानि। आ। भर। सुवितानि। शतक्रतो इति शतऽक्रतो।
यत्। इन्द्र। मृळयासि। नः।।

मन्त्रार्थ- हे शतशुभकर्मकर्ता इन्द्र ! जब हमें सुखी करना चाहता है, तब तु हमें समस्त सरलता से प्राप्त, मंगलकारी धन (प्रभूत में) दे।

मन्त्र- त्वामिद्वृत्रहन्तम सुतावन्तो हवामहे।
यदिन्द्र मृळयासि नः।। (8/93/30)

पदपाठ- त्वाम्। इत्। वृत्रहन्ऽतम। सुतऽवन्तः। हवामहे।
यत्। इन्द्र। मृळयासि। नः।।

मन्त्रार्थ- हे वृत्रहंता सर्वश्रेष्ठ इन्द्र ! जब सोम का अभिषवन करने वाले §हम§ तुम्हें बुलाते हैं, तब §तू§ हमें सुखी करता है।

मन्त्र- उप नो हरिभिः सुतं याहि मदानां पते।
उप नो हरिभिः सुतम्।। §8/93/31§

पदपाठ- उप। नः। हरिऽभिः। सुतम्। याहि। मदानाम्। पते।
उप। नः। हरिऽभिः। सुतम्।।

मन्त्रार्थ- हे आनन्ददायक सोमों के स्वामी इन्द्र ! घोड़ों के द्वारा हमारे यज्ञ के समीप आ। §सौ, हजार, संख्या में§ अश्वों सहित हमारे सोमयाग में §शीघ्र§ आ।

मन्त्र- द्विता यो वृत्रहन्तमो विद इन्द्रः शतक्रतुः।
उप नो हरिभिः सुतम्।। §8/93/32§

पदपाठ- द्विता। यः। वृत्रहन्ऽतमः। विदे। इन्द्रः।
शतऽक्रतुः। उप नः। हरिऽभिः। सुतम्।।

मन्त्रार्थ- जो वृत्रहतक, शतशुभकर्मकर्ता इन्द्र, दो तरह के मार्ग जानता है। §1. वृत्रवधादि उग्र कर्म और 2. जगत की रक्षा का शान्ति कर्म§ वह इन्द्र घोड़े के साथ, हमारे द्वारा निचोड़े गए § सोमरस§ के पास आए।

मन्त्र- त्वं हि वृत्रहन्नेषां पाता सोमानामसि।
उप नो हरिभिः सुतम्।। §8/93/33§

- -

पदपाठ- त्वम्। हि। वृत्रऽहन्। एषाम्। पाता। सोमानाम्। असि।
उप । नः। हरिऽभिः। सुतम्।।

मन्त्रार्थ- हे वृत्रहतक इन्द्र । तू ही इन सोमरसों को पीने वाला है, अतः
[तू] घोड़े के द्वारा हमारे द्वारा निचोड़े गए सोमरसों के पास आ।

मन्त्र- इन्द्र इषे ददातु न ऋभुक्षणमृभुं रयिम्।
वाजी ददातु वाजिनम्।। [8/93/34]

पदपाठ- इन्द्रः। इषे। ददातु। नः। ऋभुक्षणम्। ऋभुम्। रयिम्।
वाजी। ददातु । वाजिनम्।।

मन्त्रार्थ- इन्द्र हमें यज्ञार्थ या पानार्थ महान् धन को दे। हमें शक्तिशाली धन
प्रदान करे।

- - -

"ऋग्वेद" अष्टम् मण्डल, सूक्त संख्या=96

मन्त्र- अस्मा उषास आतिरन्त याममिन्द्राय नक्तमूर्म्याः सुवाचः।
अस्मा आपो मातरः सप्त तस्थुर्नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः।[8/96/1]

पदपाठ- अस्मै। उषसः। आ। अतिरन्त। यामम्। इन्द्राय। नक्तम्। ऊर्म्याः। सुऽवाचः।
अस्मै। आपः। मातरः। सप्त। तस्थुः। नृऽभ्यः। तराय। सिन्धवः। सुऽपाराः।।

- -

मन्त्रार्थ- इस इन्द्र के कारण ही उषाओं ने अपनी यात्रा बढ़ाई; तथा रात्रि के अपर काल [अर्थात् चौथे पहर] में इन्द्र के लिए शोभन स्तुति की जाती है। जल से भरी हुई सात नदियाँ इसी इन्द्र के कारण स्थिर हैं, मनुष्यों के सुख से तरने के लिए समुद्र सरलता से पार करने योग्य हैं।

मन्त्र- अतिविद्धा विथुरेणा चिदस्रा त्रिः सप्त सानु संहिता गिरीणाम्।
न तद्देवो न मर्त्यस्तुतुर्याद्यानि प्रवृद्धो वृषभश्चकार।। [8/96/2]

पदपाठ- अतिऽविद्धा। विथुरेण। चित्। अस्रा। त्रिः। सप्त। सानु। सम्ऽहिता। गिरीणाम्।
न। तत्। देवः। न। मर्त्यः। तुतुर्यात्। यानि। प्रऽवृद्धः। वृषभः। चकार।।

मन्त्रार्थ- बिना किसी की सहायता के इस इन्द्र ने अकेले ही वज्र से एकत्रित हुए इक्कीस पर्वतों को बेध डाला। वर्षक इन्द्र [या बलवान् इन्द्र] ने सोम पान से प्रवृद्ध होकर जिन पराक्रमों को किया, उनको देव और मनुष्य नहीं कर सकते।

मन्त्र- इन्द्रस्य वज्र आयसो निमिश्ल इन्द्रस्य बाह्वोर्भूयिष्ठमोजः।
शीर्षन्निन्द्रस्य क्रतवो निरेक आसन्नेषन्त श्रुत्या उपाके।।[8/96/3]

पदपाठ- इन्द्रस्य। वज्रः। आयसः। निऽमिश्लः। इन्द्रस्य। बाह्वोः। भूयिष्ठम्। ओजः।
शीर्षन्। इन्द्रस्य। क्रतवः। निरेके। आसन्। आ। ईषन्त। श्रुत्यै। उपाके।।

मन्त्रार्थ- [उक्त गुणोपेत] इन्द्र का वज्र लोहे का बना हुआ है। वह वज्र इन्द्र के हाथों में अत्यन्त बँधा हुआ है।। अतः इन्द्र की भुजाओं में बहुत बल है। युद्धार्थ निकलने पर इन्द्र के मस्तिष्क में पराक्रम के बहुत से विचार रहते हैं, उन विचारों को उसके मुख से पास वाली प्रजाएं सुनना

चाहती है।

मन्त्र- मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां मन्ये त्वा च्यवनमच्युतानाम्।
मन्ये त्वा सत्वनामिन्द्र केतुं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम्।।{8/96/4}

पदपाठ- मन्ये।त्वा।यज्ञियम्।यज्ञियानाम्।मन्ये।त्वा।च्यवनम्।अच्युतानाम्।
मन्ये।त्वा।सत्वनाम्।इन्द्र।केतुम्।मन्ये।त्वा।वृषभम्।चर्षणीनाम्।।

मन्त्रार्थ- {हे इन्द्र।} मैं तुझे पूज्यों में पूज्यतम मानता हूं, तुझे अपने से न डिगने वाले,पर्वतों को डिगाने वाला मानता हूँ। तुम्हें प्राणियों में सबसे अधिक बुद्धिमान मानता हूँ तथा मनुष्यों में सबसे अधिक बलवान तुझे {ही} मानता हूँ।

मन्त्र- आ यद्वज्रं बाह्वोरिन्द्र धत्से मदच्युतमहये हन्तवा उ।
प्र पर्वता अनवन्त प्र गावः प्र ब्रह्माणो अभिनक्षन्त इन्द्रम्।।{8/96/5}

पदपाठ- आ।यत्।वज्रम्।बाह्वोः।इन्द्र।धत्से।मदऽच्युतम्।अहये।हन्तवै।ऊँ इति।
प्र।पर्वताः।अनवन्त।प्र।गावः।प्र।ब्रह्माणः।अभिऽनक्षन्तः।इन्द्रम्।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र। जब शत्रुओं को मदच्युत करने वाला तू अहि नामक असुर को {या मेघ को} मारने के लिए वज्र नामक आयुध बाहों में धारण करता है, तब {उस इन्द्र के सामने} पर्वत {जगत् के पूरक मेघ} झुकते हैं, तथा उस स्थान के जल उच्च ध्वनि करते हैं, तथा विद्वान् इन्द्र की स्तुति करते हैं।

- -

मन्त्र- तमु ष्टवाम य इमा जजान विश्वा जातान्यवराण्यस्मात्।
इन्द्रेण मित्रं दिधिषेम गीर्भिरुपो नमोभिर्वृषभं विशेम।। {8/96/6}

पदपाठ- तम्।ऊँ इति। स्तवाम।यः।इमा।जजान।विश्वा।जातानि।अवराणि।अस्मात्।
इन्द्रेण।मित्रम्।दिधिषेम।गीःऽभिः।उपो इति।नमःऽभिः।वृषभम्।विशेम।।

मन्त्रार्थ- जो इन भूतों को पैदा करता है, उसी की हम स्तुति करते हैं।। समस्त वस्तु जगत इस इन्द्र के बाद उत्पन्न हुए हैं। इसलिए {हम} स्तुतियों के द्वारा इन्द्र के साथ मैत्री स्थापित करें तथा नमस्कारों से {हवियों से} बलशाली इन्द्र के समीप बैठें।

मन्त्र- वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः।
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि।। {8/96/7}

पदपाठ- वृत्रस्य।त्वा।श्वसथात्।ईषमाणाः।विश्वे।देवाः।अजहुः।ये।सखायः।
मरुत्ऽभिः।इन्द्र।सख्यम्।ते।अस्तु।अथ।इमाः।विश्वाः।पृतनाः।जयासि।।

मन्त्रार्थ- {हे इन्द्र।} जो तेरे संग्राम में मित्र थे, वे सब देव वृत्र की गर्जना से डरकर भागते हुए तुझे छोड़ गए। हे इन्द्र, मरुतों के साथ तेरी मित्रता हो। इसके बाद समस्त शत्रुसेना को {अपने बल से} जीत।

मन्त्र- त्रिः षष्टिस्त्वा मरुतो वावृधाना उस्रा इव राशयो यज्ञियासः।
उप त्वेमः कृधि नो भागधेयं शुष्मं त एना हविषा विधेम।। {8/96/8}

पदपाठ- त्रिः।षष्टिः।त्वा।मरुतः।ववृधानाः।उस्राःऽइव।राशयः।यज्ञियासः।
उप।त्वा।आ।इमः।कृधि।नः।भागऽधेयम्।शुष्मम्।ते।एना।हविषा।विधेम।।

मन्त्रार्थ- गायों के झुण्ड के समान संगठित हुए तिरेसठ मरुत तुझे वर्द्धित करते हुए पूज्य हो गए। हम तेरे पास आते हैं। हमें भजनीय धन प्रदान कर। हम सोम की हवि से तेरा बल बढ़ाते हैं।

मन्त्र- ति॒ग्ममायु॑धं म॒रुता॒मनी॑कं॒ कस्त॑ इन्द्र॒ प्रति॒ वज्रं॑ दधर्ष।
अ॒ना॒यु॒धासो॒ असु॑रा अदे॒वाश्च॒क्रेण॒ ताँ अप॑ वप ऋजीषिन्॥ (8/96/9)

पदपाठ- ति॒ग्मम्।आयु॑धम्।म॒रुता॑म्।अनी॑कम्।कः।ते॒।इ॒न्द्र॒।प्रति॑।वज्र॑म्।द॒धर्ष॒।
अ॒ना॒यु॒धासः॑।असु॑राः।अ॒दे॒वाः।च॒क्रेण॑।तान्।अप॑।व॒प॒।ऋ॒जी॒षि॒न्॥

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र! तेरे तीक्ष्ण अस्त्र वज्र का, मरुतों की सेना का, कौन देवता या मनुष्य विरोध कर सकता है? हे सोमवान् इन्द्र, जो आयुध रहित तथा देवों को न मानने वाले असुर हैं, उन्हें चक्र से नष्ट कर दो।

मन्त्र- म॒ह उ॒ग्राय॑ त॒वसे॑ सुवृ॒क्तिं प्रेर॑य शि॒वत॑माय प॒श्वः।
गिर्व॑णसे॒ गिर॒ इन्द्रा॑य पू॒र्वीर्धे॒हि त॒न्वे॑ कु॒विद॒ङ्ग वेद॑त्॥ (8/96/10)

पदपाठ- म॒हे।उ॒ग्राय॑।त॒वसे॑।सु॒ऽवृ॒क्तिम्।प्र।ई॒र॒य॒।शि॒वऽत॑माय।प॒श्वः।
गिर्व॑णसे।गिरः॑।इन्द्रा॑य।पू॒र्वीः।धे॒हि।त॒न्वे॑।कु॒वित्।अ॒ङ्ग।वेद॑त्॥

मन्त्रार्थ- (हे मनुष्य, तू) महान्, वीर, कल्याणकारी इन्द्र के लिए पशु आदि, वृद्धि के लिए सुन्दर स्तुतियों को प्रेरित कर। स्तुतियों के द्वारा स्तुत्य इन्द्र के लिए बहुत (प्राचीन) स्तुतियाँ (धारण) करो, ताकि वह इन्द्र हमारे पुत्र के लिए शीघ्र प्रभूत धन देगा।

नोट- मंत्र "8" में उक्षाइव का सातवलेकर ने "बैलों के झुण्ड के समान" अर्थ किया है। [illegible] ने "[illegible]" अर्थ किया है।

मन्त्र- उक्थवाहसे विभ्वे मनीषां द्रुणा न पारमीरया नदीनाम्।
नि स्पृश धिया तन्वि श्रुतस्य जुष्टतरस्य कुविदंग वेदत्।। ॥8/96/11॥

पदपाठ- उक्थऽवाहसे। विऽभ्वे। मनीषाम्। द्रुणा। न। पारम्। ईरय। नदीनाम्।
नि। स्पृश। धिया। तन्वि। श्रुतस्य। जुष्टऽतरस्य। कुवित्। अंग। वेदत्।।

मन्त्रार्थ- ॥हे मनुष्य॥ जिस प्रकार नाविक नाव से लोगों को नदियों के पार पहुँचाता है, उसी प्रकार स्तुतियों को प्राप्त करने वाले महान् इन्द्र के पास अपनी स्तुति को प्रेरित कर। सर्वत्र प्रसिद्ध तथा सेवनीय इन्द्र के धन को बुद्धिपूर्वक अपने पुत्र के पास पहुँचा। इन्द्र तुझे शीघ्र प्रभूत धन प्राप्त करायेगा।

मन्त्र- तद्विविड्ढि यत्त इन्द्रो जुजोषत्स्तुहि सुष्टुतिं नमसा विवास।
उप भूष जरितर्मा रुवण्यः श्रावया वाचं कुविदंग वेदत्।। ॥8/96/12॥

पदपाठ- तत्। विविड्ढि। यत्। ते। इन्द्रः। जुजोषत्। स्तुहि। सुऽस्तुतिम्। नमसा। आ। विवास।
उप। भूष। जरितः। मा। रुवण्यः। श्रवय। वाचम्। कुवित्। अंग। वेदत्।।

मन्त्रार्थ- ॥हे ऋत्विक्॥ तेरा इन्द्र जिसे स्वीकार करे, उस स्तुति को तू कर। शोभन स्तुति से स्तुति कर। नमस्कार से या हवियों से उसकी परिचर्या कर। हे स्तोता। स्वयं को अलंकृत कर। धनाभाव से मत रो। अपनी प्रार्थना तू इन्द्र को सुना। ॥तब वह तुझे॥ शीघ्र प्रभूत धन प्राप्त करायेगा।

- -

"ऋग्वेद" अष्टम मण्डल, सूक्त संख्या=98

मन्त्र- इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।
धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे।। {8/98/1}

पदपाठ- इन्द्राय। साम। गायत। विप्राय। बृहते। बृहत्।
धर्मऽकृते। विपःऽचिते। पनस्यवे।।

मन्त्रार्थ- {हे मनुष्यों} मेधावी, महान्, धर्म के कर्म करने वाले विद्वान्, स्तुति की इच्छा वाले, इन्द्र के लिए बृहत् साम का गान करो।

मन्त्र- त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः।
विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि।। {8/98/2}

पदपाठ- त्वम्। इन्द्र। अभिऽभूः। असि। त्वम्। सूर्यम्। अरोचयः।।
विश्वऽकर्मा। विश्वऽदेवः। महान्। असि।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र! तू शत्रुओं का पराभवकर्ता है। तूने सूर्य को तेज से प्रकाशित किया, तू विश्व का सृजक, विश्वदेव तथा महान् है।

मन्त्र- विभ्राजञ्ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचनं दिवः।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे।। {8/98/3}

पदपाठ- विऽभ्राजन्। ज्योतिषा। स्वः। अगच्छः। रोचनम्। दिवः।।
देवाः। ते। इन्द्र। सख्याय। येमिरे।।

- -

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! §तु§ अपने तेज से आदित्य को प्रकाशित करते हुए, स्वर्ग को प्रकाशित करते हुए गया। वे सब देवता तुम्हारी मित्रता हेतु स्वयं को नियमित किये।

मन्त्र- एन्द्र नो गधि प्रियः सत्राजिदगोह्यः।
गिरिर्न विश्वतस्पृथुः पतिर्दिवः।। §8/98/4§

पदपाठ- आ। इन्द्र। नः। गधि। प्रियः। सत्राऽजित्। अगोह्यः।
गिरिः। न। विश्वतः। पृथुः। पतिः। दिवः।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! सबसे प्रिय, समस्त शत्रुओं को एक साथ जीतने वाले, जिसे कोई छिपा नहीं सकता, ऐसे पर्वत सदृश, सर्वत्र विस्तृत, द्युलोक §स्वर्ग§ के स्वामी, हमारे §पास§ आओ।

मन्त्र- अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी।
इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः।। §8/98/5§

पदपाठ- अभि। हि। सत्य। सोमऽपाः। उभे इति। बभूथ। रोदसी इति।
इन्द्र। असि। सुन्वतः। वृधः। पतिः। दिवः।।

मन्त्रार्थ- हे सत्य, सोम पीने वाले इन्द्र ! तू दोनों द्यावापृथिवी को सामर्थ्य से पराभूत करता है, §तू§ सोम यज्ञ करने वाले यजमान को बढ़ाने वाला है, और द्युलोक §स्वर्ग§ का स्वामी है।

मन्त्र- त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र दर्ता पुरामसि।
हन्ता दस्योर्मनोर्वृधः पतिर्दिवः।। §8/98/6§

- -

पदपाठ- त्वम्। हि। शश्वतीनाम्। इन्द्र। दर्ता। पुराम्। असि।
हन्ता। दस्योः। मनोः। वृधः। पतिः। दिवः।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! तू शत्रु की बहुत सी नगरियों को तोड़ने वाला है, दस्युजनों को मारने वाला है, मनुष्यों का बर्द्धक है, तथा द्युलोक (स्वर्ग) का स्वामी है।

मन्त्र- अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा कामान्महः ससृज्महे।
उदेव यन्त उदभिः।। (8/98/7)

पदपाठ- अध। हि। इन्द्र। गिर्वणः। उप। त्वा। कामान्। महः। ससृज्महे।
उदाऽइव। यन्तः। उदऽभिः।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! जलों के साथ जाते हुए लोग जैसे जलों के माध्यम से, वैसे ही हम तुमको, बड़ी-बड़ी कामनाओं से निर्मित करें। (तुमसे) संयुक्त होवें।

मन्त्र- वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि।
वावृध्वांसं चिदद्रिवो दिवेदिवे।। (8/98/8)

पदपाठ- वाः। न। त्वा। यव्याभिः। वर्धन्ति। शूर। ब्रह्माणि।
ववृध्वांसम्। चित्। अद्रिऽवः। दिवेऽदिवे।।

मन्त्रार्थ- जैसे नदियों के द्वारा समुद्र बढ़ाया जाता है, उसी प्रकार हे शूरवीर और वज्रधारी इन्द्र ! बढ़ाने योग्य तुझे प्रतिदिन स्तोत्रों से बढ़ाते हैं।

- -

मन्त्र- युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे।
इन्द्रवाहा वचोयुजा।। §8/98/9§

पदपाठ- युञ्जन्ति। हरी इति। इषिरस्य। गाथया। उरौ। रथे। उरुऽयुगे।
इन्द्रऽवाहा। वचःऽयुजा।।

मन्त्रार्थ- गमनशील इन्द्र के महान् धुराओं वाले, विशाल रथ में §स्तोतागण§ इन्द्र को ले जाने वाले, तथा वाणी से जुड़े दो घोड़ों को स्तोत्र से जोड़ते हैं।

मन्त्र- त्वं न इन्द्रा भरँ ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे।
आ वीरं पृतनाषहम्।। §8/98/10§

पदपाठ- त्वम्। नः। इन्द्र। आ। भर। ओजः। नृम्णम्। शतक्रतो इति शतऽक्रतो। विऽचर्षणे।
आ। वीरम्। पृतनाऽसहम्।।

मन्त्रार्थ- हे शतशुभकर्मकर्ता तथा ज्ञानी इन्द्र। तू हमें बल, धन, शत्रुओं को पराजित करने वाले वीर §पुत्र§ दो।

मन्त्र- त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे।।§8/98/11§

पदपाठ- त्वम्। हि। नः। पिता। वसो इति। त्वम्। माता। शतक्रतो इति शतऽक्रतो। बभूविथ।
अध। ते। सुम्नम्। ईमहे।।

- -

मन्त्रार्थ- हे (सबको) बसाने वाले, सैकड़ों यज्ञ करने वाले इन्द्र ! तू ही हमारा पालक (पिता) एवं तू ही माता है, इसलिए (हम) तुझसे सुख माँगते हैं।

मन्त्र- त्वां शुष्मिन्पुरुहूत वाजयन्तमुप ब्रुवे शतक्रतो।
स नो रास्व सुवीर्यम्।। (8/98/12)

पदपाठ- त्वाम्। शुष्मिन्। पुरुऽहूत। वाजऽयन्तम्। उप। ब्रुवे। शतक्रतो इति शतऽक्रतो।
सः। नः। रास्व। सुऽवीर्यम्।।

मन्त्रार्थ- हे बलवान्, बहुतों के द्वारा सहायतार्थ आहूत तथा सौ यज्ञ करने वाले इन्द्र, बल देने वाले, तेरी मैं स्तुति करता हूँ। वह (तू) हमें उत्तम धन (बल) प्रदान कर।

- - -

"ऋग्वेद" दशम मण्डल, सूक्त संख्या=24

मन्त्र- इन्द्र सोममिमं पिब मधुमन्तं चमू सुतम्।
अस्मे रयिं नि धारय वि वो मदे सहस्रिणं पुरूवसो विवक्षसे।।[10/24/1]

पदपाठ- इन्द्र। सोमम्। इयम्। पिब। मधुऽमन्तम्। चमू इति। सुतम्। अस्मे।
इति। रयिम्। नि। धारय। वि। वः। मदे।
सहस्रिणम्। पुरूवसो इति पुरूऽवसो। विवक्षसे।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र! इन प्रसर फलकों के ऊपर [रगड़ कर] तुम्हारे लिए तैयार इस मधुर सोमरस का पान करो। हे बहुधनयुक्त इन्द्र! सौमनस्य विशेष मद में हमें सहस्रसंख्यायुक्त प्रभूत धन दो। [तुम] महान् हो।

मन्त्र- त्वां यज्ञेभिरुक्थैरुप हव्येभिरीमहे।
शचीपते शचीनां वि वो मदे श्रेष्ठं नो धेहि वार्यं विवक्षसे।।[10/24/2]

पदपाठ- त्वाम्। यज्ञेभिः। उक्थैः। उप। हव्येभिः। ईमहे।
शचीऽपते। शचीनाम्। वि। वः। मदे। श्रेष्ठम्। नः। धेहि। वार्यम्। विवक्षसे।।

मन्त्रार्थ- हे शचीपति इन्द्र! हम यज्ञों, मन्त्रों, और होमीय वस्तुओं द्वारा तुम्हारी आराधना करते हैं। [तुम] सब कर्मों के पालक हो, अतः हमें वरणीय प्रशस्तम पशु आदि धन दो। [सौमनस्य] विशेष मद में प्रभूत धन दो। [तुम] महान् हो।

- -

मन्त्र- यस्पतिर्वार्याणामसि रध्रस्य चोदिता।
इन्द्र स्तोतॄणामविता वि वो मदे द्विषो नः पाह्यंहसो विवक्षसे।। §10/24/3§

पदपाठ- यः। पतिः। वार्याणाम्। असि। रध्रस्य। चोदिता।
इन्द्र। स्तोतॄणाम्। अविता। वि। वः। मदे। द्विषः। नः। पाहि। अंहसः।
विवक्षसे।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! जो §तू§ अभिलषित धनों का स्वामी है, आराधक को धनदान आदि कार्यों में नियोजित करने वाला है और स्तोताओं का रक्षक है, §वह तू§ सोमजन्य विशेष मद में शत्रुओं से तथा पाप से हमारी रक्षा कर । §तुम§ महान् हो।

मन्त्र- युवं शक्रा मायाविना समीची निरमन्थतम्।
विमदेन यदीळिता नासत्या निरमन्थतम्।। §10/24/4§

पदपाठ- युवम्। शक्रा। मायाऽविना। समीची इति सम्ऽईची। निः। अमन्थतम्।
विऽमदेन। यत्। ईळिता। नासत्या। निःऽअमन्थतम्।।

मन्त्रार्थ- हे मायावी शत्रुवधादि कार्यों में समर्थ अश्विद्वय, तुम दोनों ने परस्पर मिलकर अग्नि का मंथन किया। हे सत्यरूप, जब विमद ने तुम दोनों की स्तुति की, तब अग्नि को §तुम दोनों ने§ उत्पन्न किया।

मन्त्र- विश्वे देवा अकृपन्त समीच्योर्निष्पतन्त्योः।
नासत्यावब्रुवन् देवाः पुनरा वहतादिति।। §10/24/5§

- -

पदपाठ- विश्वे। देवाः। अकृपन्त। समऽईक्ष्योः। निःऽपतन्त्योः।
नासत्यौ। अब्रुवन्। देवाः। पुनः। आ। वहतात्। इति।।

मन्त्रार्थ- हे अश्विनिद्वय । {आप दोनों के द्वारा अग्निमंथन के समय प्रेरित}
परस्पर संयुक्त दोनों अरणियों के स्फुलिंगों के बाहर किए जाने
पर सभी देवता तुम दोनों की स्तुति करने लगे। अश्विद्वय को
बोले कि पुनः ऐसा करो।

मन्त्र- मधुमन्मे परायणं मधुमत् पुनरायनम्।
ता नो देवा देवतया युवं मधुमतस्कृतम्।। {10/24/6}

पदपाठ- मधुऽमत्। मे। पराऽअयनम्। मधुऽमत्। पुनः। आऽअयनम्।
ता। नः। देवा। देवतया। युवम्। मधुऽमतः। कृतम्।।

मन्त्रार्थ- हे अश्विदेव । मेरा {घर से} बाहर जाना प्रीतियुक्त हो और पुनः
वापस लौटना भी मधुर प्रीतियुक्त हो। हे देव। इसी प्रकार
तुम दोनों अपनी दिव्य शक्ति से हमें मधुरप्रीतियुक्त बनाओ।

प्र

- - -

"ऋग्वेद" दशम् मण्डल, सूक्त संख्या=47

मन्त्र- जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्।
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः।।
{10/47/1}

- -

पदपाठ- जगृभ्म। ते। दक्षिणम्। इन्द्र। हस्तम्। वसुऽयवः। वसुऽपते। वसूनाम्।
विद्म। हि। त्वा। गोऽपतिम्। शूर। गोनाम्। अस्मभ्यम्। चित्रम्।
वृषणम्। रयिम्। दाः।।

मन्त्रार्थ- हे वसुपति इन्द्र ! तेरे दाहिने हाथ को धन की कामना वाले हम ग्रहण करते हैं, हे शूर इन्द्र ! समस्त गौओं के स्वामी करके हम {तुम्हें} जानते हैं। {तू} हमें आश्चर्यकारक, वर्षक {कामनापूरक} धन प्रदान करो।

मन्त्र- स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्।
चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः।। {10/47/2}

पदपाठ- सुऽआयुधम्। सुऽअवसम्। सुऽनीथम्। चतुःऽसमुद्रम्। धरुणम्। रयीणाम्।
चर्कृत्यम्। शंस्यम्। भूरिऽवारम्। अस्मभ्यम्। चित्रम्। वृषणम्। रयिम्। दाः।।

मन्त्रार्थ- शोभन वज्रादि आयुधों से सम्पन्न, उत्तम रक्षक, सुनयन, चारों समुद्रों को यश से व्याप्त करने वाला, बार-बार धनों को धारण करने वाला, प्रशंस्य {स्तुत्य} दुःखों के निवारक {तुझे} हम जानते हैं। {तू} हमें अद्भुत, कामनापूरक धन प्रदान करो।

मन्त्र- सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र।
श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः।। {10/47/3}

पदपाठ- सुऽब्रह्माणम्। देवऽवन्तम्। बृहन्तम्। उरुम्। गभीरम्। पृथुऽबुध्नम्। इन्द्र।
श्रुतऽऋषिम्। उग्रम्। अभिमातिऽसहम्। अस्मभ्यम्। चित्रम्। वृषणम्।
रयिम्। दाः।।

मन्त्रार्थ- हे इन्द्र ! तुझे हम शोभन स्तुतियों से स्तुत्य, देवयुक्त, महान्, व्यापक, गंभीर, विस्तृत, प्रख्यातज्ञानी, तेजस्वी और शत्रु दमनकर्ता जानते हैं। तू हमें पूज्य और बलवान् {पुत्ररूपी} धन दे।

मन्त्र- सनद्वा॑जं॒ विप्र॑वीरं॒ तरु॑त्रं धन॒स्पृतं॑ शूशु॒वांसं॑ सु॒दक्ष॑म्।
दस्यु॒हनं॑ पू॒र्भिद॑मिन्द्र स॒त्यम॒स्मभ्यं॑ चि॒त्रं वृष॑णं र॒यिं दाः॥ {10/47/4}

पदपाठ- सनत्ऽवा॑जम्। विप्र॑ऽवीरम्। तरु॑त्रम्। धन॒ऽस्पृत॑म्। शू॒शु॒ऽवांस॑म्। सु॒ऽदक्ष॑म्। द॒स्यु॒ऽहन॑म्। पूः॒ऽभिद॑म्। इन्द्र। स॒त्यम्। अ॒स्मभ्य॑म्। चि॒त्रम्। वृष॑णम्। र॒यिम्। दाः॥

मन्त्रार्थ- {हे इन्द्र} अन्नयुक्त, मेधावी, तारक, धनपूरक, वर्धमान, उत्कर्षशाली, उत्तम बलयुक्त, शत्रुओं को मारने वाले तथा उनके नगरों को ध्वस्त करने वाले, सत्यकर्मों के संपादक, {तुम्हें} हम जानते हैं। हमें पूज्य, कामनापूरक, {पुत्ररूपी} धन दो।

मन्त्र- अश्वा॑वन्तं र॒थिनं॑ वी॒रव॑न्तं सह॒स्रिणं॑ श॒तिनं॒ वाज॑मिन्द्र।
भ॒द्रव्रा॑तं॒ विप्र॑वीरं स्व॒र्षाम॒स्मभ्यं॑ चि॒त्रं वृष॑णं र॒यिं दाः॥ {10/47/5}

पदपाठ- अश्व॑ऽवन्तम्। र॒थिन॑म्। वी॒रऽव॑न्तम्। स॒ह॒स्रिण॑म्। श॒तिन॑म्। वाज॑म्। इ॒न्द्र।
भ॒द्रऽव्रा॑तम्। विप्र॑ऽवीरम्। स्वः॒ऽसाम्। अ॒स्मभ्य॑म्। चि॒त्रम्। वृष॑णम्। र॒यिम्। दाः॥

मन्त्रार्थ- ﴾हे इन्द्र !﴿ अश्वयुक्त, रथयुक्त, वीर योद्धाओं से संयुक्त, सैकड़ों और हजारों बलवान्, कल्याणकारी सेवकों से युक्त, अत्यन्त श्रेष्ठ, वीर और सबको सुखदाता, ﴾करके﴿ हम तुझे जानते हैं। ﴾तू﴿ हमें अद्भुत और बलवान् ﴾पुत्ररूपी﴿ धन दो।

मन्त्र- प्र। सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां बृहस्पतिं मतिरच्छा जिगाति।
य आंगिरसो नमसोपसद्योऽस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः।।﴾10/47/6﴿

पदपाठ- प्र। सप्तऽगुम्। ऋतऽधीतिम्। सुऽमेधाम्। बृहस्पतिम्। मतिः। अच्छ। जिगाति।
यः। आंगिरसः। नमसा। उपऽसद्यः। अस्मभ्यम्। चित्रम्। वृषणम्। रयिम्। दाः।।

मन्त्रार्थ- सत्यकर्मा, शोभनप्रज्ञ, बृहत् मंत्र के स्वामी, ﴾मुझे﴿ सप्तगु को उत्तम ज्ञानवती बुद्धि प्राप्त हो, जो आंगिरस कुलोत्पन्न ﴾मैं﴿ नमस्कार करके देवों के पास अनुग्रह हेतु गया, अतः ﴾तू﴿ विचित्र और कामना-पूरक ﴾पुत्ररूपी﴿ धन दो।

मन्त्र- वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः।
हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः।।﴾10/47/7

पदपाठ- वनीवानः। मम। दूतासः। इन्द्रम्। स्तोमाः। चरन्ति। सुऽमतीः। इयानाः।
हृदिऽस्पृशः। मनसा। वच्यमानाः। अस्मभ्यम्। चित्रम्। वृषणम्। रयिम्। दाः।।

- -

मन्त्रार्थ- प्रेमयुक्त प्रार्थना से भरी मेरी दूतसदृश स्तुतियाँ सद्बुद्धि की इच्छा करती हुई इन्द्र के ॥पास॥ पहुँचे। ॥ये॥ हृदयस्पर्शी और अन्तःकरण से बोली गई हैं। अतः ॥हे इन्द्र॥ हमें सुखकारी, विचित्र ॥पुत्ररूपी॥ धन दो।

मन्त्र- यत् त्वा यामि दुद्धि तन्न इन्द्र बृहन्तं क्षयमसमं जनानाम्।
अभि तद् द्यावापृथिवी गृणीतामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥ ॥10/47/8

पदपाठ- यत्। त्वा। यामि। दुद्धि। तत्। नः। इन्द्र। बृहन्तम्। क्षयम्। असमम्। जनानाम्।
अभि। तत्। द्यावापृथिवी इति। गृणीताम्। अस्मभ्यम्। चित्रम्। वृषणम्। रयिम्। दाः॥

मन्त्रार्थ- ॥हे इन्द्र॥ ॥मैं॥ तुमसे जो कुछ माँगता हूँ, वह हमें प्रदान कर। विशाल निवास स्थान जो सब लोगों में श्रेष्ठ हो, ॥हमें॥ दे। उस द्यावापृथिवी की प्रजा सर्वत्र स्तुति करे। हमें विचित्र कामनापूरक ॥पुत्ररूपी॥ धन दो।

- - -

"ऋग्वेद" दशम् मण्डल, सूक्त संख्या-119

मन्त्र- इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति।
कुवित्सोमस्यापामिति॥ ॥10/119/1॥

पदपाठ- इति। वै। इति। मे। मनः। गाम्। अश्वम्। सनुयाम्। इति।
कुवित्। सोमस्य। अपाम्। इति॥

- -

मन्त्रार्थ- इस प्रकार मेरा मन करता है कि §मैं§ गौ का, अश्व का §स्तोताओं हेतु§ दान करूँ, क्योंकि कई बार §मैंने§ सोम पान किया है।

मन्त्र- प्र वाता॑इव दोध॑त उन्मा॑ पीता अ॑यंसत।
कुवित्सोम॒स्यापा॒मिति॑।।§10/119/2§

पदपाठ- प्र। वाताः॑ऽइव। दोध॑तः। उत्। मा। पीताः। अ॒यं॒सत॒।
कु॒वित्। सोम॑स्य। अपा॑म्। इति॑।।

मन्त्रार्थ- जैसे वेगवान् वायु वृक्षों को कँपाता है, और ऊपर उठाता है, वैसे ही मेरे द्वारा पान किया गया सोमरस, मुझे कँपाते हुए उछालता है। §मैंने§ कई बार सोमरस पान किया है।

मन्त्र- उन्मा॑ पीता अ॑यंसत र॒थमश्वा॑इवाशवः।
कु॒वित्सोम॒स्यापा॒मिति॑।।§10/119/3§

पदपाठ- उत्। मा॒। पीताः। अ॒यंसत। रथ॑म्। अश्वाः॑ऽइव। आ॒शवः॑।
कु॒वित्। सोम॑स्य। अपा॑म्। इति॑।।

मन्त्रार्थ- जिस प्रकार शीघ्रगामी अश्व रथ को ऊपर उठाकर ले जाते हैं, उसी प्रकार पीए हुए §सोमरस§ मुझे ऊपर उठाकर खींचते हैं। मैंने कई बार सोम पान किया है।

मन्त्र- उप॑ मा म॒तिर॑स्थित वा॒श्रा पु॒त्रमि॑व प्रि॒यम्।
कु॒वित्सोम॒स्यापा॒मिति॑।। §10/119/4§

- -

पदपाठ- उप। मा। मतिः। अस्थित। वाश्रा। पुत्रम्ऽइव। प्रियम्।
कुवित्। सोमस्य। अपाम्। इति।।

मन्त्रार्थ- जिस प्रकार गाय वम्भा शब्द करती हुई पुत्र समान प्रिय बछड़े के प्रति दौड़ती है, उसी प्रकार स्तोताओं की स्तुति मेरी ओर आती है। मैंने कई बार सोम पान किया है।

मन्त्र- अहं तष्टेव वन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम्।
कुवित्सोमस्यापामिति।। §10/119/5§

पदपाठ- अहम्। तष्टाऽइव। वन्धुरम्। परि। अचामि। हृदा। मतिम्।
कुवित्। सोमस्य। अपाम्। इति।।

मन्त्रार्थ- जिस प्रकार शिल्पी रथ के ऊपर का भाग सारथि हेतु स्थान बनाता है, उसी प्रकार मैं भी श्रद्धा से स्तोत्रों को सुनता हूँ। मैंने अनेक बार सोम का पान किया है।

मन्त्र- नहि मे अक्षिपच्चनाच्छान्त्सुः पञ्च कृष्टयः।
कुवित्सोमस्यापामिति।। §10/119/6§

पदपाठ- नहि। मे। अक्षिऽपत्। चन। अच्छान्त्सुः। पञ्च। कृष्टयः।
कुवित्। सोमस्य। अपाम्। इति।।

मन्त्रार्थ- वस प्रकार पञ्चजन §पञ्चवर्णात्मक जगत§ मेरी दृष्टि से क्षण भर भी न दूर हुआ न ढका। क्योंकि मैंने अनेक बार सोम का पान किया है।

- -

मन्त्र- नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति।
कुवित्सोमस्यापामिति।। {10/119/7}

पदपाठ- नहि। मे। रोदसी इति। उभे इति। अन्यम्। पक्षम्। चन। प्रति।
कुवित्। सोमस्य। अपाम्। इति।।

मन्त्रार्थ- द्यावापृथिवी दोनों मेरे एक बाजु के बराबर भी नहीं हैं। अनेक बार मैंने सोम का पान किया है।

मन्त्र- अभि द्यां महिना भुवमभीमां पृथिवीं महीम्।
कुवित्सोमस्यापामिति।। {10/119/8}

पदपाठ- अभि। द्याम्। महिना। भुवम्। अभि। इमाम्। पृथिवीम्। महीम्।
कुवित्। सोमस्य। अपाम्। इति।।

मन्त्रार्थ- मैंने अपनी महिमा से द्युलोक को व्याप्त किया है और इस महती पृथिवी को भी अपने वश में किया है। अनेक बार मैंने सोम का पान किया है।

मन्त्र- हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा।
कुवित्सोमस्यापामिति।। {10/119/9}

पदपाठ- हन्त। अहम्। पृथिवीम्। इमाम्। नि। दधानि। इह। वा। इह। वा।
कुवित्। सोमस्य। अपाम्। इति।।

- -

मन्त्रार्थ- हन्त।मैं इस पृथिवी को यहाँ स्थापित करूँ या अन्तरिक्ष में ? या जहाँ इच्छा हो, वहाँ, रख सकता हूँ। क्योंकि अनेक बार {मैंने} सोम का पान किया है।

मन्त्र - ओषमित्पृथिवीमहं जङ्घनानीह वेह वा।
कुवित्सोमस्यापामिति ।। 10 ।।

पदपाठ- ओषम्। हत्। पृथिवीम्। अहम्। जङ्घनानि।
इह।वा।इह। वा। कुवित्। सोमस्य। अपाम्। इति ।।

मन्त्रार्थ- मैं पृथिवी को अपने तेज से तपाने वाले आदित्य को यहाँ या अन्तरिक्ष में या द्युलोक में जहाँ चाहूँ, वहाँ नष्ट कर सकता हूँ। मैंने अनेक बार सोम का पान किया है।

मन्त्र- दिवि मे अन्यः पक्षोऽधो अन्यमचीकृषम्।
कुवित्सोमस्यापामिति।। {10/119/11}

पदपाठ- दिवि। मे। अन्यः। पक्षः। अधः। अन्यम्। अचीकृषम्।
कुवित्। सोमस्य। अपाम्। इति।

मन्त्रार्थ- मेरा एक भाग द्युलोक में स्थापित है, और दूसरा भाग नीचे पृथिवी पर स्थित है। मैंने कई बार सोम पान किया है।

मन्त्र- अहमस्मि महामहोऽभिनभ्यमुदीषितः।
कुवित्सोमस्यापामिति।। {10/119/12}

- -

पदपाठ- अहम्। अस्मि। महाऽमहः। अभिऽनभ्यम्। उत्ऽईषितः।
कुवित्। सोमस्य। अपाम्। इति।।

मन्त्रार्थ- मैं अन्तरिक्ष में उदित होने वाले सूर्य के समान महान् से महत्तम।हूँ। मैंने अनेक बार सोम का पान किया है।

मन्त्र- गृहो याम्यरंकृतो देवेभ्यो हव्यवाहनः।
कुवित्सोमस्यापामिति।। §10*119/13§

पदपाठ- गृहः। यामि। अरम्ऽकृतः। देवेभ्यः। हव्यऽवाहनः।
कुवित्। सोमस्य। अपाम्। इति।।

मन्त्रार्थ- इन्द्रादि देवों हेतु, हवि ले जाने वाला मैं यजमानों से अलंकृत होकर §हवि ग्रहण करके§ जाता हूँ। मैंने अनेक बार सोम का पान किया है।

- - -

"ऋग्वेदवर्दवदमवलमवलववलवववववववववववववव

मन्त्र- ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये।। §10/162/1§

पदपाठ- ब्रह्मणा। अग्निः। समऽविदानः। रक्षःऽहा। बाधताम्। इतः।
अमीवा। यः। ते। गर्भम्। दुःनामा। योनिम्। आऽशये।।

मन्त्रार्थ- वेदमंत्रों के साथ एकमत, संतुष्ट होकर, §समस्त बाधाएं§ दूर करें। जो रोग दुर्नाम अस्थि में तेरे गर्भ में, योनि में गुप्त रूप से रहता है, राक्षसों का हन्ता अग्नि इस §शरीर§ से समस्त बाधाएं दूर करें।

मन्त्र- यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये।
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत्।। §10×162/2§

पदपाठ- यः। ते। गर्भम्। अमीवा। दुःऽनामा। योनिम्। आऽशये।
अग्निः। तम्। ब्रह्मणा। सह। निः। क्रव्यऽअदम्। अनीनशत्।।

मन्त्रार्थ- जो दुर्नाम नामक रोग तेरे गर्भ एवं योनि में §गुप्तरूप से§ रहते हैं, उस मांस खाने वाले राक्षस रोग को वेदमन्त्रों की सहायता से अग्नि निःशेष करें।

मन्त्र- यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम्।
जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि।। §10×162/3§

पदपाठ- यः। ते। हन्ति। पतयन्तम्। निऽसत्स्नुम्। यः। सरीसृपम्।
जातम्। यः। ते। जिघांसति। तम्। इतः। नाशयामसि।।

मन्त्रार्थ- हे स्त्री ! जो राक्षस रोग तेरे गर्भाशय में जाते हुए वीर्य को गर्भाशय में स्थित होते हुए उस §गर्भ§ का नाश करता है, जो §तीन मास के बाद§ चलन वलन वाले गर्भ का नाश करता है, या जो राक्षस रूपी रोग तेरे §दस मास के बाद§ उत्पन्न हुए बालक को नष्ट करना चाहता है,उसको हम यहाँ से नष्ट कर देते हैं।

- -

"ऋग्वेद" दशम् मण्डल, सूक्त संख्या-162

मन्त्र- यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दंपती शये।
योनिं यो अन्तरारेळिह तमितो नाशयामसि।। §4§

पदपाठ- यः। ते। ऊरू इति। विऽहरति। अन्तरा। दंपती इति दम्ऽपती। शये।
योनिम्। यः। अन्तः। आऽरेळिह। तम्। इतः। नाशयामसि।।

मन्त्रार्थ- हे स्त्री ! जो §गर्भनाश हेतु§ तेरे दोनों जांघों के बीच रहता है और पत्नी पति के मध्य सोता है, जो योनि में गिरे हुए पुरुष के वीर्य को गर्भाशय में प्रविष्ट होकर कर चाट जाता है, उसे हम यहाँ नष्ट करते हैं।

मन्त्र- यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि।। §5§

पदपाठ- यः। त्वा। भ्राता। पतिः। भूत्वा। जारः। भूत्वा। निऽपद्यते।
प्रऽजाम्। यः। ते। जिघांसति। तम्। इतः। नाशयामसि।।

मन्त्रार्थ- §हे स्त्री ! § जो तेरे पास भाई रूप से, पति रूप से या उपपति होकर आता है, और जो तेरी सन्तति को नष्ट करना चाहता है, उसे §मैं§ यहाँ से नष्ट करता हूँ।

मन्त्र- यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि।। §6§

- -

पदपाठ- यः। त्वा। स्वप्नेन। तमसा। मोहयित्वा। निऽपद्यते।
प्रऽजाम्। यः। ते। जिघांसति। तम्। इतः। नाशयामसि।।

मन्त्रार्थ- {हे स्त्री !} जो तुमको स्वप्नावस्था में, निद्रा में या अन्धकार में मुग्ध करके तेरे पास गर्भनाश हेतु आता है, जो तेरी सन्तति नष्ट करना चाहता है, उसे मैं यहाँ से नष्ट करता हूँ।

तृतीय अध्याय

अधीत इन्द्र सूक्तों में प्रयुक्त पदों की व्याकरणिक व्याख्या
(वर्णानुक्रम से) 285-476

अग्नि: 8·12·9

" अञ्चु दीप्तौ " पु० , अग्नि, आग, fire , प्र·वि·ए·व·। "अञ्चु कान्तौ" "चमकना, प्रकाशित होना" अञ्चु + ह > अग्नि, ञ् तथा ग् में स्थान विपर्यय। ग् > ग् = कण्ठ्य: = anoint यद्वा अञ्चु- नि, ञ् लोप, ज् > ग् । 'तु० अङ्गार, अङ्ग, मुख्यत: अग्नि सम्बोधन, अङ्गिरस, अनल, अवर्तुं" प्रकाश" ।

अङ्ग 8·80·3, 6·44·10

{ Particle } है , एव,केवल, सचमुच, Vocative, just, only indeed" प्रिय" सम्बो: प्र·ए·ब· । सं·,पु,· तु० अं· Angel . अञ्चु अपि च अग्नि , अङ्गार, अङ्गिरस ।

अङ्ग -

स·न·-" शरीरावयव" √अञ्चु गतौ > अङ्ग् > अङ्गम् " अन्यत्र"

अङ्गिरस्तम: 1· 100·4

"अञ्चु कान्तौ" -+ इरस् = अङ्गिरस् अङ्गिरस्+ तमप् = अङ्गिरस्तम् अङ्गिरस्तम्+ सु = अङ्गिरस्तम: , प्र०, ए०व० । " ऋषियों में { " पूज्यतम" विशे०, पु०, ।

अङ्गिरोभि: 1· 100·4

" अङ्गन्ति गच्छन्तीति अङ्गिरसो गन्तार:।" " अगि रगि लगि गत्यर्था: । सा· अङ्गिरा अप्सरा: { उ·सू· 4·675-676} इति औणादिक असुन्प्रत्ययो निपात्यते । इदमादिषु सर्वत्र पञ्चम्यर्थे तृतीया ।" तु०वि०, ब०व० ।

अङ्गिरा -

ऋषि विशेष" कुल के लोग". भृगु अङ्गिरस की आग्नेयोत्पत्तिः "

"अञ्च् कान्तौ" ।

अच्छ 6·44·15, 8·93·23

नि० , प्रति-, ओर, समीप, अत्+ श = अच्छ, क्रि०वि०।

"अच्छा" में छान्दसः दीर्घ हुआ है ।

② अच्छ- √द्रु - की ओर, या के समीप भागना । run towards or near to

③ अच्छ √चर् ऽ √गम् or √इ ऽ की ओर जाना, पाना, / to go towards, attain.

अच्युतानाम् 8·96·4

" च्युतिरहितानाम्", सा०, न च्यु गतौ- त, श्च्यु > च्यु

अच्युत - विशे०, पु० , अङ्ग, च्युति रहित , स्थिर, दृढ़, ।

अच्युतानाम् - ष०, ब०व० ।

आ। अजति- 8·45·3

√अज्- नम्र करना,

आजति " नमयति ", सा०,

आ । अजति √अज्,लट्,प्र०पु० , ए० व० ।

अजवसः 2·15·6

" जवहीना दुर्बला सेना: " । सा० जवस्- वेग, शक्ति, swift

जवस् > जवस: fleetness.

न जवस् इति अजवस् " नञ् समास" विशे०, नपु० , द्वि० , बहु व० ।

अजामिम् 6·44·17

√जनि > जन् > जा+ मि, न जामिम् इति अजामिम् "नञ् तत्पुरुष समास" द्वि० , ए० व० । "अज्ञाति", विजातीय ।

अजातशत्रुः 8·93·5

" अनुत्पन्नशत्रुः ", सा०, अ- जात- विशे० , अनुत्पन्न Unborn, not yet born

अजात+ शत्रु = विशे० , शत्रुहीन, अप्रतिम, One who having no enemies, having no adversary (Indra).

अजातशत्रुः - पु० वि० ए०व० । " बहुव्रीहि समास" अजात: शत्रुः यस्य स: § इन्द्रः §

अतिविद्धा 8·96·2

" अतिविद्धानि " सा० अति+ √व्यध् to pierce through.

आर पार बींधना ।

अति-√व्यध् + क्त = अतिविद्ध

पु०वि०, बहु० व० । अतिविद्धानि > अतिविद्धा 'सुप् लोप'

" वेध डाला " " सन्धि के कारण लोप " ।

अत्याः 6·44·19

" सततगामिन: " सा० , क्षिप्रगामी • अतनशील, घोड़ा , a courser, steed .

अत्+ य § √ अत् § पु०, प्र०, ब० व० ।

अथ 2·13·5

अब, तो फिर, क्यों इसलिए, और ।

" निपात "

अर्थयस्व 1·13·13·

" देहि " । अस्मान् संगमयेत्यर्थः । " अर्थ याचने " चुरादिरदन्त आत्मनेपदी । सा॰ √अर्थ , लोट् , आत्मने॰ म॰ पु॰ , ए॰ व॰ ।

अस्ति 2·13·4

"भक्षयति", सा॰, √अद् खाना   to eat, devoure.
परस्मै॰ , लट्, प्र॰ पु॰ , ए॰ व॰ । अदादि॰ ।

अदमान: 6·44·12

" हविषामदातार: " । सा॰

" अदातारो हविषाम् अयज्यवान: " " स्कन्द॰ " " अदातारो अयजमान: "
"वेङ्कट" अ + √दा + शानच्, विशे॰ , (अ + √दा to give) अदाता, not liberal, अदमान: - प्र॰ , ए॰ व॰ ।

अद्रिव: 8·12·4, 8·80·4, 8·98·8 ,

" वज्रवान्निन्द्र ", सा॰ अद्रि: - पत्थर, वज्र, अश्मन्, अद्रि + वत् , (मत्वर्थीय) सम्बो॰, प्र॰ , ए॰ व॰ ।

अदिति: 8·12·14

(1) √धा > √दा – स्थापित करना, धारण करना, + क्तिन् > दाति: > दिति:

तृ० चित, चिति, तृ० अवे० दाइति" नियमपूर्वक निर्मित नदी विशेष" " न दितिः इति अदितिः" नञ् तत्पुरुष समास"
" अदीना देवमाता अखण्डनीय स्तोता", सा०

अद्रिभिः 5·50·1, 8·38·3,

" " ग्रावभिः" सा० , अद् - रि - अद्रि, स० पु० , पाषाण,
वृषद, शिला, पर्वत, मेघ, सोम पीसने का पत्थर ,
stone, mountain thunderbolt, stone of pounding-soma with or granding it.
अ-द्र-इ § √दृ § = अद्रि + भिस् = अद्रिभिः, तृ०, ब०व० ।

अद्स 8·12·30

" असद्" क्रि०वि०प्र०व०पु०,सर्व०, अध्वा- " मार्गः" । सा०,
√ध्व — मार्ग गमने अध्वन् > अध्वा , प्र०, ए० व० । §वैदिक प्रयोग§

अध्रिगुः 8·93·11

" अधृतगमनः संग्रामे त्वरमाणो वीरोऽपि " । सा०,
अध्रि+ √गम् + उ = अध्रिगु , अनवरोध्य, अप्रतिहतगति वाले ,
पु०, विशे० , प्र०वि०, ए० व० ।

अध्रिगुम् 8·12·2

" अधृतगमनमनिवारितगतिमेतत्संज्ञं चर्षिम्" । सा०,
अध्रि+ √गम् + उ , विशे० पु०, द्वि०वि० , ए०व०, षष्ठ्यर्थे द्वितीया, अवाधितगति वाले ऋषि को ।

अधिषवण्या 1·28·2

" उभे अधिषवणफलके " सा० षुञ् अभिषवे, + ल्युट्, " भवे छन्दसि " इति यत् । " उपसर्गात्सुनोति "इति षत्वम् । "तित्स्वरितम्" इति स्वरित: ।

① अधिषवण, नपु०, सोम निकालने के फट्ठे;

② अवधात्, अधि + षवण् + य + आ, नपु०, सोमरस निकालने की चरखी के ऊपर और नीचे के दो भाग ।

अध्वरे 8·12·32,33,31 , 8·93·23

"यज्ञे" (8·12·31) " यागे " (8·12·33) सा०
सं० , पु० ध्वृ ? ध्वृ, √ ध्वर् हिंसायाम्, अ - ध्वर नञ् बहुव्रीहि,
अध्वर > अध्वरे स० वि० एक० यज्ञ में ।

अध्वर्यो 6·44·13

अ - √ ध्वर् - अ (√ ध्वृ)
अध्वर+ यु = अध्वर्यु , विशे०, अध्वरस्थापक, यजमान, पुरोहित,
पु०, सम्बो0, प्र०, ए० व० ।

अध्वा 2·13·2

" मार्ग: " सा०,

√ध्व मार्ग गमने अध्वन् > अध्वा, प्र०, एक्व० ;(नित वैदिक प्रयोग)

अन: 2·15·6

" शकटम् ", सा0 ,
अन् गतौ + असु , " अनस् ", नपु०, प्र० वि०, ए० व० ।

अनन्ध 2·15·7

अन्धा, नेत्रहीन, सं॰ पु॰ प्र॰वि॰, ए॰ व॰ ।

अनपच्युत: 8·93·9

-"परैरपच्युत:", सा॰, अन् + अप + √च्यु + त = अनपच्युत, प्र॰ वि॰, ए॰ व॰, अन् नञ् समास, अपने स्थान से च्युत न होने वाला ।

अनायुधास: 8·96·9

"धनुराद्यायुधवर्जिता:", सा॰, अन् + आयुध, नञ् तत्पुरुष, स॰, विशे॰ प्र॰वि॰, ब॰व॰, वैदिक रूप तु॰ "जनास:" :: नि: शस्त्र, आयुध रहित, उपकरण रहित ।

अनु 2·13·10

"पश्चाद्" निपात ।

अनुष्यदे 2·13·2

"कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वन: " इति केन्प्रत्यय: । सा॰ "अनुष्यन्दनीय:" । अनु+ स्यन्द्- केन्, अव्यय ।

अन्त: 6·44·23

"मध्ये", सा॰ बीच में, निपात ।

अन्तरा · 10·162·4

मध्ये, निपात ।

अन्तरिक्षाणि 2·12·24 अन्तरि-क्ष-अ, नपुं॰, आकाश, प्र॰वि॰, ब॰व॰, अन्तरिक्ष लोकों ।

"अन्तरा क्षान्तानि द्यावापृथिव्योर्वर्तमानानि गन्धर्वादीनां स्थानानिच" सा॰

अन्तम: 8·45·18,

"अन्तिकतम: " सा0, निकटतम्

अन्धेचित् 1·100·8

" आख्यानरहिते चित्तव्यामोहकरेऽपि संग्रामे ", सा0, अन्धे- स0, वि0, ए0व0, अन्धे + चित् अन्धकार में, प्रकाशरहितस्य" अन्ध" ।

अंशो: 2·13·1

"सोमलतायाः", सा0, पु0, ष0वि0, ए0व0, सोम लता का ।

अप:8·12·3

अप्- आप् " वृष्ट्युदकानि", सा0, द्वि0, ब0व0, जलों को ।

अपाम् 6·44·18

" अप्" ष0, ब0व0., " जलों का", " धनों का" । "आप्तव्यानां धनानां वा उदकानां वा। " सा0 .

अपराजिता- 8·38·2

" केनाप्यपराजितौ", सा0, अ- परा- जिता, स्त्री0, ऐशानी दिक्, (अव्यय)

अ + परा + जित, पु0, विशे0 , अजित, स्वयं पराजित न होने वाले , प्र- वि०, द्वि० व० ।

अपरीता: 1·100·3

" परैरनभिगता: दुष्प्रापा इत्यर्थ:" । नञ् + पर + इ + त = अपरीता:, " स्वाधीन" , पु0, ब0व0 ।

अप्रतेन 5·40·6

"अपगतकर्मणा" । सा०, अप - प्रत - विशे०, " दुष्पवित्र से",

तृ०, ए०व० ।

अपश्रितम् · 1·84·14

" अगस्य शिश्रितम्", अप + √ श्रि + क्त = अपश्रित , अपश्रितम् ,

द्वि०, ए०व०,

अप्रति 6·44·14

"स्वयमन्यैरप्रतिगत: शत्रु", सा०, अ- प्रति , विशे०, अजेय,

अधृष्य, अप्रतिम, बिना उत्तर के प्राप्त , irresistible, having no equ

अप्रतिधृष्टशवसम् - 1·84·2

" केनाप्यप्रतिधर्षितबलम् । अविहित बलमित्यर्थ: । " सा० ,

अ + प्रति + धृष्ट, शव + अस् = अप्रतिधृष्टशवस् ।

अप्रतिधृष्टशवसम्- द्वि०, ए०व०, विशे०, अप्रतिहत शक्ति , बल, ।
of irresistible power.

अप्रतिष्कुत: 1·84·7

" स्कु" शब्दे" प्रतिकूल कुर्वते शब्दो यस्य प्रतिष्कुत: । पारस्करा-

देराकृतिगणत्वात् सुट् । सुषामादित्वात् षत्वम् । नञ्समासे अव्ययपूर्व

पदप्रकृतिस्वरत्वम् ।" सा०, न प्रतिष्कुत: इति अप्रतिष्कुत:, नञ् स०,

विशेषण, अवार्य,शत्रुरहित, प्र०,ए०व० ।

अप्रतिष्कुतम् 8·93·12

"स्कु इति सौत्रो धातु: स्तम्भने वर्तते । शत्रुभिरप्रतिरोधनीयं"। सा० ,

अ+ प्रति + √ स्कु - द्वि०, ए०व० , अविध्वंस्य, अवार्य,शत्रुरहित,।
not to be kept off, unrestrained.

अप्रहणम् 6·44·4

" अप्रहन्तारं भक्तानामनुग्राहकं । " सा०, " केनचिदपि प्रहन्तुम-
शक्यम् ", ". स्कन्द० ", अ + प्र + √ हन् + अ = अप्रहन्, पु०, नञ्
समास, अहन्ता, अप्रहारक, विशे०, क्रि०, प० व० ।

अप्स: 8·45·5

"अप्सस्", पु०, प्र, प०व० । " हाथी " ("अप्सस्" (" अप्सस्")

अबधिरम् 8·45·17

" अनुपहतश्रोत्रेन्द्रियम् " सा०, न अधिर: इति अबधिर:, नञ् स०,
क्रि०, प०व० । " बधिरता रहित " ।

अभि 1·84·4

उपसर्ग ।

अभिनभ्यम् 10·119·12

" नाभौ मध्यस्थाने भवं नभ्यमन्तरिक्षम् । " उगवादिभ्यो यत् "
(पा०सू०5·1·2) इति यत्प्रत्यय: । तत्रैव पाठान्नभादेशश्च।
" लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये " (पा०सू०) 2·1·14) इत्यव्ययीभाव: ।
समासस्वर: । अन्तरिक्षमभि। ", सा०, अभि+ नाभ्यम्, अभ्रं के पास,
अन्तरिक्ष में, क्रि०वि०,प्र०,प०व० ।

अभिमातिषाहम्- 10•47•3

' " अभिमातीनां शत्रूणामभिभवितारं हन्तारम् । " अभितो मातीनां हिंसकानां शत्रूनां शत्रूणामभिभविता " अभि+ मातिन्+ सह्+ ण्वि, द्वि०, ए०व० ; पु०, विशे०, शत्रुदमर्कर्ता, शत्रुजेता, ।

अभियुज: 8•45•8

'अभियोक्त्री: प्रजा:', अभि + ✓ युज् + क्विप्, विशे० , अभियोक्ता, आक्रान्ता, ﴾ ऋ० 38•8﴿ ऋघायतो अभियुजो भयन्ते " अभियोक्तार:", द्वि०, ब०व० ।

अभिषेणान् 6•44•17

" अस्मान्प्रत्याभिगता: सेना येषां तादृशानस्मदभिमुखान्। " सा० , अभि + षेण , द्वि०, ब०व०, विशे० ﴾ की ओर तीर चलाने वाला ﴿

अभिष्टये 8•12•4

अभिष्टये "अभिप्राप्त्यै इष्टस्य धनादेरस्माकं लाभायेत्यर्थ:" । अभि+ ✓ अस् भुवि - क्तिन्, अस्ति के " अ" का लोप । ✓ यज् > इष् + क्तिन् = इष्टि, च०, ए० व० । " अभिष्ट की रक्षा के लिए । "

अभ्राणीव 6•44•12

" अभ्राणि+ इव " अभ्- र ﴾ √ नभ् ﴿नपु० , पु०, द्वि०ब०व०, मेघ ﴾ गर्जन ﴿ सदृश ।

अम: 8•93•14•

बल, वेग, उत्त्वणता, शक्ति ; अम्- अ, पु० वि०, ए०व०,पु० विशे० ।

अमत्रेभि:2•14•1

" अमा सहादन्त्यत्र होत्रादय इत्यमत्राणि चमसा: । पात्रों से, पात्रों द्वारा , अमत्रम् - भोजनपात्र, a vessel, अमत्रेभि: = तृ०ब०व०, सा०नपु० ✓ अम् to go where in § अन्यत्र § water goes.

अमित्रान् 6•44•17

न मित्र: इति अमित्र: द्वि०वि०ब०व० , नञ् समास ; शत्रु, विरोधी ।

अमीवा 10•162•1

" रोग", स्त्री० , प्र०वि०ए०व० ।

अमीवहा- 7•55•1

अमीवहा अमीवानां रोगानां नाशक: । पा०, अमीव + ✓ हन्, पु०, ए०व० ।
अमीव- § वा, स्त्री० § बिमारी, कोश , disease अमीव+ हा= रोगनाशक ।

8•80•10 अमृता:

① अ- मृ - त = विशे०, अमर, undying. immortal.
② अ - मृ - त = Immortality अमरता से, अमृत से ।
③ अमृत- जरामरणरहितस्थानम् " तृ०वि०, ए०व०§ वैदिक रूप §

अमृतम् 6•44•6

✓ मृ + क्त = मृत: , न मृत: इति अमृत:, " अमर ", विशे०, नपु०, प्र०वि०, ए०व०, नञ् समास ।

अमृध्र: 8·80·2

"अहिंसक:", सा०, ✓ मृध् हिंसायाम्, न मृध्र: इति अमृध्र:, नञ् तत्पुरुष समास, पु०, प्र० वि०, ए० व०।

अयुद्ध: 8·45·3

न युद्ध: इति अयुद्ध:, नञ् समास ;

युद्ध बिना, प्र० वि०, ए० व०।

अर्चत- 8·93·26, 1·84·5

सा०, "हविभि: स्तुतिभिश्च पूजयत", 8·93·26 सा०, "पूजनं कुरुत" 1·84·5

✓अर्च्-प्रशंसा करना, पूजा करना ; लोट्, परस्मै० प्र०पु०, ब०व०।

अर्जुन 7·55·2

"श्वेत", सा०, ✓अर्ज्- उन (✓ ऋज्) विशे० white, shining.

सम्बो०, प्र०पु०व० ।

अरज्जौ 2·13·9

"रज्जुवर्जिते बन्धनागारे", सा०, रज्जु (✓ सृज् - यु- ✓ सृज्) स्त्री० rope, न रज्जु इतिअरज्जु (नञ् समास) अरज्जु > अरज्जौ- प्र० वि०, ब०व० ।

8·80·8 अरत्नय:

"अरममाणा: शत्रव:", सा०, अ- रत्नि स्त्री०, अरति, खेद, languor विशे०, खेदकर, विरोधी, शत्रु,

प्र० वि०, ब०व० ।

अरम् 8•45•10

"पर्याप्तं", सा०, क्रि० वि०, पर्याप्त रूप में ।

अरंकृत: 10•119•13

"यजमानैरलंकृतो", सा० ," अलंकृत होकर" सजकर, अरं- ✓ कृ + क्त, प्र० वि०, ए०व०, विशे०, पु० ।

अर्वावत: 8•82•1

"समीपस्थांद्देशात्," सा० ," निकट से, सामीप्य, अर्वाक् > अर्वा+ वत्= स्त्री०, पं० वि०,ए०व० ।

अर्वावति 8•93•6

अर्वावति -स्त्री०,स० वि०,ए०व० ," अन्तिकमेदेशे", सा०, " समीप में" ✓ अव् रक्षणे - कृपा करना, अनुग्रह करना, दया करना, सहायता करना,प्रसन्न होना, (.......)

अर्शसानम् 8•12•9

" बाधमानं मन्देहादिकमसुरम्", सा० ✓ ऋष् - अर्श् हिंसायाम्"
✓ अर्श + असान् = द्वि० वि०,ए०व० , किडनवाज, द्रोही, ।
✓ अर्ह् योग्य होना, भ्वादि०, परस्मैपद ।

अर्हति 2•14•2

✓ अर्ह् , लट् , प्र०पु०, ए०व० ।

अराती: 6•44•9

" शत्रुसेना:", सा० ," शत्रुभूता:", स्कन्द०, ✓ रा दाने+ क्तिन् > रातिः " न रात्रिः विद्यते येषां ते अरातय:", नञ् बहुव्रीहि स०, द्वि० वि०, ब० व० ।

अराधसम् - 1·84·8

" हविर्लक्षिन राधसा धनेन रहितम् । अयष्टारम्", सा०, अ+ राध् + अस्- विशे०, अदाता, अनुदार, अराधस्+ अम्- द्वि० वि०,ए०व०।

अविता 8·80·3

✓ अव्, लिट्, प्र०पु०, ए० व० ।

अव 8·80·4

" रक्षणम्", सहायता, कृपा, ✓ अव्+ अस् = अवस्, नपु०, द्वि०,ए०व०।

आव: 2·15·2

✓ अव्, लङ्॰, म०पु०ए०व० ।

अविड्ढ 6·44·19

"गमय", सा० ,यद्वा धनस्य संभजनार्थमस्मान् " पालय", स्कन्द० , " रक्षेति" वेङ्कट,✓ अव् रक्षणे, लोट्, म०पु०, ए०व० ।

अवस्यव: 1·101·1

अवेरौणादिको भावेऽसुन् । अव: इच्छति अवस्यति । सुप आत्मन: क्यच् । " क्याच्छन्दसि " इति उप्रत्यय: ।✓ अव् + असुन् + क्यच्+ उ = प्र० वि०,ब०व० ।

अवसे 8·12·19

" रक्षणाय"," रक्षा के लिए"✓ अव्+ असे,च० वि०,ए०व०।

{तुमर्थ प्रयोग वैदिक}

अवद्यै 8·80·8

" गुहाक:" गर्ह्यम्, निन्दा: ।"

अ - ✓ वद् - य , विशे०, गर्ह्य, ओछा, निकृष्ट; प्र० वि०, प०व०, " निन्दा में" ।

अवंशे 2·15·2

" आकाशे ", सा० "अवंश" स० वि०,प०व० , आकाश में ।

अवभृथम् 8·93·23

" अन्त्यादिवसम्", सा०, (अन्तिम दिन) अव+ भृ+ थम् = नपु०, क्रि० वि०, द्वि० वि०, प०व० ।

अवराणि 8·96·6

" अवरकालीनानि", सा० ,अधस्तन, निचला, इसके बाद, " अवर", प्र० वि०, ब०व०, विशे० । ~~अवराणि~~-+-+00-+0

अशस्ती 1·100·00·

"अशंसनीयान् शत्रून्", सा० , ✓ शंस् प्रशसने+ क्तिन्= शस्ति, नञ्+ शस्ति+ द्वि०,ब०व० ।

आनशे 1·84·6

" अश्नोतेश्च" इति अभ्यासादुत्तरस्य नुट्सा०, ✓ अश् + लिट् , प्र०पु०, प०व० ।

आनशु: 8·12·20,

"व्याप्नुवन्ति", सा० , " अश्नेतोर्व्यत्ययेन परस्मैपदम्। "✓ अश्, लिट्, प्र०पु०,ब०व० ।

अश्नुहि 8·45·22

√अश् पानात, to obtain लोट्, म०पु०, ए०व० ।

अश्नम् 2·14·5

"अश्नाति भक्षयति प्राणिजातमिति" यद्वा अश्नुते स्वतेजसा सर्वं व्याप्नोतीत्यश्नः कश्चिदसुरः । "

✓ अश्+ न = द्वि०,ए०व० ।

अश्मना 2·14·6

" असमसदृशेन वज्रेण", सा० ," अश्मन्" + तृ०वि०, ए०व०,"पाषाण की तरह ।

अशिवस्य 6·44·22

न शिवः इति अशिवः तस्य, नञ् तत्पुरुष समास, ष०वि०, ए०व० ।

अशुषम् 10·101·2

" शोकरहितम् " " शुष शोषणे" । इगुपधलक्षणः कः । शुषाः शोषका न सन्त्यस्येति अशुषः । " परादिश्छन्दसि बहुलम्" इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । सा० ✓ शुष् + क = शुषम्, द्वि०,ए०व०, न शुषमिति अशुषम्, नञ् समास, शुषाः शोषकाः न सन्त्यस्येति अशुषः बहु० समास ।

अश्वाइवाश्वाः 10·119·3

" अश्वा इव क्षिप्रगामिनो", सा०, अश्व, तृ०वि०,ब०व०, शीघ्रगामी अश्वों द्वारा , विशे०, आश्+ उ ✓ अश्, क्षिप्र, शीघ्रगामी, fast quick , going quickly.

8

अश्वावद् 8·93·3

" अश्वयुक्तम् ," सा०, अश्व + वद् § मतुप्§ छान्दस दीर्घ, प्र० वि०, ए०व० , घोड़ों से युक्त ।

अश्वावन्तः 8·45·11

" अश्ववानयम्", सा०, अश्व + वतुप्, विशे०, प्र० वि०, ब०व० ; घोड़ों से युक्त ।

अश्वावन्तम् 10·47·5

" बहुभिरश्वैरुपेतं ," सा०, § अश्वों से युक्त § अश्व + मतुप् अश्व- वन्त्, विशे० , द्वि० वि०, ए०व० ।

अश्व्यानि 6·44·12

" अश्वसम्बन्धीनि", सा० ," अश्वसमूह लक्षणानि§ स्कन्द§ अश्वसमूहान् §वेङ्कट§ अश्व + य , प्र० वि०, ब०व० ।

अस्ति 6·44·2,3

✓ अस्, लट् , प्र० पु०, ए० व० ।

✓ अस् भुवि, अदादि-, परस्मै० ।

असि 6·44·21·12

✓ अस् सत्ता के अर्थ में, लट् ,म०पु०, ए०व० ।

अस्तु 6·44·15 8·93·1

'साधु पाता भवतु', सा०,✓ अस्,लोट्,प्र०पु०,ए० व० ।

8·93·1 अस्तारम् " दानशौण्डमौदार्यवन्तमेतादृशानुभावमभितः" । सा०, 'अस् क्षेपणे',✓ अस् + तृ = अस्तार, द्वि०वि०, ए०व०,उदार को ।

आयस: 8·96·3

" अयसा निर्मित: । अयोमय इत्यर्थ:", सा0 ,अयस् > आयस् - अ विशेषण, प्र0 वि0, प0 व0 ; लोहे का, अयो निर्मित ।

अस्तारम् 8·93·1

" दानशौण्डमौदार्यवन्तमेतादृशानुभावमभित:", सा0 ," असु क्षेपणे " ① √ असु + तृ = अस्तार, द्वि0 वि0, ए0 व0 ; "उदार को"
① √असु + तृ , पु0 (ऋ0 1·64·10) A shooter.

अस्मद् - सर्व0, पु0 ।

अहम् 8·38·10· प्र0 वि0, ए0 व0 ; पु0, सर्व0 ।

अस्मान् 8·80·6, 6·44·9

द्वि0 वि0, ब0 व0 ।

न: 6·44·11, 6·44·18, 8·80·1,2,3,4,5,6,

" अस्मद्, पु0, द्वि0 वि0, ब0 व0 ; हम सबको ।

अस्माकेभि: 1·100·6

अस्माके:, अस्मदीयै: छान्दस प्रयोग तृ0 वि0, ब0 व0 ।

अस्मे 6·44·9

" अस्मभ्यम् " स्कन्द अस्माकम् वेंकट अस्मासु सा0 , च0 वि0, ए0 व0 । प्रसंगानुसार वैदिक प्रयोग ।

अस्मे 6·44·9

अस्मासु, सा0, स0 वि0, ब0 व0, ; हममें ।

अस्मभ्यम्- 6·44·18, 10·47·3

च० वि०, ब०व०, " हमारे लिए" ।

अस्मद् 8·45·37

पं० वि०,ब० व०, इसके द्वारा, इससे ।

अस्माकम् 8·12·17

ष० वि०,ब०व० ; हम लोगोंका " ।

नः 7·55·1

अस्मद् " पु०, ष० वि०,ब०व० ; हम सबके ।

6·44 9 अस्मे " अस्मासु", सा०, स० वि०,ब०व०, हम में ।

अंह: 6·44·16

" पापम् " " अंहस्", प्र० वि०, ए०व० ; ✓ अंह् हिंसायाम्, पाप, पापी, हिंसा, हिंसक , अंह् आगमह, अंहति, अंहुर, तु०- लै० Anguish, danger, anger.

अंहस: 10·24·3

" पापात् ", सा०, अंहस्", स० वि०, ए०व० ; नपु०, पाप से ", अघ - पापकरणे" + अघ् घ > ह, तु० -आगस् ।

अहे: 8·93·14

"अहन्तव्यस्य वृत्रासुरस्य", सा०, " अहि "नामक असुर के " अहि, ष० वि०, ए०व० ।

अह्नवाय्यम् 8·45·27

" अह्नवाय्यनामकं तयोः शत्रुम् ", सा०, ‹ ह्नु› अह्नुव्- आय्यम्

= अह्नवाय्यम् ", विशे०, अप्रत्याख्येय, इन्कार करना, छिपाना, not to be denied or set aside, to keep secret.

द्वि० वि०, ए०व० ।

अह्ये 8·96·5

" अहिनामानमसुरं " मेघं वा ", सा०, " अहि, "च० वि०, ए०व० ;

द्वितीया के लिए चतुर्थी का प्रयोग " अहि नामक असुरको " ‹वैदिक प्रयोग›

आजिम् 8·45·7

" युद्धम् ", सा०, स्पर्धा प्रतिद्वन्दिता, दौड़, आज्- इ ‹ आजिर्नाम गन्तव्यधिभूतः पदार्थः धावनावधिः । पु०, स्त्री०, विशे०, द्वि० वि०, ए०व० ।

आदारिणम् 8·45·13

" आदतारिम् ", सा०, शत्रुओं को मारने वाले, आ + दार् + इन्, द्वि० वि०, ए०व०, विशे० ।

आदित्से 8·12·25

"आत् । इत् । से ", अनन्तरमेव, सा०, आत्, नि०, इसके बाद।

आदिशम् 8·93·11

" आदिशति नयति सर्वत्रानयेत्यादिग्ज्ञलम् " औणादिकः करणे प्रत्ययः । यद्वा आदेश एवादिगाज्ञा । भावे क्विप् । " सा०, आ+√दिश्, स्त्री०, द्वि० वि०, ए०व० ।

आवेश, संकल्प, आकृति, आज्ञा ।

आदिदिशान्- 6·44·17

" आयुधानि पुन: पुनरादिशतो विसृजत: शत्रुंच", सा० आ+ √दिश् + आन, द्वि०वि०,ब०व० ; आदेशित ।

8·12·11 आनुषक् - " आनुपूर्वेण सततं यथा भवति", सा०,आ- नु ✓ षच् समवाये > षच्, संज्ञ+ क्विप् यहा ; आ- अनु- सञ्ज्+ क्विप् ।

क्रि० विशे० ; क्रम से ।

आपि: 8·45·18 - " बन्धु:",सा० ,आप्- इ = आपि,प्र०वि०,ए०व० ;

पु०, आत्मिक, सम्बन्धी, साथी, मित्र ।

आप्त्ये 8·12·16

(1) सं०, पु०,आप्त्य " जलों से उत्पन्न अग्नि के पुत्र", अपां पुत्रे", (शत० ब्रा०)

सा०अप्-त्य > आप्त्य, अवे०-आथ्व्य- एक ऐतिहासिक व्यक्ति ।

आयव:8·12·13

" मनुष्या:", सा०,आ+ ✓ इ गतौ + उ = आयु,प्र०, ब०व० ; गमनशील, बीतने वाला सम्पूर्ण जीवन वर्ष , मनुष्य, एकव्यक्ति विशेष का नाम ।

आयुधानि 6·44·22

" आयुध",प्र०वि०, ब०व० ," शस्त्रों को " वज्रादीनि", सा० ।

आयुधम् 8·96·9

'आयुधस्येऽमेत्यायुधं धनु: ।" सा०, आ- युध्- अ, पु०, नपु० ,द्वि० वि, ए०व० ; अस्त्र को, शस्त्र को ।

आयस: 8·96·3

" अयसा निर्मित: अयोमय वस्त्रार्थ: ।" सा०,अयस् > आयस- अ,

विशेषण, पु० वि०, ए० व० , लोहे का, अयो निर्मित, ।

आरुजम् - 8·45·13

" आभिमुख्येन भङ्क्तारम्", सा०, आ ✓ रुज् - अ, तोड़ना, फाड़ना

विशे०, त्रि० वि०, ए० व० , तोड़ने वाले, ।

आवृत्वत् 8·45·36

" आवर्तनवद्", सा०, आवर्तन युक्त, आ- वृत्- वत् { मतुप् } नपु०,

प्र० वि०, ए० व० ।

आशिषम् - 8·93·18

" अस्मदीयां स्तुतिमाशासनं वा", सा०, आ ✓ शास् > शिष् =

आशिष्, पु० द्वि० वि०, ए०व० , स्तोत्रों को, मन्त्रों को ।

~~8-80·5 ✓ आस्~~

आसनि- 8·12·13 " आस्ये", सा० , मुख में, सं० , नपु०, आसन् > आस्,

स० वि०, ए०व० ।

आसन्निषुन् 1·84·16

" येषामासनि आस्ये मुखप्रदेशे शत्रूणां प्रहरणार्थमिषवो बाणा

बद्धास्तान् ।", सा० , आसन् + इषु , विशे० , मुख में तीरों वाला ,

द्वि० वि०, ब०व० ।

आसुरः 5·40·5

"असुरस्य प्राणापहर्तुरसुर्या वा पुत्रः :", सा०, असुन् राति ददाति इति

असुरः { असुर+ अण् } पु०, प्र० वि०, ए०व० । ✓ आस्- बैठना ।

आसते 8·80·5 ✓ आस्, लट्, म०पु०, ए०व०, आत्मने पद ।

इ ✓ इण् जाना, गमन करना ।

ईयसे 2·13·3 , " सर्वत्र गच्छति", सा०, ✓ इ, आत्मने पद, लट्, प्र०पु०, प०व०, एमि- ✓ इण् गतौ, लट्, उ०पु०, ए०व० ।

एति 8·12·10 , " गच्छति", " सा०, ✓ इण् परस्मै० लट्, प्र०पु०, ए० व० ।

यन्ति 1·100·3

यन्ति " निर्गच्छन्ति", सा०, ✓ इं परस्मैपद, लट्, प्र०पु०, ब०व० ।

एषि 8·93·1

✓इण्, लट्, म०पु०, ए०व० , परस्मै०, अदादि० ।

एमि- ✓ इण् गतौ, लट्, उ०पु०, ए०व० ।

ईमहे 8·45·4

"अभीष्टं याचामहे", सा०, ✓ इण्, अदादि आ०, लट्, उ०पु०, ब०व०।

उद् अगा: 8·93·4

"इण गतौ। उत्पूर्व: । तस्य लुङि गादेश: ।" सा०, उद्✓ इण्, लुङ्, प्र०पु०, ए०व० , उदय हुआ ।

इत: 1·162·4

यहाँ से, इदम्+ तसिल्, क्रिया विशे०, अव्यय पद ।

इत् 1·28·1 "निपात्"

इत्था 1·84·15

" इत्यमनेनप्रकारेण", सा० ," इदम्", तृ० वि०, ए०व०," वैदिक रूप " ।

'इदम्' शब्द रूप

इमम् 8·12·4,5 सर्व: " इदम्", पु0, द्वि0 वि0, ए, व0 ; " अस्मदीयम्", सा0 . "इसको" ।

इमे 8·45·16 (8·93·25) सर्व: " इदम्" पु0, प्र0 वि, ब0व0 ; " ये सब " ।

अस्मा 8·96·1 पु0 " इदम्" च0 वि0, ए0व0 । " इसके-लिए-"

अस्मै 6·44·14 पु0 ," इदम् ", च0 वि0 , ए0 व0 ; इसके लिए " ।

अस्मात् 8·96·25, 6·96·6

पं0 वि0, ए0व0 , पु0, सर्व, , इससे ।

अस्य 6·44·4, 13 8·12·7, 21

पु0 ," इदम्", ष0 वि0, ए0 व0 ; " इसका" ।

इमाम् 8·12·31

सर्व, इदम् स्त्री0, द्वि0 वि0, ए0व0 ; " इसको " ।

आसु इदम् ,स्त्री0 6·44·18

" इदम्", स्त्री0 , स0 वि0,ब0व0 ।

इदम्-नपु0 8·38·3 ------सर्वनाम, नपु0, प्र0 वि0, ए0व0 ; " यह " ।

इमा 8·96·6 " इमानि", सा0, नपु0, प्र0 वि0,ब0व0 ; सुप् लोप ।

इन्दुः 6·44·21

इन्द्-उ (=विन्दु) बूँद, चन्द्र, चाँद" सोम:", सा0प्र0 वि0, ए0व0 ।

इन्दव: 8·45·14

प्र0 वि0, ब0व0 ।

इन्दुभि: 6·12·16,17

तृ०वि०,ब०व०,"सोमै:", सा०, " सोम से"

इन्द्र- 6·44·1, 8·98·2·3·4·

इन्द्- र ,पु०, सम्बो०, ए०व० ।

इन्द्रम् - द्वि०वि०, ए०व० ।

इन्द्रेण 1·84·10

"इन्द्र", तृ० वि०, ए०व०, " इन्द्र के द्वारा" ।

इन्द्राय 8·45·21 , 6·44·13 8·96·10

"इन्द्र", च०वि०, ए०व०,"इन्द्र के लिए " ।

इन्द्रस्य 1·84·11, 7·55·4,3, 6·44·16

"इन्द्र", ष०वि०,ए०व०," इन्द्र का" ।

इन्द्राग्न्यो: 8·38·10

इन्द्रश्च अग्निश्च इन्द्राग्नी: [द्वन्द समास] ष०वि०, द्वि०व०।

इन्द्रियम् 8·93·27

" वीर्यवन्तं सोमम्", सा० ,

① इन्द्र- इय=, वि०, इन्द्र सम्बन्धी, इन्द्र के लिए हितकर , उचित या प्रीतिकर ।

② नपु० ,इन्द्र की शक्ति, विशेषता, वीर्य और सामर्थ्य. ।

③ अन्य देवताओं की इन्द्र के समान शक्ति, प्र०वि०,ए०व० ।

इन्द्रपत्नीः 8·96·10

इन्द्रस्य पत्नी इति इन्द्रपत्नी, ष० तत्पु० समास, स्त्री० ।

इन्द्रपानम् 6·44·6

" इन्द्रस्य पानार्हम्", सा०, नपु०, प्र० वि०, ए०व० ; " इन्द्र का पेय" इन्द्रस्य पानम् इति इन्द्रपानम् (षष्ठी तत्पुरुष समास) ।

इन्द्रवाहा 8·98·9

"इन्द्रस्य वाहकभूतौ", सा० ; " इन्द्र को वहन करने वाला";

इन्द्र-वाह् , द्वि० वि०, द्वि०व० , वैदिक रूप (षष्ठी तत्पुरुष समास)

इन्धते 8·45·1

√ इ-न्ध् आत्मने० लट्, प्र०पु०, ब०व० ; रुधादि गण, प्रज्वलित करते हैं ।

इन्धे 2·15·4 √ इन्ध् √ इध् वत, सा०, ए०व० , प्रज्वलित करना ।

इभाय 1·84·17 " गजाय " ," इभ " च० वि०, ए०व० , पु० ," हाथी के लिए"

इरस्या 5·40·7

"अग्निइच्छया", सा० ," अग्नि की इच्छा से", "इरस्" - या, तृ० वि०, ए०व० , स्त्री० ।

"√ इष् इच्छायाम्", तुदादि० ।

इच्छन् 1·84·14

" इषु इच्छायाम्" तुदादित्वात् शप्रत्ययः । ", सा०, √ इष् + शतृ, प्र० वि०, ए०व० ; चाहता हुआ ।

8·96·7 इषमाणाः: " सर्वतः पलायमानाः", सा०, √ इष् गतौ + शानच्, पु०, प्र० वि०, ब०व० ।

इषिरस्य 8·96·9

"गमनशीलस्य", सा०, ✓ इष् गतौ, क०वि०, प०व०; इषिः अस्य ।

इन्धते 8·43·?4 ✓ इन्ध् आत्मने०, लट्, प्र०पु०, ब०व० ; रुधादि गण, प्रज्वलित करते हैं ।

ई ✓ईड् ईट्टे - "ईड् स्तुतौ" अदादित्वात् शपो लुक् । सा०, ✓ ईड्, लट्, प्र०पु०, ए०व०, अदादि० ।

ईळिता- 10·24·4

ईळिता ✓ इड्-क्त = इळित > इळिता, " वैदिकरूप, " विशे०, प्र०वि०, द्वि०व० ; " स्तुति की " ।

ईम् 2·15·5 'एनाम्'; निपात ।

ईशिषे 2·13·6 " स्वामी भवसि", सा० , " ईशः से", इडागमः ।

✓ईश्, लट्, म०पु०, ए०व०, वैदिक प्रयोग ।

ईशे 1·100·7 - "ईष्टे" " ईश ऐश्वर्ये लोपस्त आत्मनेपदेषु इति तलोपः" ।, सा०, ✓ ईश्, लट् प्र०पु०, ए०व० , आत्मने पद ।

ईशानः 1·84·7 "सर्वस्य जगतः स्वामी भवति ।" सा०, ✓ ईश् § चानश् § + आन, प्र०वि०, ए०व० ।

ईषते 1·84·17 "ईषगतिहिंसादर्शनेषु" भौवादिक आत्मनेपदी । सा०, ✓ ईष्, लट्, प्र०पु०, ए०व० ।

इषितः 10·119·12 ✓ ईष्+ क्त, = इषितः प्र०वि०, ए०व० ; " इच्छित होने वाले" ।

"उक्थ"

उक्थानि 1·84·3, 8·82·4

" स्तोत्राणि" सा० { स्तोत्रों " उक्- थ} ✓ वच् { स्तुति, स्तोत्र, शस्त्र, नपु०, प्र० वि०, ब० व० ।

उक्थम् 1·100·4 "वच् परिभाषणे" "पातॄतुदिवचि" इत्यादिना कर्मणि थक् "वचिस्वपि" इत्यादिना संप्रसारणम् ✓ वच् कर्मणि थक्, वच् > उक् + थक्, द्वि० वि०, ए० व० ; "स्तोत्र को" ।

उक्था 8·93·27 " स्तोत्राणि," सा०, स्तोत्रों को, " उक्थ", नपु०, द्वि० वि०, ब० व० ; " उक्थानि " के "नि" का लोप है ।

उक्थैः 10·24·2

" स्तोत्रैः," सा० ", स्तोत्रों से", "उक्थ", नपु०, तृ० वि०, ब० व० ।

उक्थस्य 6·44·6 " स्तोत्रस्य ", सा० ," उक्थ, नपु०, ष० वि०, ए० व० ; स्तोत्र का " ।

उक्थेषु 6·45·29

"शस्त्रेषु", सा०, शास्त्रों में, स० वि०, ब० व० ।

उक्थ्यः 2·13·4 " प्रशस्यम्", सा०, शस्त्र-योग्य, स्तुत्य , प्रशंसनीय ; उक्थ - य = उक्थ्यः , प्र० वि०, ए० व० ।

उग्रः 8·45·4 " उद्‌गूर्णबलाः", सा०, शूर, वीर, बलवान् । " उग्र" ✓ वच् > उग् + र = उग्र, विशे० , प्र० वि०, ब० व० ।

उग्रम् 1·84·9, 10·47·3 "उग्र", द्वि० वि०, ए० व० , वीर को ।

उग्रात् 8·45·35 " उग्र", पं० वि०, ए० व०, वीर से ।

उद् 1·28·9 "उपसर्ग"।

उत्सम् 6·44·24 ✓ उन्द् क्लेदने, उद्- उन्द्- स > उत्स, त्रि० वि०, प०व०;
"उत्सरणशीलं पयः," सा०, प्रवाह।

उदभिः 8·98·7 "उदकैः," सा० ," उदन्", स्त्री०, तृ० वि०, ब०व०,
पानी से, जलों से, लहरों से।

उदेव 8·98·7 उदाऽइव "यथोदकेन", सा०, विशे० ,जल की भाँति।

उप 8·93·31· 7·55·1, 1·84·20 (आदरार्थ 8·93·31)
निपात, के समीप, ओर, ऊपर, पर।

उपमम् 8·80·5 "अन्तिकनामैतत्", सा० ,त्रि० वि०, प०व०।

उपसद्य 10·47·6 "उपसदनीयः," सा०,उप +√सद+य "बैठने योग्य,
समीपता प्राप्त करने योग्य।

उपस्तृणीषणि 6·44·6 "उपस्तरणीयम्"। उपेत्य विस्तरणीयम्। सा०,
उप+ ✓ स्तृ- क्षणि, प्र०वि०, प०व०, "बिछाने के लिए।

उपहस्वान: 8·45·23 "उपहसनपराश्च", सा०,उप+√हस् + वन् =
उपहस्वानः,प्र०वि०,प०व० ; वन्‌§ मत्वर्थीय§ उपहास करने वाले"।

उपाके 8·96·3 "अन्तिके," सा० "समीप में" उप ✓ कृ = उपाकः>
उपाके, स०वि०,प०व०।

उभे 8·93·12 "उभ,"प्र०वि०, द्वि०व० ; स्त्री०।

उभा 10·86·14 उभौ का "उभा" वैदिक रूप , प्र०,द्वि०वि०, द्वि०व०।

उरु 8· 93· 3 § प्रभूतयशा बहुना§ सा०,उर+ उ §√वृ§ विस्तृत, अधिक,
विपुल, महान् ; वि० विशे०।

उरौ 8·98·9 प्र०,द्वि०व० ; "महति", सा०, महान्।

उरुष्या 6·44·7 " रक्षणेच्छया ," सा0 ," पालनेच्छया पायुः पालयिता अभवत् भवति । स्कन्द0, उरुष् + अङ् + टा = उरुष्या, स्त्री0, सहायता करने की इच्छा ", तृ0वि0, ए0व0 ।

उर्वी 8·80·8 विशाल, विस्तृत प्रभूत ॥ धन ॥ उर्व ॥ वु ॥ + ई, स्त्री0, विशे0 ।

उलूखल 1·28·1 " उलूखलेन ," सा0 ," कर्मणिसृ, तीया " उरू- खन्- अ = उरू+ उखल, नपु0, तृ0वि0, ए0व0 , ओखल के द्वारा ।

उलूखलक 1·28·5 – नपु0, छोटी ओखली, सम्बो0, प्र0, ए0व0 ।

उलूखलमुरुकरं वोरुर्करं वोर्ककरं वोरु में कुर्विद्यब्रवीत्तदु-लूखलमभवदुरुकरं वै तत्तदुलूखलमित्याचक्षते परोक्षेणेति च ब्राह्मणम् " ॥ निरु 0–9·20॥

उलूखलसुतानाम् 1·28·1 " उलूखलेनाभिषुतानां रसम् ", सा0 ," ओखली से निचोड़ा गया रस " , उलूखलेन सुतानाम्, तृ0 तत्पुरुष समास, ष0 वि0, ब0व0 ।

उशन्तः 8·93·22 " आत्मनः पानं कामयमानाः सन्तः ", सा0, √ वश् ॥√ वश् ॥ + शतृ = उशत् > उशन्तः, प्र वि0, ब0व0 ; विशे0 " इच्छा करते हुए ।

उश्मसि 8·80·9, 8·45·20 : " कामयामहे ", सा0, √ वश् > √ उश्, लट्, उ0पु0, ब0व0 ; वैदिक रूप ," वैकल्पिक रूप, कर्तानुसार वैदिक विभक्ति प्रयोग " ।

उषसः 6·24·23 √ उष् दाहे कान्तौ, स्त्री0, प्र0वि0, ब0व0 √उष्+ असु = " उषस् " , उषा काल, प्रातः कालीन सूर्योदय, प्रकाशाधिष्ठात्री

उषास 8·96·1 "उषस्", प्र० वि०,ब०व० ," छान्दस दीर्घ", उषस: ,उषाओं ने ।

"ऊ"

ऊतय: 184·20 "गन्तार: । यद्वा ऊतय: इत्यत्र वर्णलोप: । ऊतय: कम्पयितार: । सा०,√ अव् रक्षणे, प्र० वि०,ब०व० , "रक्षाएं" ।

ऊत्या 8·93·19 "अव रक्षणादिषु गत्यर्थे । "ऊतियूति" इत्यादिना निपातित: । " सा०,√ अव्+ ति,ऊति, स्त्री० , रक्षण शक्ति से, तृ० वि०,ए०व० ।

ऊतिभि: 6·44·3 तृ० वि०,ब०व० ," रक्षाओं से" ।

ऊतये 8·58·9 "रक्षणाय", सा० ,च० वि०,ए०व० ", रक्षा के लिए " ।

ऊती 1·100,1 √ अव्+क्तिन् = ऊती ," ऊतये, रक्षणाय", सा०, च० वि०,ए०व० , "ऊतये" के स्थान पर ऊती का वैदिक प्रयोग ।

ऊध: 2·14·10 "ऊधस्", प्र० वि०,ए०व०, नपु०, थन है गायका थन है ।

ऊर्जम् 8·93·28 "अन्नरसं यद्वा बलवदन्नम्", सा० ,ऊर्जति बलयति प्राणयति वा । "ऊर्ज बल,प्राणनयो:" कर्तरि क्विप् । ऊर्ज् > ऊर्ज् + क्विप् = ऊर्ज्, द्वि० वि०,ए०व० ।

ऊर्जयन्त्या: 2·13·8 " "बलवत्या धारायाः", सा०,√ ऊर्ज् + शतृ + ई = ~~"अन्नरसं " यद्वा बलवदन्नम्" सा० ऊर्जति बलयति प्राणयति वा ।~~ ~~" ऊर्ज बल प्राणनयो: " कर्तरि क्विप् । ऊर्ज् ऊर्ज् + क्विप् = ऊर्ज्~~ ष० वि०,ए०व० स्त्री० ,(ऊर्जयन्ती > ऊर्जयन्त्या:)

<u>ऊर्णुत</u> 2·14·3 " ऊर्णुञ् आच्छादने ।" आदादिक: । लोटि रूपम् । सा०,

√ ऊर्णुञ् (√ वृ) ढकना, लोट् , म०पु०,ब०व० ।

<u>ऊर्दरम्</u> 2·14·11 " ऊर्ध्वं दीर्णमुदरं कुसूलम्",सा०,ऊर्दर (उरु दर) पु०,

कुठला, हारा, क्रि०वि०,ए०व० ।

<u>ऊर्ध्वा</u> 8·45·12 " ऊर्ध्वानि मुख्यानि ," सा० ,

√ वृध वृद्धौ > ऊर्ध्व ऊर्ध्वानि का वैदिक रूप ऊर्ध्वा है ।

ऊर्ध्व + नपु० ,प्र०वि०,ब०व० ; क्रि०विशे० , ऊपर को ।

<u>ऊर्मय:</u> न 6·44·20 " सामुद्रस्तरङ्गा इव ", सा०,√ वृ >ऊर्-मि (प्रवृद्ध

जलम् , जलसंघो वा) पु०, लहर, प्र०वि०,ब०व० ।

<u>ऊर्म्या:</u> 8·96·1 " रात्रिनामैतद्" "ऋ गतिप्रापणयो:". " अर्तेरूः च"

(उ०सू० 4· 484) इति मि प्रत्यय: । भवे छन्दसि" इति यत् ।

ऊर्- मि, स्त्री०,ष०वि०,ए०व० , वैदिक प्रयोग ।

"ऋ "

√ ऋ गतौ चलना, चलाना । प्रेरयति प्रगमयति "

<u>ईर्यर्ति</u> 6·44·12 , 8·12·31 "उदीरयति ," उद्गमयति",सा०,

√ ऋ,परस्मै० , लट्०,प्र०पु०, ए०व० ।

<u>ऐरद्</u> 2·15·8 " "उद्घाटितवान्",सा०,√ ऋगतौ > ईर् ,लङ्०, प्र०पु०,

ए०व० ।

<u>अरिणात्</u> 2·15·6 " उदङ्मुखमकरोत् ," सा०,√ ऋ+णिच्, लङ्०, प्र०पु०,

ए०व० ; " बहाया" ।

आरित: 1·104·4 – " ऋ गतौ " अस्मात् ण्यन्तात् निष्ठा । आगमानुशासनस्यानित्यत्वात् पुगभावः । यद्वा " सुचिसूत्रिमूत्र्यट्यर्त्यशूर्णोतीनाम् (पा०म०उ० 1·22·3) इति विहितस्य यङः " यङोऽपि च " इत्यत्र च शब्देन बहुलग्रहणानुकर्षणादनैमित्तिके लुकि प्रत्ययलक्षणेन " सन्यङोः "इति ऋ इत्येतस्य द्विर्वचने उरदत्वहलादिशेषयोः सतोः " रुग्रिकौ च लुकि " इति रुक् । ततो निष्ठायां छान्दस इडागमः । ऋकारस्य यणादेशः । रोरि इति अभ्यासरेफलोपः । " ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः " इति दीर्घत्वम् । आ + √ ऋ णिच् + क्त = आरितः, प्र० वि०, ए०व०, सा० ; जिसके पास पहुँचा जाय ।

आरेकिह 10·162·4 – निर्विशक्तं रेतो जिह्वया आस्वादयति । भक्षयतीत्यर्थः । " लिह आस्वादने " आदादिकः । कपिलकादित्वात्लत्वविकल्पः । ऋ गतौ > आर, स०, ए०व० > आरे, आरे लिहति इति, आरेलिह् + क्विप्, प्र० वि०, ए०व० ।

ऋग्मी 1· 100·4 – " अर्चनीयो भवति ", सा० ऋक् > ऋग् + मत्वर्थी मिनी प्र०, प्र० वि०, ए०व० ; + क्विप्, पूजाजाता है ।

ऋग्मिभिः 1·100·4 √ ऋक् क्विप् > मत्वर्थीय मिनिः > ऋग्, तृ० वि०, ब०व०, " ऋच स्तुतौ " संपदादिलक्षणो भावे क्विप् । मत्वर्थीयो मिनिः । पदत्वात् कुत्वं जश्त्वं च । सा० .

ऋञ्जसे " स्तुयसे ," सा०, 8·38·10 – √ ऋच् आत्मने॰ लट्, प्र०पु०, ए०व० ; स्तुत कियाजाता है ।

ऋजीषी 5•40•4 – " सवनद्वयेऽभिषुतस्य गतसोमस्य तृतीयसवने आप्याया-
भिषुत: योऽस्ति स ऋजीष: सोम: । सोऽस्यास्तीत्यृजीषी ।"
सा०, ऋजीष शब्देन निष्पिष्टो विगतसार: सोमोऽभिधीयते ।
ऋजीष + इन् = ऋजीषिन्, निचुड़ने के बाद अवशिष्ट सीठी, प्र०
वि०, ए०व० ।

ऋणधत् 1•84•16 – " समर्धयति स्तौतीति यावत् । ऋधु वृद्धौ। लेटि
व्यत्ययेन श्नम् लेटोऽडाटौ इति अडागम: । " इतश्च लोप:"
इति इकारलोप: । सा० √ ऋधु लेट् , प्र०पु०, ए०व० ।

ऋतस्य 8•12•14• – " यज्ञस्य", सा०, शाश्वत नियम यज्ञ का, के , विशे०,
1. 84. 4
नपु०, ष॰ वि॰, ए॰ व॰ ।

ऋत 1•84•4 – § ~~ऋत , वि०ए०व०~~ ।

ऋतस्य 1•84•16 – " गच्छत: इन्द्रसम्बन्धिनो रथस्य", सा०, √ ऋ गतौ"
ऋत, ष॰ वि॰, ए॰ व॰, (जाते हुए इन्द्र सम्बन्धी रथ के)

10. 47. 6
ऋतधीतिम् – ऋत- शाश्वत नियम √ धी + ति = धीति , ऋत + धीति,
द्वि० वि०, ए०व० , 'सत्य कर्माणम्' सा०, विशे०, पवित्र विचार वाला ।

ऋतीषह: 8•45•35 – " शत्रुकृतां हिंसां सहत: ," सा०, √ ऋति > ऋती +
सह् + क्विप्, पं० वि०, ए०व० , शत्रुओं को पराजित करने वाले ।

ऋतुभि: 1•84•18 – " वसन्तादिकालैरुपलक्षितेन", सा०, "ऋतु" तृ०
वि०, ब०व० , ऋतुओं के द्वारा ।

ऋत्वियावती 8•12•10 – " ऋतौ वसन्तादिकालेऽनुष्ठेयं यज्ञकर्म ऋत्वियम्
तद्वती । " सा०, ऋतु > ऋत्विय + वत् + ई, स्त्री०, वसन्तादि
काल में अनुष्ठेय यज्ञ कर्म में स्तुत ।

ऋभ्वा 1·100.12 - " उरु भासमानो महान् वा", सा0 ," ऋभ्वन्"
प्र0 वि0,प0व0 ।

ऋषीणाम् 1·84·2 " वसिष्ठादीनाम्",सा0,

ऋषि 6·44·13 ष0 वि0,ब0व0 ; ऋषियों के ।

ऋष्टय: "7·55·2" " यथायुधानि विशेषेणभासन्ते", सा0,✓ ऋष् हिंसायाम्"
✓ ऋष् + क्तिन = ऋष्टि,प्र0 वि0, ब0व0, समास पद ; " ऋष्टियों
की भाँति " ।

ऋष्वौ 1·28·8 " दर्शनीयौ ", सा0,✓ ऋष्- व = प्र0, द्वि0व0 ; दर्शनीयोंको।
ऋष्वेभि: 1·28·8 " दर्शनीयैभि:", सा0,✓ ऋष् - व = तृ0 वि0, ब0व0 ;
दर्शनीयों से ।

" ए "

" एक "

एक: 1·100·7, 1·84·7, 8·96·19, 2·13·6,3 -" "अद्वितीय:",
सा0,प्र0 वि0,प0व0,पु0, अकेला,अद्वितीय" ।

एकेन 2·13·11 - " तृ0 वि0,ए0व0,पु0 ।

एकस्य 2·13·9·3 -" एकाकिन: श्रेष्ठस्य वा", सा0,पु0,ष0 वि0,ए0व0।

एतस्मिन् 8·45·38 पु0,स0 वि0,ए0व0 ; " एतद् " सर्वनाम,पु0।

एष: 2·14·1 " एतद्",पु0, प्र0 वि0,ए0व0 ; यह ।

एनम् 8·80·4 -" एतद्",पु0, द्वि0 वि0, ए0व0 ; इसको ।

एतम् 2·14·2,3 - " पु०, द्वि० वि०, ए०व० ; इसको ।

एता 8·45·39 - " एता " एतो" सा०, पु०, द्वि०वि०, द्वि०व० ।

एतो: 2·15·5 " एतद् " पु०, प्र० वि०, द्वि०व० ; " वैदिक रूप", इनके ।

एतद् 2·14·10 - " एतद्" नपु०, द्वि०वि०, ए०व० ; इसको ।

एना 6·44·17 " एनेन " " एतद्", तृ०वि०, ए०व०, { वैदिक रूप } ।

8·38·9 एवा - " एवाहम् ", अव्यय"।

एवारे 8·45·39 - " एवार " व्यक्ति वाचक संज्ञा , पु०,स०वि०, ए०व० ।

एवै: 1·100·2 - " पु० , विशे० , " एव ", तृ०ब०व० ; √ इण् गतौ

इण्शीङ्भ्यां वन् ", सा०, आत्मने पद, लट् ।

" ओ "

ओजस: 8·12·24 -" बलस्य संगमाय । यद्वा ओज शब्दाद्विहितस्य विनो

" बहुलं छन्दसि" इति लुक् । " सा० ,

√ वच्> √ उज् + अस्>ओजस्, नपु० , विशे०, मनोबल ,शक्ति ,

उत्साह, प्र०वि०, ए०व० ।

ओजसा 8·12·4,27 - " बलेन ", सा०, बल से, " ओजस्", तृ०वि०, ए०व० ।

ओजसे 8·12·22 -- " बलार्थम्", सा०, " ओजस्" च०वि०, ए०व० ;

" बल के लिए "।

ओजिष्ठ: 8·93·8 -" "ओजस्वितमः", विशे०, अत्यन्त ओजस्वी, ओजस्+

विनि{ विन्} = "ओजस्विन्", ओजस्+ इष्ठ= ओजिष्ठ:, प्र०वि०,

ए०व० ।

ओषम् 10·119·10 " स्वतेजसा तापकमादित्यम्", सा०ओष्-अ { √उष् } पु०,

विशे०, " सूर्य को", द्वि०वि०, ए०व० ।

"क"

ककुहम् 8·45·14 – " " उच्छ्रितम्", सा०, "ककुह", क्रि०वि०,प०क० । विशे०, प्रमुख,उत्कृष्ट ।

कद् 8·93·4 – " सर्वनाम् ," कुछ ।

कदा 1·84·20 –" किं शब्दात् सर्वैकान्यकिंयत्तद: काले दा § पा० सू० 5·3·15§ इति दा प्रत्यय । " किं क: " इति कादेश: । व्यत्ययेन आद्युदात्तत्वम् ।"सा०," किम् " क:+ दा = कदा, क्रि० विशे० ।

कद्रुव: 8·45·26 – " कद्रुनामक स्यर्षे: सम्बन्धिनम्", सा०,क्रि०,प०व० ।

1. कद्रुव:, पु०, एक ऋषि का नाम ।

2. कद्रु,नपु०, पिङ्गलवर्ण सोम पात्र विशेष§ अन्यत्र§ ।

3. कद्रु, विशे०,केन्द्रु जैसा कर्बुर,पिङ्गल ।

कर्ता 1·100·6 – "√ कृ " डुकृञ् करणे" , । √ कृ + तृच् , इट् निषेध कर्तृ,प्र०वि०,प०व०,करने वाला, सम्पादक, विशे०, पु० ।

करूणस्य 1·100·7 –" "अभिमतफलनिष्पादनरूपस्य कर्मण:।" सा०, " डुकृञ् करणे" कृवृदारिभ्य उनन्" उ०सू० 3·33·3§ इति भावे उनन् । व्यत्ययेन प्रत्ययाद्युदात्तत्वम्" सा०,√ कृ + उनन् + व्यत्य= करूण, ष०वि०,प०व०," उत्तमकार्यों का" ।

सुकरम् 8·80·6 –" "सुखेन कर्तव्यम्",सा०, सु+√कृ+ अ , विशे०,प्र०वि०,प०व०

कवे 8·45·14 – " कान्तकर्मन्",सा०,कव्- इ §√कु§ विशे० ,पु० ,आकूताभिज्ञ, मेधावी,कवे- सम्बो०, प०व०,§ हेमेधावी§ ।

कामयाध्वै – 2·14·8 – कामयाध्वै – कामयतेर्लेट्याडागम: । सा०, √ कम्-कामना करना,√ कम् > काम्,लेट्, म०पु०,ब०व० ।

कामी 2•14•9 – "✓ कम् इच्छायां, कम् + इन् = कामिन्, कम्+ अ, पु0, चाह, इच्छा, प्रेम ; काम- ई = कामी § कामना करने वाला§ प्र0 वि0, ए0व0 ।

कामान् 8•98•7 – " कमनीयान् स्तोमान्", सा0, ✓ कम् + घञ् > काम् – अ = काम, द्वि0 वि0, ब0व0 ; ✓ कम् > काम- इनि = कामिनि ।

कारुधाया: 6•44•12 – " "स्तोतॄणां धारयिता ", सा0, स्तोतृभ्यो दाता धनानाम्§ स्कन्द§ स्तोतॄणां धर्ता § वेङ्कट§

✓कृ§ कार्- उ- धाय्- अस् = पु0, कर्ता, स्तोता, § कारु § > स्त्री0, विशे0, स्तोतृपोषक, प्र0 वि0, ए0व0 ।

काष्ठा 8•80•8 –" बहुवस्तरालमाज्यन्त: । " आज्यन्तोऽपि काष्ठोच्यते क्रान्त्वा स्थिता भवति § निरु02•15•§ इति यास्क: ।

" काष्ठ", नपु0, समिधु, काष्ठ+ आ = काष्ठा, स्त्री0 ।

किम्, सर्वनाम् 1•84•17 क: " किम् ", पु0, प्र0 वि0, ए0व0 ।

कस्मै 1•84•18 – " पु0, च0 वि0, ए0व0 ; किसके लिए ।

किम् 8•80•6, 6•44•10 नपु0, प्र0 वि0, ए0व0 ।

कया 8•93•19 स्त्री0, तृ0 वि0, ए0व0 ; किससे ।

कस्य 8•93•20 – " किम् ," पु0, ष0 वि0, ए0व0 ; किसका ।

सुकीर्तय: 8•45•33 – " शोभनाख्यातय: ", सा0, सुन्दर कीर्ति, यश, प्रशंसा, सु- कीर्ति: > सुकीर्तय:, प्र0 वि0, ब0व0, विशे0, समास ।

कीरिणा 5•40•8, 1•100•9 " कीर्यते विक्षिप्यते इति किरि स्तोत्रम् तेन ", सा0, ✓ कीर्-इन् = §✓कॄ§ विशे0, स्तोता, तृ0 वि0, ए0व0, किरिण: – पु0, स्तोता, स्तोतार:, तृ0–

कृवित् 8·80·3 - " बहु ," सा०, प्र०वि०, प०व० ।

✓ कृ करना , प्रशंसा करना, पढ़ना ।

कृणोतु 1·84·3 - " करोतु ," सा० " पुरस्करोतु ", सा०, ✓ कृ करणे, स्वादि०, लोट्, प्र०पु०, प०व० , आत्मने पद ।

कर्तन 2·14·9 "कृन्त " करोतेर्लोटि । " बहुलं छन्दसि " इति विकरणस्य लुक् । " तप्तनप्तनथनाश्च " इति तनबादेशः । आमन्त्रितस्याविद्यमानत्वात्वात्न्न निघातः। ", सा०, ✓ कृ, लोट्, आत्मने० म०पु०, ब०व० ।

चकार 8·96·2 ✓ कृ, लिट्, परस्मै०, प्र०पु०, प० व० ।

चकर्थ 2·13·11 " कृतवानसि ", सा०, ✓ कृ, "डुकृञ् करणे," लिट् , परस्मै० म० पु०, ए०व० ।

चकर्थ 2·13·11 " कृतवानसि ", सा०, ✓ कृ, "डुकृञ् करणे," लिट्, परस्मै०, म० पु०, ए०व० ।

चिकेत 2·14·10 ✓ कृ, लिट्, प्र०पु०, ए०व० ।

कृणुत 8·80·10 " कुरुत ," सा०, ✓ कृ , लोट्, म०पु०, ब०व०, स्वादि०, आत्मने० ।

कृणुष्व 6·44·9 - " कुरु ", सा० , स्कन्द० वेङ्कट । ✓ कृ, आत्मने०, लोट्, म०पु०, ए०व० ।

कृधि 8·80·5,6 - 8·96·8 " कुरु ", सा०, ✓ कृ, आत्मने०, लोट्, म०पु०, ए०व० ।

कः 6·14·18 " कुरु ", सा० ✓ कृ, लोट्, म०पु०, ए०व० ।

कृतम् 10·24·6 – " कृतम् ", सा0,√ कृ, आत्मने0 , लोट्, म0पु0 ,
द्वि0 व0 ।

कर: 8·80·9 – " करोषि ", सा0,√ कृ, लङ्, म0पु0, ए0व0 ; § लट् के अर्थ में § " अकर " का "अ" लोप होकर कर: वेद में प्रचलित रूप है ।

अकरम् 8·80·1 – " करोमि ", सा0,√ कृ0, लङ्, उ0पु0,ए0व0 ; लट् के अर्थ में लङ् का प्रयोग ।

अकृणो 2·13·2, 2·13·3 , " अकरो: ", अकारस, सा0,√ कृ, लङ्,
म0पु0,ए0व0।

चक्रिया 8·45·18 – " कुर्या ", सा0,√ कृ, वि0लि0, म0पु0,ए0व0 ।

कृण्वत् 1·100·7 "कुर्वन्त ",सा0,√ कृ,लेट्, प्र0पु0, ए0व0।

कृत: 8·93·8 " प्रजापतिना सृष्ट: । ", सा0,√ कृ+ क्त , पु0प्र0वि0,
ए0व0 ।

नि:ष्कृतम् 8·80·7 – " निष्कर्तारम् ", सा0,यद्वा निष्कृतं स्थानमेति । नि+
कृ– त, विशे0, द्वि0वि0, ए0व0 ;

" तृच् के अर्थ में क्त कर्मकारक का प्रयोग । "

§ निष्कृत स्थान को§ नि:शेष करने वाली § स्तुति§ ~~जाने वाली~~ जाने वाली ।

कृता 1·28·2 – § " विस्तीर्णे कृते संपादिते " √ कृ + क्त, विशे0,
√ कृ + ता, स्त्री0 छाती § अन्यत्र§ प्र0वि0, द्वि0व0 , वेद में
" कृती " रूप का सुप् लोप होकर कृता ।

कृतानि 1·100·9 " हवींषि," सा०, ✓ कृ + क्त, विशे० ,कर्मवाच्य,

कृत7 कृता>कृतानि,प्र०वि०, ब०व० ;

किए गये कर्मों को या हवियों को ।

✓ कृत्-विच्छेद करना ।

कृन्तत् 8·45·30 " व्यच्छिनत्",✓ कृत्,लङ्,प्र०पु०, प०व०, " अकृन्तत्",

अट् का लोप ।

अकृपन्त 10·24·5 " असृजन्," सा०,✓ कृप्,लङ्,प्र०पु०, ब०व० ।

✓कृष् - अत्रीकृषम् - 10·119· 11 'अन्यत्र'

कृष्टय: 10·119·6 " निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णा: पञ्च जना: ।

यद्वा देवमनुष्यादय: ।" सा० ,

कृष्+ ति , कृष्टि,प्र०वि०, ब०व० ; चारों वर्ण युक्त पञ्चजन या

देवमनुष्यादि।

कृष्टिभि: 1·100·10 " सर्वमनुष्यै:", सा०,कृष्-ति,विशे०,पु०, तृ०वि०,ब०व० ;

सभी मनुष्यों से ।

कृष्णासु 8·93·13 " कृष्णवर्णासु ",सा०,काली वर्ण वालीगायों में ।

कृष्ण+ टाप् , कृष्- ण = सा०,स०वि०, ब०व० ; स्त्री०, विशे०।

1·101·1 "कृष्णगर्भा: " कृष्णो नाम कश्चिदसुर: । तेन निषिक्तगर्भास्तदीया:

भार्या: । कृष्णेन निषिक्ता: गर्भा यासु तास्तथोक्ता: ।

"परादिश्छन्दसि बहुलम्" इति व्यत्ययेन पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ।

सा० । "कृष्ण के गर्भ को वहन करने वाली, बहुव्रीहिस० , स्त्री०,

प्र०वि० , प०व० ; छान्दस दीर्घ... ।

केतुम् 8·96·4 " उज्ज्वलम् ," "नामक" , ✓ कित् - उ = केत् - उ ‖ ✓
चित् प्रज्ञापकोऽवयव प्रज्ञापकम्‖ पु०, लक्षण, चिह्न, प्रज्ञापक दृश्य,
दीप्ति, प्रकाश, किरण,केत्- अ ‖ ✓ चित्‖ पु०, इच्छा ,
ज्ञान ‖ निर्विकल्पक ज्ञान का विषय ‖ ,
हि०वि०, प० व० ।

केतव: " प्रज्ञानान्यस्मत्स्तुतिविषयाणि", सा०,पु०लक्षण ,चिह्न प्रज्ञापक
दृश्य,के- त - उ ‖ चित् प्रज्ञापकोऽवयव: प्रज्ञापकम् ‖
सबका प्रज्ञापक ; प्र०वि०,ब०व० ।

क्रतव: 8·12·11 " कर्म शिरस्त्राणनिधानादीनि । यद्वा शिर इति
गल्पभृत्यूर्ध्वमङ्गमुच्यते । तत्रत्याभ्यामक्षिभ्यां दर्शन प्रेरणादीनि
कर्माणि भवन्ति ।" सा०, क्रतु- विशे० , पु०; सामर्थ्य, पराक्रम ;
प्र०वि०,ब०व० ।

क्रतुम् 8·12·11 "प्रज्ञापकं सोमं," सा०,पु० , शक्ति , सामर्थ्य, हि०
वि०,ए०व० ।

क्रतुना 2·13·11 " कर्मणा ," सा० , क्रतु, पु०, तृ०वि०,ए०व० ; कर्मों से ।

क्रतुभि: 1·100·14 " कृतयागै: ," सा०,किये गये याग कर्मों से "
① क्रतु,तृ०वि०,ब०व०, पु०,शक्ति, सामर्थ्य, याग ।
② याग कर्म विशेष ।

~~क्रतव:-8-96-3~~

1·100·13 ✓क्रन्द् क्रन्दति "कदि क्रदि कलदि आह्वाने रोदने च ।"
छन्दस्युभयथा" इति शप आर्धधातुकत्वात् "णेरनिटि" इति णिलोप:।
सा०,✓ क्रन्द् ,परस्मै० लट्, प्र०पु०,ए०व० ।

क्रव्यादम् 18·162·2 " मांसाशिनं राक्षसादिकम् " सा०,क्रव्य, नपु० ,
क्रविष्, क्रव्या:- पु०, मन्थं मांसाशी गंधर्व , क्रव्याद्- विशे०,क्रत्याशी
कायभक्षी, कि०वि०, ए०व० ।

विचक्रमे 8·12·27 -" "विकान्तवान् परिच्छिन्नवान्", वि+ ✓ क्रम्,
लिट्, प्र०पु०ए०व० । ✓ क्रम् पाद विक्षेपे ।

अक्रमुः 8·93·14 - { अ+✓क्रम्+ उ, लिङ्; प्र०पु०, ए०व० ।
✓ कृष् विलेखने "

अचीकृषम् 10·119·11 " अकार्षम् । " कृष् विलेखने " ण्यन्तस्य लुङि
चङि " नित्यं छन्दसि " { पा०सू० 7·4·8} इत्यृकारादेश: ।
विलेखनं नामोत्पादनम् । उपपादयम् । आस्थाप्यमित्यर्थ: ।सा० ,
✓ कृष्,लुङ्,प्र०पु०, ए० व० ।

"ग"

गभस्त्योः 8·12·7 - " "बाहुनामैतद्",सा० ," बाहो" में "गभस्- ति,
{ ग्रभस्ति} स०पु०, बाहु, पाणि, गभस्- तयोः, सा०वि०, द्वि०व०,
स०पु०," हस्त" तु०-पूर्णगभस्ति ।

गभीरम् 10·47·3 " असुरादिभिरगम्यम्", सा०,{ गबरा, नीचे की ओर
फैलता हुआ,✓ गभ्+ईर - विशे० , कि०वि०, ए०व० ।

गयम् 8·45·13 " गृहाभिवोपद्रवेभ्यो रक्षकं च " सा०, गय्+अ-पु० , घर,
तु०-गृहम्, कि०वि०,ए०व० ।

गर्भः 8·12·11 -" गरिता स्तोता " गृ शब्दे " । अतिगृ-या मन् " । यज्ञ

यर्गभाव एव नक्षुत्यय: । यागस्य गर्भो गृहीतानुष्ठाता ।

गर्भ- अ = गर्भः, प्र0वि0,ए0व0 ; पु0 गर्भ का अनुष्ठाता ।

गर्भम् 10·162·1,2 " गर्भ- अ = गर्भ + द्वि0वि0,ए0व0 ।

(सप्तमी के अर्थ में)

गवाम् 1·101·4 " गो", ष0वि0, ब0व0 ; गायों का ।

गव्या 6·44·12 -" गव्यानि गोसम्बन्धीनि एतत्समृद्धरूपाणि। " सा0 ,

" गो समूह लक्षणानि च ", स्कन्द0" ।

गो+यत् (1) प्र0वि0,ए0व0 (बहुवचन के लिए प्रयोग)

(2) प्र0वि0,ब0व0,(जस् का लोप)

गव्यया 8·93·17 " गा आत्मन इच्छन्त्या ", सा0 ,गो+ क्यच्= गव्

अ- टाप्= गव्या, स्त्री0, गोधनेच्छा, तृ0वि0,ए0व0 ।

सुगव्यम् 8·12·33 -" शोभनगोसंयुक्तं च धनम् ",सा0,सु + गव् + य,

नपु0, द्वि0वि0, ए0व0 , विशे0, शुभ गोसमूह रूपी धनको ।

✓ गम् जाना, ध्यान करना, पाना, भ्वादि0 ।

गच्छसि 8·93·6 ✓ गम्,लट्,म0पु0, ए0व0, परस्मै0।

गमेम 8·45·10 " गच्छेम", सा0, ✓ गम् विधि लि0, प्र0पु0,ए0व0 ;

परस्मै0 ।

गन्ता 6·44·15 " आगच्छतु", सा0,✓ गम्, लुट्, प्र0पु0, ए0व0 ।

आगधि 8·98·4 'आगच्छ ", सा0, आओ ; आ+✓गम् , लोट्, म0पु0,

ए0व0 ,परस्मै0 ।

गमि 1·84·1 - " गमेलोटि" बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक् । अनुदात्तोपदेश
इत्यादिना अनुनासिकलोप: । तस्य " असिद्धवदत्राभात्" इति
असिद्धत्वात् हे: लुगभाव: । " सा०,✓ गम् लोट्, म०पु०,ए०व०।

आगतम् 8·38·5 आ+गम् , लोट्,म०पु०, द्वि०व० ।

आगच्छ 8·98· 3 ✓ गम् , लङ्, म०पु०, ए०व० ; " प्राप्नोः", सा० ;

जग्मिः 8·93·22 " गमनशील: साधु गन्ता" सा०,
✓ गम् + इ - प्र०वि०,ए०व०, जाने वाला ।

जल्गुल: 1·28·1 "✓ गलअदने" " भक्षय"," गल् अदने" अस्मात् यङो लुकि
लोण्मध्यमैकवचने लेटोऽडाटौ " इति अडागम: । इतश्च लोप:"
इति इकार ?/ लोप: ।
✓ गल्, लेट्, प्र०पु०,ए०व० ।

अगच्छ: ✓ गम् 8·98·3 ✓ गम् ?? लङ् , म०पु०,ए०व० ।
"प्राप्नोः:" सा० ।

जगम्यात् 8·80·10 "आगच्छत्",सा०,✓ गम् ,वि०लि०,प्र०पु०,ए०व०।

गमेम् 8·45·10 ✓ गम्,विधि०, प्र०पु०, ए०व० ; प्राप्त करें ।

अगा: 8·93·4 ✓ गम्,लुङ्,प्र०पु०, ए०व० ; उदय हुआ ।"

जगन्वांस: 8·45·19 - " गन्तारो", सा०,✓ गम् + क्वसु जगन्वस् ?
जगन्वांस:, प्र०वि०,ब०व० ।

सुगम् 6·44·18 सुगम् - सु +✓गम् + अ - नपु० सुखसंचरण /
"गमेड" से अ प्रत्यय-सुगम,प्र०वि०,ए०व० ; (सुखेनप्राप्यं इति सुगतम्),
अगोह्य: " केनापि गूहितुमशक्य:", सा०,(सुप् लोप)
गुह्+ य = गुह्य (1) ण्यिजन्त,न गुह्य इति अगुह्य ।

अगूहत् 5·40·8 – " अपजुगोप न्यवारयदित्यर्थः । " सा० ," ✓ गुह+
        सप्रत्यय, लुङ्, प्र०पु०, ए०व० ; §अन्धकार के आवरण को§ " दूरकिया§
        ✓ गा जाना, जुहोत्यादि०, परस्मै० ।

जिगाति 10·47·6 " अभिगच्छति ", सा०✓ गा, लट्, प्र०पु०,ए०व० ।

जिगातु 8·45·30 " गच्छतु ," सा०,✓ गा , लेट्,प्र०पु०,ए०व०,§ वैदिक§ ।

गातुम् 8·45·30 " भूमिम् ", " भूमिः गातुः" इति तन्नामसु पाठात् ।
        ✓गा जाना+ तुमुन् " गमन करने के लिए" ।
        ✓ गा, गाना, दिवादि०।

गायत 8·45·21 " पठत ", सा०,
        ✓ गा, गाना, लोट्, म०पु०, ब०व० ।

1·100·4 गातुभिः " गातव्येभ्यः स्तोतव्येभ्यः",सा०,✓ गा स्तुतौ
        " कमिमनिजनि इत्यादिना कर्मणि तु प्रत्ययः ।"
        ✓ गा+ तु = गातु,तृ०वि०,ब०व०,पु०,गाने योग्य गीतों के द्वारा ।

गाथया 8·98·9 " स्तोत्रेण स्तोतारः",सा०,✓ गा+ था + टाप्, पु०,
        स्तोत्र, गीत , मन्त्र § ✓ गै § गाथा, स्त्री० , तृ०वि०,ए०व०;
        स्तोत्रों से ।

गायत्रम् 8·38·10 – "साम",सा०,§ गायतीति" गायत्री, गाय्-अ-त्र
        गायत्र, विशे०,नपु०, गीत, छन्दविशेष;गै शब्दे, अत्र इति गायत्र द्वि०वि०,ए०व०।
        ~~अत्र इति गायत्र~~ ।

गायत्रवर्तनिम् 8·38·6 - " गाय् - अत्र अ = { गायतीति} " गायत्रस्य वर्तनिमार्गो यस्य बृहत: साम्न:, वि0, √ वृत्+ अनि = वर्तनि, गायत्र + वर्तनि= गायत्रवर्तनि, द्वि0वि0, ए0व0, गायत्री छन्द से युक्त साम ; या गायत्री छन्द वाली ।

गिर: 8·96·10, 6·44·3, 1·84·8 "स्तुती:", " स्तुतय:", "स्तुति लक्षणा वाच:", सा0, √ गृ, स्त्री0 , स्तोत्र, प्र0वि0,ब0व0।

गिरा 8·93·9 " स्तुतिलक्षणया वाचा स्तोत्रभि:, "सा0, √ गृ, स्त्री0, स्तोत्र, तृ0वि0,ब0व0 , स्तोत्रों के द्वारा ।

गिर्वण : 8·12·5, 8·93·10 " स्तुत्य", गीर्भिर्वननीय", सा0 , गिर- √ गृ + क्विप् गा

गी: > गिर- वन्- अस् = वि0, गीर्वणि, गिरावृध {वन् सम्भक्तौ} सम्बो0ए0व0, स्त्री0 ।

गिर्वाहसे 8·96·10 " गीर्भि: स्तुतिभिरूह्यमानाय", सा0, गिर्- √ वह- णिच्- अस् = गिर्वाहस्, च0वि0,ए0व0 ; स्तुत्य इन्द्र के लिए "ए" प्रत्यय का प्रयोग वैदिक ।

गीर्भि: 6·44·13 " उभयविधाभि: स्तुतिभि:", सा0, "वाग्भि:", स्कन्द0√ गृ>गिर् , तृ0 वि0,ब0व0 , स्तुतियों से ।

गिरि: 8·98·4 " पर्वत",सा0, गिर्- इन= पु0, टिव्वा, पर्वत, प्र0वि0, ए0व0 ।

गिरिम् 8·44·30 " मेघम्", गिरि: व्रज:" इति मेघनामसु पाठात् । गिर्- इ= गिरि, द्वि0वि0,ए0व0 ; पर्वत को।

गिरीणाम् 8·96·2 " पर्वतानाम्",सा0, गिरि, ष0वि,ब0व0,नपु0।

गिरौ 8·45·5 " पर्वते ", सा० , "गिरि " स०वि०, ए०व०, (वैदिक प्रयोग)

~~गुह् 5·46·8 अगुह्~~ -

अगोह्य: 8·984 " केनापि गूहितुमशक्य: ", सा०,✓ गुह्+ य = गुह्य, अ +गुह्य, न गुह्य इति अगुह्य(णिजन्त) नञ् समास ।

अपगोहम् 2·15·7 ~~अपगोहम्~~ " तिरोभावं ", सा० , " तिरोभाव को " ।

अप + ✓ गुह् , द्वि०वि०,ए०व० ।

✓गृ गाना, क्रयादि० ।

गृणीषे 6·44·4 " स्तौमि " यद्वा । " तो यूयं गृणीषे गृणीत स्तुत । वचनव्यत्यय: । " सा० ,

✓ गृ गाना, स्तुति करना, आत्मने०, लट्, म०पु०, ब०व०।

गृणताम् 6·44·13 "स्तुवताम्", सा० ,वेंकट , स्कन्द०✓ गृ स्तवने , " लोट्, प्र०पु०, द्वि०.व० ।

गृणीताम् 10·47·8 ✓ गृ शब्दे, लोट्, म०पु०, द्वि० व० ।

गृणान: 2·15·8 " स्तुयमान: ", सा० ✓ गृ शब्दे,

✓ गृ + शानच्, प्र०वि०, ए०व०,पु०, स्तुत होता हुआ ।

✓ ग्रभ् ,पकड़ना, क्रयादि० ।

गृभ्णे 8·45·39 " आकर्षामि ", सा०,✓ ग्रभ्,लट् ,उ०पु०, ए०व०।

5·40·7 गारीत् " गिरत् ", सा०,✓ गृ निगरणे, आत्मने: लोट्, प्र०पु०, ए०व०, तुदादि० ।

10·47·1· जगृभ्म " गृह्णीम: ", सा०,✓ ग्रभ् (✓ ग्रह्) पकड़ना ,पकड़ा जाना, धरा जाना , उभयपदी, लिट्, उ०पु०.ब०व० ।

गृह: 10·119·13 " हविषां ग्रहीता," सा० ,

§1§ ✓ग्रह् + क्त: = गृह > गृह:, प्र०वि०, ए०व०, नपु०, घर।

§2§ विशे०, हविष् को ग्रहण करने वाला, प्र०वि०, ए०व०पु० ।

संगृभीता 1·100·9 " संगृह्णाति", ✓ग्रह उपादाने । लिङि· बहुलं छन्दसि इति विकरणस्य लुक् । लिङ्: सलोप: इति सलोप: । ग्रहिज्यादिना संप्रसारणम् । ह्युग्रहोर्भ: " इति भत्वम् । " ग्रहो-ऽतलिङि:" इति दीर्घ: ।" सा० ।

सम् ग्रह् > गृ -भ; लिङ् , स्त्री०, दीर्घ होकर संगृभीता ।

"गो" §1§ पु०, गोहरा, साँड §2§ वृषारू गौ या धेनु §3§ तारे

§4§ स्त्री०, गौ, §5§ उष: किरण §6§ अग्निकिरण §7§ पृथ्वी

(8) उषाएँ §9§ दूध अथवा मक्खन , §10§ दुग्धपेय सोम §11§ पर्जन्य

§12§ श्लेष्म, चर्म, तांत ।

गाम् 10·119·1 " गो ", द्वि०वि०ए०व० , गाय को ।

गौर्य: 1·84·10 " गौरवर्णा गाव: " षिद् गौरादिभ्य श्च " इति ङीष् जसि यणादेशे" उदात्तस्वरितयोर्यण:" इति परस्यानुदात्तस्य स्वरितत्वम् सा०, गौ + ङीष्, स्त्री०, प्र०ब०व०, गाएँ ।

गा: 8·96·18 "गो", द्वि०वि०ब०व० ।

गोभ्य: 8·45·30 " गमनवद्भ्य-उदकेभ्य:" गो, च०वि०,ब०व०, पर्जन्य के लिए ।

गोभि: 2·15·4 " गो ", तृ०वि०,ब०व० , गायों से ।

गाव: 8·96·5 तस्मान्यूकानि च प्रकर्षेण ध्वनिमकुर्वन् । उदकान्य
ध्वनयन्मित्यत्र याजुषो निगमः " यदद: संप्रयतीरहावनदता
हते तस्मादा नद्यो नाम स्थ § तै०स०5·6·1·2§ अ०सं०3·13·1§
इति, गो ✓ मम् + ओ § डोस् प्रत्यय§ प्र०वि०,ब०व०,"गाएं"।
गो: 1·84·15 "गन्तुः", सा०,✓ गम् + उ, ग्>गो, जाने वाला,
ष०वि०,ए०व० ।

गो: 1·28·9 गोः -"गो", षष्ठी वि०,ए०व०, स्त्री० ।

गोनाम् 10·47·1 " गो ", ष०वि०,ब०व० ।

गोषु 6·44·24 " गो ", स०वि०,ब०व०,गायों § के धन§ में ।

गोदा: 8·45·19 गो+✓दा + क्विप्, विशे०,पशुदाता, प्र०वि०,ए०व०।

गोपति: 1·101·4 गवां पति इति गो पतिः, ष० तत्पु० समास, विशे०,
पु०,प्र०वि०,ए०व०, गोस्वामी ।

गोपतिम् 10·47·1 " गोपति", द्वि०वि०,ए०व० , गोस्वामी को ।

गोपरीणसा 8·45·24 " गव्येन पयसा संमिश्रितेन सोमेन ", सा०,
गो-पर्-ईणस्= § पु§ गोयुक्त, भरपूर, गोदुग्ध मिश्रित सोम
के द्वारा , तृ०वि०,ए०व० ।

गोपा: 1·101·11 " रक्षणीयाः गोपायनीयाः", सा०,,गो+✓पा रक्षणे
गोपाः,प्र०वि०,ब०व० ।

गोमत: 8·45·28 " पशुमत: ", सा०,गो+ मत् , विशे०, गोयुक्त, प्र०
वि०,ए०व० ।

गोमत् 8·93·3 " पश्वादिसहितम् ", सा०, गो + मत्, ~~अनकसन*-पम०~~
गोमत्,प्र०वि०,ए०व०, विशे० ।

गौर: 8·45·24 " मृग:", सा०, प्र० वि०,ए०व० ; " हिरण" ;

गौर- र>गौर: ।

ग्रामेभि: 1·100·10 " मरुत्सैः: सह", बहुलं छन्दसि इति भिस ऐस

भाव: " ग्रामादीनां च " §फि०सू०-38 § इत्याद्युदात्तत्वम् ।

ग्राम+ भिस् > ऐस - ग्रामेभि: तृ०वि०, ब०व० ; सा०, ग्रामोसे ।

ग्रावा 1·28·1, 5·40·2, 1·84·3 "अभिषवसाधन: पाषाण:," सा०,

✓ गृ शब्दे, पु०प्र०वि०,ए०व० , पत्थर ।

ग्राव्य: 5·40·8 " अभिषव साधनानि", सा०,✓ गृ शब्दे , द्वि०वि०,

ब०व० , पत्थरों को ।

" च "

चक्रेण 8·96·1 " चक्रसमानवीर्येण चक्रस्पेण वज्रेण वा", सा०, च- क्र-अ

"चक्र", तृ०वि०,ए०व०, नपु०, विशे०, वज्र से , चक्र § शस्त्रविशेष§

§ ✓कृ या ✓ क्रम् §

चन्द्रमा: 8·82·8 " चन्द्रमस्", प्र०वि०,ए०व० , " चन्द्रमा", पु०, विशे०,

चन्द्रश्चासौमाश्च , समास।

चन्द्रमस: 1·84·15 " चन्द्रमाह्लादनं मिमीते निर्मिमीते इति चन्द्रमा:।

" चन्द्रे माङो डित्§§ उ०सू० 4·667 § इति असि प्रत्यय: ।

दासीभारादिषु पठितत्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । " सा०,

चन्द्र-मस्= चन्द्रमस्, ष०वि०,ए०व० ; चन्द्रमा के ।

चमुरिम् 2·15·9 " एतन्नामासुरः । " सा०, हि०वि०पु०व०, पु०,चमुरि नामक असुर को ।

चमू 10·24·1 " चम्वोः अधिषवणफलकयोः", सा०,✓ चम् चमस, स्त्री०, पं०वि०, हि०.व० पात्रों से " सुपां सुलुक्" से लोप होकर वैदिक चमू"।

चम्वोः 1·28·9 " चमु अदने" चम्यते भक्ष्यतेऽत्रेति चमूः। "कृषिचमि" §उ०सू० 1·81§ इत्यादिना औणादिक ऊ प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरः सप्तमी द्विवचनस्य " उदात्तस्वरितयोर्यण स्वरितः" इति स्वरितत्वम् " उदात्तयणो हल्पूर्वात्" इति व्यत्ययेन न भवति ।"
✓ चम्+ ऊ = चमू, स०वि०,हि०व० ; पात्रों में§ स्थित §

चमूषु 8·82·7 ✓ चम्+ ऊ, स०वि०,ब०व०,स्त्री०, चमसपात्रों में ।

चमसेषु 8·82·7 ✓ चम् + ऊ §1§ पु०,भक्षार्थ दारु पात्र, चम्मच ।
§2§ § पात्र विशेष स्थिताः सोमाः तैर्वषट्कारानुवषट्कारभ्यो-होतव्यम्§ भी चमस- होता, ब्रह्मा, उद्गाता, यजमान, मैत्रा-वरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, आग्नीध्र एतेषां नवाना-मृत्विजां चमसाः । "

चमूषः 1·100·12 " चम्वां चमसे रसात्मनावस्थितः सोम इव "
"इष् गतौ" चम्वामिष्यति गच्छतीति चमूषः । इगुपध-लक्षणः क प्रत्ययः । वर्णव्यपत्या रेफो दीर्घश्च । यद्वा चमेरौणादिक ईषन्प्रत्ययः । पूर्ववत् रेफः",सा०,चम् + ✓ इष् + क = चमूषः, प्र०वि०ए०व०, पात्र में स्थित , चम्+ ईषन्= चमूषः, प्र०वि०,ए०व०, पात्र में स्थित ।

✓ चर्-चलना, जाना, भ्वादि०, परस्मै० ।

चरति 7·55·6 - " गच्छति ", सा०, ✓ चर्, लट्, प्र०पु०, ए०व०, परस्मै० ।

आचरत् 7·55·7 " आगच्छति ", सा०, आ + ✓ चर्, लङ्, प्र०पु०ए०व० ।

चर्कृत्यम् 10·47·2 "पुन: पुन: कर्तव्यम्", सा०, ✓ चर्+ कृ+ त् + य, विशेषण, स्तुतत्य, पुन: पुन: परिचरण करने योग्य ; द्वि० वि०, ए०व० ।

चर्षणिभ्य: 1·84·20 " मन्त्रद्रष्टृभ्य: ", सा०, §1§ चर्ष - अणि § ✓ चर् § विशे०, सक्रिय, करेर वाला ।

§2§ पु०, हलधर, मनुष्य, च०वि०, ब०व० ; मनुष्यों के लिए ।

चर्षणीनाम् 8·93·16 " मनुष्याणाम् ", सा०, चर्ष - अणि = ष०वि०, ,ब०व० ; मनुष्यों के ।

✓ चिञ् चयने

अचेत् 6·44·7 " चिनोति उपचितं करोति ददातीति यावत् " " चिञ् चयने " सञ्चिनोति §सा०§, स्कन्द०", चिञ् चयने" संग्रह करता है।

✓ चिञ्, लुङ्, प्र०पु०, ए०व० ; " कर्मवाच्य" "चयन किया ।"

चिकेत 2·14·10 ✓ चि § ✓ चित्- ✓ कित् § निहारना, परस्मै० . लट्, प्र०पु०, ए०व० ।

चेतति 8·12·1 " जानाति ", सा०, ✓ चित् § ✓ चि § ध्यान देना, जानना, परस्मै०, लट्, प्र०पु०, ए०व० ।

चित्रम् 10·47·1,2,3,4,5,6,7 " चायनीयम् पूज्यम्", सा०,

चित्- र §1§ विशे०, विस्पष्ट, प्रदीप्त, उत्तम विस्मापनीय।

चित्- रम् -§2§ नपु० , रुचिर, चायनीय धन ।

चित्रम् §3§ क्रि०वि०, चमक के साथ, प्र०वि०,ए०व० ।

चुच्यवे 8·45·25 " प्रेरितवान् तानि धनानि सी०/ च्यु-चेष्टा करना,

प्रेरित करना,✓ च्यु, भ्वादि०, लिट्, प्र०पु०, ए०व० ।

वि चक्षते 8·45·16 " विपश्यन्ति", सा० , वि+ ✓चक्ष् देखना, आत्मने०

लट्, प्र०पु०, ए०व० ।

वि अचष्ट 2·15·7

" ता: कन्यका विशेषेण पश्यति स्म," सा०,

चेष्ट् चेष्टायाम्" चेष्टा करना, लङ् ,

प्र०पु०,ए०व० ।

प्रचोदय: - 8·12·3

" प्रेरयसि", सा०, प्रेरितक्रिया ।

प्र + ✓ चुद् प्रेरणे + णिच् , लेट् , म० पु०,

ए० व० ।

"ज"

जगत: 1·101·5 " गम्लृ सृप् लृ गतौ" । वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृ

वच्च" §उ०सू०-2·241§ इति अतिप्रत्ययान्तो निपातितो जगच्छब्द

आद्युदात:", सा०, ष०वि०, ए०व० ; " गतिमान् संसार का " ।

जगत् - " गच्छतीति ✓ गम्‌+ द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च" इति क्विपि द्वित्वे च

" गम: क्वौ " इति क्वि > क्वौ सप्तमी मलोपे तुक् ।"

जघना 1·28·2 " दो जघनप्रदेशाविव । " जघनं जङ्घन्यते:" § निरु०9·20§ इति यास्क: । " हन्ते: शरीरावयवे द्वे च § उ०सू०·5·710§ इति हन् धातो: अच् । द्वित्वम् । कर्मादित्वात् मध्योदात्त: §फि०सू०59§ सुपां सुलुक्" इति आकार: ।

ज-घन § √ हन्§ पु०,प्र० वि०,द्वि०व० । जघनौ के स्थान पर " सुपां सुलुक्" से लोप होकर जघना प्रयुक्त है ।

जन: 8·93·11 - √ जन्- अ = जन:, पु०,प्र० वि०,ए०व० ,आदमी, ।

जनाय1·84·17 - " परिजनाय च ," सा० , √ जन् + अ = पु०,आदमी, परिजन, , जन्तु, जाति, वैश्य देशान्तर,इत्यादि , ,च०वि०,ए०व० ।

जनानाम् 6·94·9, 10·47·8 " स्तोतृणामस्माकम्", सा० ," मनुष्याणाम् अस्माकम्√ जन् + अ = जन् ,ष०वि०,ब० व० , स्तोता लोगों का।

जनेषु 6·44·11 " जन", स०वि०,ब०व० , लोगों में, मनुष्यों में, √ जन् पैदा करना ।

जजान 8·96·6 " √ जन् ,लिट्,प्र०पु०,ए०व० ।

अजन: 2·13·7 " अजनय:," सा० ," जनेर्लङि व्यत्ययेन शप्" , √ जन्, लङ्, प्र०पु०, ए० व० ।

अजनन् 2·13·5 " अवर्धयन्",सा० ,√ जनि प्रादुर्भावे, लङ्, प्र०पु०,ब० व०

जायमान: 6·44·22 " प्रादुर्भवन्", सा० , √ जन् + शानच् = पैदा होता हुआ, पु०प्र० वि०, ए०व० , विशे० ।

जरित: 8·96·12 " स्तोत:", सा० , जर् - इ - तृ = विशे०, स्तोता, आवाहक, प्र० वि०,ए०व० ।

जरितृभ्यः 8·45·12 " स्तोतृभ्यः", सा0 ,स्तोताओं के लिए ।

जरृ ह - तृ, विशे0 ,स्तोता, च0 वि0,ब0व0 ।

जस्वने 6·44·11 " जसिरूपक्षयकर्मा। उपक्षयित्रे राक्षसादये", सा0,

"जसु ताडने ताडयित्रे ताडनशीलाय क्रूराय" स्कन्द०" हिंसित्रे " वेङ्कट।

✓ जस् + वन् = जस्वन्, च0 वि0,प0 व0 ; ✓ जस्-नष्ट करना,

थक जाना ।

जातानि 8·96·6 " स्वानि जगन्ति", सा0 , ✓ जन् + क्त, नपु0, प्र0

वि0,ब0व0 ।

जातम् 10·162·3 " दशसु मासेषूत्पन्नम्", §1§ विशे0, उत्पन्न, तै0 स0

" जातं च मे" §IV. 7·2·2§ §2§ पु0, पुत्र, यमस्य जातम् " प्रादुर्भूतम्"

§ 1.83·5§ §3§ पु0, जातपदार्थ, § 1.·128·4§ विश्वा जातानि पस्पशे

" संपादितानि हविरादीनि")

§4§ नपु0,जन्म, " यो जातमस्य महतो महि ब्रवत्" § जन्म§ ✓ जन्

+ क्त = जात > जातम्, द्वि0 वि0, ए0 व0 , " उत्पन्न हुए को " ।

जामिम् 8·12·31 " बन्धुभूतम्",सा0, § तु0 -जामाता ✓ जन् § विशे0,

पु0 ,समीपस्थ सम्बन्धी, सनाभि, भ्रातृस्थानीय, द्वि0 वि0,ए0व0 ।

जामिभिः 1·100·11 -" बन्धुभिः", सा0, जामि, तृ0 वि0,ब0व0 ।

जाहृषाणेन 1·101·2 -" प्रवृद्धेन हृष तुष्टौ§ अत्र वृद्धयर्थः । छन्दसि लिट्

लिटः कानज्वा" इति तस्य कानजादेशः । अन्येषामपि दृश्यते" इति संहि-

तायामभ्यासस्य दीर्घत्वम् । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् । सा0 ,

✓ हृष् तुष्टौ + कानच् § लिट् के अर्थ में § जाहृषाण; अभ्यास को

दीर्घ; तृ0 वि0, ए0 व0 , बढ़े हुए § क्रोध § से ।

जग्यासि 8·96·7 "स्वबलेनाभिभवसि", सा० , ✓ जि, लट्, म०पु०, ए०व० ।
§छान्दसदीर्घ §

जिग्युभि: 1·101·6 " जि जये " । लिट: क्वसु: । द्विर्वचने " सन् लिटो-
र्जे: " इति अभ्यासादुत्तरस्य जकारस्य कुत्वम् । भिसि अयस्मयादित्वेन
भत्वात् " वसो: सम्प्रसारणम् " इति संप्रसारणं छन्दसोऽन्त्यलोप: । " सा० ,
✓ जि + क्वसु + भिस् = जिग्युभि: § वसु का संप्रसारण § तृ० वि०,
ब०व० ; जय प्राप्त करने वालों के द्वारा ।

जेष 6·44·18 " जेष ",'जयार्थम्", सा०,✓ जि जेष् - अ , पु०,च०वि०, ए० व०

जेषे 1·100·11 " जि जये " औणादिक: सप्रत्यय: । चतुर्थ्यर्थे सप्तमी ।
यद्वा जेषृ पेषृ प्रेषृ गतौ "" क्विप् च " इति क्विप् । सावेकाच:" इति
विभक्तेरुदात्तत्वम् ✓ जि + स, स०वि०, ए० व० ; या जेषृ + क्विप् =
स०वि०, ए० व० ; इति सा० ।

जिव्रय: 8·45·20 " क्षीणा वृद्धा: ," सा०, जृ जीर्ण होना, भ्वादि० ,
परस्मै०,जिव्रय:,प्र०वि०, ब०ब०, पु०, क्षीण वृद्ध जन ।

जीवात् 1·84·16 " जीवन्त्वाम्भवेद् " सा० ✓ जीव्, लेट्, प्र०पु०,
ए०व० ।

जुषेथाम् 8·38·5 " सेवेथाम् ", ✓ जुष्,लोट्, म०पु०,द्वि०व० ; सेवनकरो ।

जुजोषत् 8·96·12 "स्वीकुर्याद् । " जुषी प्रीतिसेवनयो: " । लेटि शप:
श्लु: । अडागम: । छान्दसत्वात् " नाभ्यस्तस्य " इति गुणप्रतिषेधाभाव:। "
सा० , ✓ जुष्,लेट्, प्र०पु०, ए०व० ।

जुषाण: 2·14·9 " प्रीयमाण: ", सा० ✓ जुष् आनन्द लेना, उपभोग करना
✓ जुष् + आन § कानच् § आत्मने§ उभय पदी § ✓ जुष् आत्मने पद

+ कानच्, प्र० वि०, ए०व० ।

जुष्टतरस्य 8·96·11 " अत्यर्थं प्रीणयितुः", सा० , ✓ जुष् + क्त + तर, प० वि०, ए०व० , अधिक प्रिय का ।

जेन्यावसु 8·38·7 " जेतव्यशत्रुधनो " जेन्- य §✓जि § विशे० ,रक्षणीय, जेन्या- स्त्री० , उत्तम, § योषा वृणीत जेन्या§ आजि धावनेन जीयमाना§ अन्यत्र । जेन्या+ वसु = विशे०, स्पृहणीय धनवाला, वृषणा जेन्यावसु " जेतव्यधनौ", § 7·74·3§ सम्बो०, द्वि०व० ।

ज्योतिषा 8·98·3 " तेजसा ", सा०, प्रकाश, दीप्ति, तेज से । § ✓ज्युत् § ज्योत्- इस् > इष् + टाप्, तृ० वि०, ए० व० ।

ज्येष्ठम् 1·84·4,5 " प्रशस्यतमम् ", सा० ," प्रशस्य शब्दात् इष्ठनि ". " ज्य च " § पा०सू० 5·3·61 § इति ज्यादेशः । प्रशस्य+ इष्ठन् = प्रशस् > ज्या + इष्ठन्, द्वि० वि०, ए० व० ।

"त"

तद् सर्वनाम्,

तदा 8·45·40 तद् + आ = निपात ।

सः – " तद् ", पु०प्र० वि०, ए० व० । 8·93·8,7

तद् 8·96·12 – नपु० , प्र० वि०, ए०व० ," वह " ।

ते – " तुभ्यम् ", सा० ,§ 8·93·26§

तम् 8·12·1,2,3, 6,44,14 8,93,7 – द्वि० वि०, ए० व० , उसी को ।

त्यम् 6·44·4 " तमेव ," सा०, "तम्" स्कन्द०। " तद् ", द्वि० वि०, ए०व० ; "वैदिक प्रयोग",

तान् 8·96·9 " तद्" पु0, द्वि0वि0, ब0व0 , उन सबको ।

तस्य 8·38·1,2,3 " तम्", सा0, ष0वि0, ए0व0 ; षष्ठी वि0 का प्रयोग द्वि0वि0 की विवक्षा में ।

तस्य 8·45·15 " तद्" ष0वि0ए0व0,पु0, उसका ।

ते 8·98·11·, 8·82·3 " तव,"सा0 ," षष्ठ्यर्थ प्रयोग वैदिक है ।

ते 8·96·12,9 " तव ", सा0 " तुम्हारा", ष0वि0, ए0 व0 ।

सब—

ताः 8·45·33 " तद्", प्र0वि0,ब0व0, स्त्री0," वे सब " ।

तनयस्य 6·44·18 " पौत्रस्य," सा0,✓ तन् विस्तारे ✓ तन् - अय = तनय, "संतति", पुत्र,पौत्र, नपु0 , ष0वि0, ए0 व0 , पुत्र के ; सायण ने पौत्र अर्थ किया है ।

तन्वे 1·84·17 " तनू शब्दाच्चतुर्थ्येकवचने" " जसादिषु च्छन्दसि वावचनम्" इति " घेर्ङिति" इति गुणाभावे यणादेशः । " तनु ", च0वि0, ए0व0 ।

तन्वे 8·96·10 " तनोति कुलमिति तनूस्तनयः । तस्मै पुत्राय स्वशरीरा यात्मने वा",सा0 , ✓ तन्- अ - नपु0, तन्वे - च0वि0, ए0 व0, पुत्र के लिए ।

तन्वि 8·96·11 ~~"-तु-इति-धमंतुर्वृद्धर्थः-+-प्रवृत्तस-"-सा0-§--तु§--तन्+~~ " आत्मनि पुत्रे वा ", सा0,तन् - अ= स0वि0, ए0 व0 , " पुत्र § के समीप § में ।

तमसा 5·40· 5 "मायानिर्मितेन " अन्धकारेण§ § 5·40·6§

तम्+ असु = तमस्, नपु0, अन्धकार, पाप ; तमस्- अ = विशे0,कृष्ण वर्ण । तमसा - तृ0वि0,ए0व0 § माया के द्वारा निर्मित§ अन्धकार से ।

तमितो 10·162·6 तम् ! इत:,तम्- " तद् " द्वि० वि०, प० व०, उसको ; इत: ; यहाँ से ।

तरुत्रम् 10·47·4 " तारकम् " सा० , ✓ तृ > तर् - उ - त्र = तरुत्र, विशे०, तारयिता " द्वि० वि०, प०व० ।

तरणिम् 8·45·28 " तारकम् " , सा० , ✓ तृ + णि = तृ > तर् + अ तरणि, तेज, शक्तिशाली, तारयिता, विशे० , पु०, द्वि० वि०, प० व ।

तल्पशीवरी : 7·55·8 " तल्पे शयाना: ", सा०, ✓ शी + वनिप्- ई { र का आगम } विशेष { शय्या पर } लेटने वाली, स्त्री०, तल्प + शीवरी : = सप्तमी तत्पु० समास ।

तवेद् : 8·45·33 तव । इत । शु इति । = तवेव, सा० ," युष्मद् ", ष० वि०, प० व०, " तुम्हारी ही ।"

तवसे 8·96·10 " तु इति धातुर्वृद्ध्यर्थ: । प्रवृद्धाय ", सा०, { ✓ तु } तव् + अस् = नपु०, बल, सामर्थ्य, शक्ति, तवस् > तवसे, च० वि०, प०व०, बल के लिए, प्रवृद्धि के लिए ।

तष्टा इव 10·119·5 " तक्षा ", सा०, शिल्पी की भाँति । ✓ तक्ष् > तक्ष् - तृ = तक्षन्, पु०, वर्धकि, बढ़ई, तक्ष्- तृ + आ = तष्टा + इव = तष्टेव, प्र० वि०, प०व० ।

तस्करम् 7·55·3 " प्रत्यक्षधनापहारी तस्कर: ", सा०, तस् - कर् + अ = तस्कर, पु०, चोर, डाकू, द्वि० वि०, प० व० ।

तिग्मम् 8·96·9 " तीक्ष्णम् ", सा० । तेज, नोकदार, तीखे, तिग् + म = तिग्म, द्वि० वि०, प० व० , विशे० ।

तीव्राः 8·82·2 " तीव्रमदाः" सा० ," तीव्र ",प्र०वि०, ब०व० ;
तीव्- र § तीव्र § विशे० , तीखे, तेज, बली प्रोत्थण ।

तु 8·82·4 " क्षिप्रम् " शीघ्र ।

तुग्र्यावृधम् 8·45·29 " उदकस्य वर्धयितारम् " " तुग्र्या बुर्बुरम् " इत्यु-
दकनामसु पाठात् । सा० ।

✓ तुग्र् > तुग्र- र = 1· पु० ,भृगुपिता, इन्द्र का एक शत्रु " अन्यत्र " ।
तुग्र- य 2· पु०,तुग्र का अपत्य भुज्यु " अन्यत्र " ।
तुग्र-या = 3· स्त्री०, तुग्रवंशी " जलेषु गर्त मग्नम् " ।

तुग्र्या+✓वृध् + अ = द्वि०वि०, ए०व० ; § मन्त्रों में जल के बढ़ाने वाले§
विशे०, पु०, तृ० तत्पुरुष समास ।

तुज्यते 1·84·17 " तुज् हिंसायाम् " कर्मणि यक् । अदुपदेशात् ल सार्वधातु-
कानुदात्तत्वे यक एव स्वरः शिष्यते । " सा०,✓ तुज्+ यक्= तुज्य,आत्मने०
लट्, प्र०पु०, ए०व० ।

तुतुर्यात् 8·96·2 " तरेत् " तृ पल्वनतरणयोः " लिङि, छान्दसः शपः श्लुः
"बहुलं छन्दसि " इत्युत्वम् । यद्वा । " तुर त्वरणे " जौहोत्यादिकः " सा० ,
1.✓ तृ तरना पार करना + लिङ् ।
2.✓ तुर्,यङ् , विधिलिङ्‌ग, प्र०पु०,ए०व० ।

तुरः 6·44·3 " शत्रूणां हिंसकश्च भवति स सोमः|स्क०|हिंसिता शत्रुणाम्"
स्कन्द०
✓ तुर्+ अ = तुर, शत्रुओं का हिंसक, विशे० प्र०वि०, ए०व० ।

तुरस्य 6·44·5 " हिंसकस्य शत्रोः " सा०,✓ तुर् हिंसायाम्,तुर्+
अ = तुर्,ष०वि०,ए०व०, पु०,विशे० ।

तुराषाट् 5·40·4 " तुराणां त्वरमाणानां शत्रूणां सोढा ",सा० ।

आक्रामकों का दमनकर्ता (इन्द्र), पु०, विशे०पु०वि०, ए०व०।

तुरीयेण 5·40·6 चतुर्थ, तुर् - ईय- तुरीय, तृ०वि०, ए०व०।

तुरीयम् 8·80·9 चतुर्थ, तुर्+ ईय = तुरीय, द्वि०वि०, ए०व०।

तुर्वणि 8·45·27 ✓ तुर्+ वणि, विशे०, विजेता, हन्ता तूर्णसंभक्ता, व्यावृत्त, स०वि०, ए०व० (संग्रामे, सा०, युद्ध में।

तुर्वशे 8·80·9 "शान्ति" तुर्वश नामक राजा के सं०वि०, ए०व०।

तुविशग्म 6·44·2 "बहुसुखेन्द्र", सा० ; बहुसुख", स्कन्द० वेङ्कट। तुवि- शग्- म, विशे०, प्रचुर शक्ति, सामर्थ्य, बहुकर्मा, सम्बो०, ए०व०। हे प्रचुरशक्तियुक्त इन्द्र।

तुर्वाणि

✓ तृ

अवातिरत् 1·101·5 अव। अतिरत्। = " अवधीत्। अवतिरतिर्वध कर्मा", सा०, अव- √तृ, लङ्,प्र०पु०,ए०व०।

अतृणत् 2·15·3 "अखनत्", "तृदिर हिंसानादरयोः" रुधादि। लङ्", सा०, ✓ तृदि, लङ्, प्र०पु०, ए०व०, रुधादि गण।

आतिरन्त = 8·96·1 = आ अतिरन्त। " तिरतिर्वर्धनकर्मा। समन्ताद- वर्धयन्त। ✓तृ लङ् प्र०पु०, ए०व०, आत्मने०, आ+ तिरन्त, सन्धि केकारण उपसर्ग आ के बाद अतिरन्त का आतिरन्त रूप बना है।

तिरः 8·82·9 " तिरस्कुर्वन्", सा०, ✓ तृ > तिर, प्र०वि०, ए०व०, (तिरस्कृतकरता हुआ) क्रि०विशे०, पु०।

तृम्प 8.45.22 "तृप्य", सा०, √ तृप् - तुष्ट होना, प्रसन्न होना, लोट्, म०पु०, ए०व० , छान्दस दीर्घ, दिवादिगणीय, परस्मै०,सेट् ।

तृप्तिम् 8.82.6 √ तृप्+ ति, स्त्री० , तोष, तुष्टि, द्वि०वि०,ए०व० ।

तोकाय 1.84.17 "पुत्राय", सा०,पुत्र के लिए, पु०, विशे० {तुच्} तोक्+ अ , "तोक", च०वि०,ए०व० ।

तोकस्य 6.44.18 तोक्- अ {तुच्} पु०, विशे०, ष०वि०, ए०व० ; "सन्तान का

तोशासा 8.38.2 "शत्रून् हिंसन्तौ", सा०, तोश् + अस् तोशस् {दीर्घ होकर तोशास्} प्र०वि०, द्वि०व०, विशे०, पु०, शत्रुओं का बाधक।

तित्विषे 8.12.24 "सर्वं जगद्दीप्यते", सा०, √ त्विष् दीप्तौ, लिट्, प्र०पु०, ए०व० ; आत्मने०, प्रकाशित होना।

त्रदम् 8.45.28 "शत्रूणां तर्दयितारम्", सा०, तृद्+ अत्, द्वि०वि०, ए०व०, विशे०, पु० ; शत्रुओं का वध करने वाला" तृद् > तर्द् > त्रद ।

त्रितेषु 6.44.23 "त्रिभिर्वेगयागेषु विस्तार्यत इति त्रितोऽग्निः । त्रिषु लोकेषु तायते विस्तार्यत इति त्रितो वायुः । पु०, त्रिवर्ग यागों में, स०वि०,ब०व० ।

त्रिधातु 6.44.33 त्रयाणां धातुनां समाहारः इति त्रिधातु, द्विगु समास, त्रयो धातवो विभागाः अवयवाः यस्य सः, बहु० स०, विशे०, त्रिगुण, त्रिप्रकार, त्रिभाग, प्र०वि०,ए०व० ।

त्रिशोकाय 8·45·30 " त्रिशोकनामर्ष्यर्थम् " सा०, त्रि + शोक = त्रिशोक, च०वि०, ए०व० ; विशे०, पु० त्रिशोक नामक ऋषि के लिए ।

त्रिषु 8·45·34 "त्रि", स०वि०, ब०व०, तीनों में ; पु०, विशे०।

त्रि:सप्तसानु 8·96·2 " एक विंशतिसंख्यानि , त्रि: सप्तकृत्व:, सानूनि " त्रीणि सप्तकानि यासां ता: सानु: = त्रि:सप्तसानु, तीन बार सात= 21 पर्वतों के शिखर , द्विगु समास, सुप् लोप, प्र०वि०, ब०व०, सानूनि में सुप् लोप ✓ षप्+ अुण् ।

त्विष: 8·93·14 " तेजोरूपाद्वृत्रवासाद्भीता: यद्वा तस्य प्रभावेन परिगमिता: । " सा०,तेज, प्रभा, दीप्ति, तेश, शक्ति, ✓त्विष् + क्विप् = , पुं०वि०, ए०व०, स्त्री० ।

त्वेष: 1.100·13 " दीप्त: " " त्विष् दीप्तौ " पचाद्यच् " इति सा०, ✓ त्विष् + अच् = त्विष, प्र०वि, ए० व० ।

त्वक्षसा 1·100·15 " तक्षू त्वक्षू तनूकरणे" असुन् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ।" शत्रूणां तनूकर्त्रा आत्मीयेन बलेन ।" सा०)

✓ त्वक्ष् + असुन् = त्वक्षस्, तृ०वि०, ए०व० ; विशे०,§ अपनी § शक्ति से, बल से, पराक्रम से ।

त्राम् 1·100·7 " त्रातारं रक्षितारम् " त्रैङ्· पालने§" । त्रायते इति त्रा: क्विप् च " इति च शब्देन दृशिग्रहणानुकर्षणादन्यस्मपदादपि क्विप् ।" सा०, ✓ त्रा रक्षा करना, पालन करना , बचाना ।

"द"

दक्षम् 6·44·7,9 , 8·93·26 "बलम् ", स्कन्द० कर्मसु समर्थः
प्रवृद्धं वा यष्टारम्", सा०, वलवान् भवतीत्यर्थः" शरीरसामर्थ्यलक्षणं बलम्",
वेङ्कट " दक्ष् + अ , ब्रि० वि०, ए०व०, विशे०, चतुर, समर्थ ।

दक्षिणम् 10·47·1 " दक्षिना ;"
1· ✓ दक्ष् - इण = विशे०, प्रवीण, चतुर।
2· पु०, दाहिना हाथ, द्वि० वि०, ए०व०।
3· दक्षिण दिशा ।

दत: 7·85·2 " दन्तान्", सा०," दत्", द्वि० वि०, ब०व०, दाँतों को ।

दत्तस्य 8·45·42 - "दत्तम्", सा०, ✓ दा देना, दद् - त,
विशे०, दिए गए (धन) का, ष० वि० ए०व० ।

दधृक् 8·82·2 " धृष्टस्तत्प्रीतौ प्रगल्भ: संस्तान्" ञिधृषा प्रागल्भ्ये
इत्यस्मात्" ऋत्विग्दधृक्°" इत्यादिना क्विन् प्रत्ययान्तो निपात्यते ।"
सा०, द - धृक्- क्विन् ; क्रि० विशे०, प्रगल्भता के साथ, धर्षण के साथ।

दभन् 8·45·23 " हिंसन्तु", सा० ।

दभन् 1·84·20 " दम्भु दम्भे" लोडर्थे छान्दसे लङ्। " बहुलं छन्दसि"
इति विकरणस्य लुक् । न माङ्योग इति अडभाव: । सा०।

दभन् 6·44·12 हिंसिषु । यद्वा वचनव्यत्यय:" सा०," दभ्नोतिरपि
वधकर्मा" स्कन्द०।

✓ दभ् (दम्भ्) हानि करना, लुङ्, म०पु०, ए०व० ।

दभीतिम् 2·15·9 " राजर्षिम्" दभीति" नामक राजर्षि को, पु०, सं०,
द्वि० वि०, ए०व० ।

दभीतये 2·13·9 " दभीतिर्नाम कश्चिदृषि:" तदर्थम्", सा०, दभीति+ ए

= दभीतये , च०वि०,ए०व०, दभीति नामक ऋषि विशेष के लिए , पु०, सं० ।

दभीते: 2·15·4 " दभीतिर्नाम कश्चिद्राजर्षि: तस्य," सा० ," दभीति", ष०वि०,ए०व०, सं०पु०, दभीति नामक ऋषि का ।

दभ्रम् 8·45·32 " अल्पम्", सा० ,थोड़ा सा, √ दभ् > दभ् + र , विशे०, द्वि०वि०, ए०व० ।

दम्पती 10·162·4 जाया च पतिश्च इति दम्पती, द्वन्द समास, ।

दयसे 2·13·6 " यजमानेभ्य: प्रयच्छसि "," दयदानगतिरक्षणहिंसाग्रहणेषु" आत्मनेपदी । सा०,

√ दय्, लट्, म०पु०, ए०व० ; आत्मने०)

दर्ता 8·98·6 " दारयिता भवसि",सा०,√ द् तोड़ना > दर् + तृ = दर्ता, विशे०,तृजन्त प्र०वि०,ए०व० ।

दशग्वम् 8·12·2 " ये दशभिर्मासै: सत्रासनं परिसमाप्य निरगमन् ते दशग्वा अङ्गिरस: । तेषामन्यतमं दशग्वम् ।" द्वि०वि०,ए०व०,पु० , विशे०, ऋषियों का वर्ग विशेष)

दशयन्त्रम् 6·44·24 दश संख्याकैरेन्द्रवायवादिभिर्ग्रहैर्यन्त्रैरुपेतमुत्समुत्सरणशीलं रसं दाधार धारयति ।" दश+ यन्त्रम् = दशयन्त्रम्,विशे० , प्र० वि०,ए०व० , दश यंत्रों वाला)

दस्माद् 8·45·35 " पापानामुपक्षपयितु: ," सा० ,दस्- म (√ दंस् (विशे०,दर्शनीय, अद्भुत, वीरकर्मा, दस्म(इन्द्र(दर्शनीय, " वसूनि दस्यमीमहे" (1·42·10(पं०वि०,ए०व०, पापों को दूर करने वाले (इन्द्र(से ।

दस्यून् 2·13·9 " उपक्षपयितॄन् ", सा०, दस्- यु= पु० ,शत्रु, नास्तिक, बर्बर ,द्वि० वि०, ब०व० ।

दस्युहा 1·100·12 " दस्यूनामुपक्षपयितॄणामसुराणां हन्ता " "बहुलं छन्दसि" इति हन्तेः क्विप्" इति सा०, दस्यु + ✓ हन् + क्विप्, दस्यु का संहारक, पु० ,विशे० ।

दस्युहनम् 10·47·8 " शत्रूणां हन्तारम् ", दस्यु + हन् + क्विप् = पु० , विशे० ,दस्यु का हन्ता, दस्युघाती, बर्बर, द्वि० वि०,ए०व० ।

अधाक् 2·14·3 ✓ दह् जलाना ," अधाक्षीत् " । देहर्लुङ्" मन्त्रे घस " इत्यादिना चेर्लुक् । ✓ दह् ,लङ् ,प्र०पु०, ए० व० ।

✓ दा

ददे 8·45·4 ✓ दा-देना, लिट्, आत्मने० प्र०पु०,ए०व० ; आ+ ददे = लिया, ग्रहण किया ।

ददुः 2·13·10 "हविर्लक्षणमन्नं यजमानाः प्रयच्छन्ति ", सा० , ✓ दा , लिट्, प्र०पु०,ब०व० ।

दाः 10·47·1 " देहि " सा०, प्रदान करो ; ✓ दा, लोट्, म०पु०, ए०व० ।

ददि 8·12·33 " ददस्व " . " दद दाने " । अनुदात्तेत् । व्यत्ययेन परस्मैपदम् । छान्दसः शपो लुक् । " 8·12·33

-देहि- " दद दाने " । लोटि व्यत्ययेन परस्मैपदम् । " बहुलं छन्दसि "इति शपो लुक् । " सा० ,10·47·8

✓ दा लोट्, म०पु०, ए०व० ; प्रदान करो, परस्मै ० ।

अदामान: 6·44·12 " हविषामदातारः ",सा०, अदातारो हविषाम् अयज्यवानः ", स्कन्द० " अदातारो अयजमानः ",वेङ्कट ,अ- ✓ दा + शानच्

= अदामान: अदाता, दान न देने वाला , कृपण या यज्ञ न करने वाला। सा० के अनुसार हविष् न देनेवाला तथा वेङ्कट एवं स्कन्द० के अनुसार भी वही अर्थ किया गया है। दान न देने वाला , यही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है । प्र०वि०,ए०व०, विशे०।

दित्सन्तम् 2·14·10 " सोमं दातुमिच्छन्तं यजमानं " " डुदाञ्दाने " इच्छायां सन् सनि मामाधु " इत्याकारस्य इसादेश: । " अत्र लोपो- ऽभ्यासस्य" इत्यभ्यासलोप: । स: स्यार्धधातुके इति सकारस्य तत्वम् ।" सा०,✓ दा + सन्+ शतृ = द्वि०वि०,ए०व०, देने की इच्छा वाला ।

दात्रे 6·44·10 "कामानां दात्रे",स्कन्द० "हविषां दाने वर्तमाना ", सा० , ✓ दा+ त्र, नपुं,देय,दान, दाता,स०वि०,ए०व० ।

दामा-6·44·2 " दाता ", स्कन्द; वेंङ्कट, सा०,✓ दा + मन्, विशे०, देय,दाता, प्र०वि,ए०व० ।

दामने 8·93·8 " स्तोतृभ्यो धनादिदानायैव ",सा०,✓ दा- मन् > मनिन् ‖1‖ पु०,दान ‖2‖ विशे०, देय, दाता, दामने - च०वि०, ए०व०, ‖ "ए" प्रत्यय- वैदिक‖ स्तोताओं के लिए धनादि दान हेतु ।

अदाशुरि: 8·45·15 ✓ दाश्- पूजना, पूजा, स्त्री०, " अदानशील: ", सा०, अ+ दाश्+ उरि ओ = जो पुजारी न हो, विशे०, प्र०वि०,ए०व० ; नञ् समास ।

दाशुषे 1·84·7 " हविर्दत्तवते ", सा० , ✓ दाश् + क्वसु =दाश्वस्, च०वि०,ए०व०, विशे०,पु०, ‖ हविष् प्रदान करने वाले‖ यजमान के लिए ।

दासवेशाय 2·13·8 " दासानां " दस्यूनां वेशाय विनाशाय ", सा० ।
दास+ वेश ✓ विश्+ अ, च० वि०, ए०व० ; दस्यु वर्ग के विनाश के लिए ।

दिव: 6·44·21, 8·12·6, 8·82·4 " स्वतेजसा दीप्यमानात् द्युलोकात् । तत्रस्थैर्देवैरित्यर्थः " ✓ दिव्-चमकना §द्यु,द्यौस्§ पु०, आकाश, स्वर्ग, द्युलोक, दिव् + अ= नपु०,दिन, पं०वि०,ए०व० ; द्युलोक में स्थित देवताओं से ।

दिव: 8·12·6 ष० वि०,ए०व०,द्युलोकका ।

दिव: 6·44·21 ष० वि०,ए०व०,द्युलोक का ।

दिव: 8·98·3 " आदित्यस्य", सा०,आदित्य का,ष० वि०,ए०व० ।

दिव: 8·98·4,5,6 "स्वर्गस्य", सा०,स्वर्ग का, ष० वि०,ए०व० ।

दिवि 10·119·11 "द्युलोके स्थापित:", सा० ,द्युलोक में ; ✓ दिव् §द्यु, द्यौस्§ पु०,आकाश, स्वर्ग,स०वि०,ए०व० ।

दिवे 8·45·12 दिवे- § अन्वहं" प्रतिदिनम्" , अव्ययीभाव समा०, दिवे दिवे इति प्रतिदिनम्।

दिव्यस्य 2·14·11 " द्युलोकार्हस्य", द्युलोक के , दिव्यलोक के, स्वर्ग के ; ~~अदेदिव्द 8·45·26~~ ✓ दिव् + य = दिव्य, ष० वि०,ए०व०,विशे० , दैवी, पु० ।

दुर्गे 8·93·10 " दुर्गमेऽपि मार्गे", सा०,दुर्+ गम्,स०वि०,ए०व० ।
§1§ विशे०,दुर्गम §2§ नपु०,दुर्गम मार्ग,किला §3§ दुर्गमनीय स्थल विशेष ।

दुर्नामा 10·162·2 अर्श नामक रोग, दुर्+ नामन् , प्र० वि०,ए०व० ।

दुर्मर्षम् 8·45·18 " दु:खमर्षम् " " शत्रूणां दु:सहं बलम्" सा०, अविस्मरणीय
दुर् + ✓ मर्ष् + अ = दुर्मर्ष, विशे०, पु०, द्वि० वि०,ए०व० ।

दृर्णायून् 1·84·16 " परेर्दृणकर्मेन क्रोधेन युक्तान् । दृणीयति: क्रुध्यति-
कर्मा । दृणीयतिर्हानिकर्मा । हातुमशक्यान् वेदाध्ययनस्य नित्यत्वात् ।"
"हृणीङ् लज्जायाम्" कण्ड्वादित्वात् यक् । बहुवचनात् अस्मात् उण्प्रत्यय: ।
अतो लोपे सति वर्णव्यापत्त्या आकार: । मृगय्वादिवां द्रष्टव्य: " ।
सा०, ✓ हृणीङ् + यक् + उण् = हृणायु > हृणायून्, दुर् + हृणायून्, द्वि०
वि०, ब०व०, क्रोधान्ध, अत्यन्त क्रोधी ।
✓ दुह दोहते - " दोग्धु ददातु ", सा०, दुह्, आत्म०, लेट्, प्र०पु०, ए०व० ।
हिन्दी अनुवाद में लट् का प्रयोग लोट् हेतु ।"
दूरात् 8·45·17 ॥ दूः+ र, नपु०, विशे०, पं० वि०,ए०व० ; दूरी से ।
✓ दुह्-दुहना, रीता करना ।
अधुक्षन् 8·38·3 "अपूरयन्", सा०, ✓ दुह्, लङ्, प्र०पु०,ब०व० ।
दोहना 8·12·32 दोहने दोहनाधिकरणेऽभिषवस्थाने वेद्यामित्यर्थ: ," सा०
✓दुह् + ल्युट् + आ ॥ यु > अन् ॥ = दोहन् + आ, प्र०वि०,ए०व० ; या
सुपां सुलक् से लोप, स०वि०,ए०व० ।
दर्दत् 7·55·4 " विदारयत्" युवयोर्नित्यवैरित्वात् अस्मान् मा दशेत्यर्थ: ।सा०,
✓ दृ > दर् , लोट्, म०पु०,ए०व० ; आक्रमण हेतु दौड़ना ।
7·55·6 ✓दृश - देखना, पश्यति- दृश, परस्मै०, लट्, प्र०पु०, ए०व० ।

दृशु 6·44·10, 8·82·8 देखना, ददृशे - "अन्तर्दृश्यसे", सा०, ✓ दृश्, लिट्, आत्मo प्रoपुo, एoवo ।

दृशये 6·44·8 "दर्शनार्थम्", सा०, "दर्शनाय", वेङ्कट, स्कन्द० । ✓ दृश् + ए चतुर्थी बोधक "ए" प्रत्यय "वैदिक" देखने के लिए ; च०वि०, एoवo ।

अदेदिष्ट 8·45·26 "अदीप्यत", सा०, ✓ दिश् "देना", लुङ्, म०पु०, एoवo ; दिखाना, संकेत करना ।

दृहयस्व 8·8·7 "दृढो भव संग्रामे", सा०✓ दृह्, आत्मने०, लोट्, म०पु०, एoवo , ✓ दृह्, पक्का करना, दृढ होना ।

दृंहितानि 2·15·8 "शिलाभिद्ढीकृतानि द्वाराणि", सा०, ✓ दृह् + क्त, प्र०वि०, ब०व० ।

दृभीकम् 2·14·3 "सर्वान् विदारयति भियं करोतीति दृभीको नामासुरः । तम् असुरम् ।" सा०, द्वि०वि०, एoवo ; पु०, संज्ञा ।

दृळहा 8·45·13 "दृढानामपि शत्रूणाम्", सा०, ✓ दृह् + क्त, ष० वि०, ब०व, वसुप् का लोप, दीर्घ ।

देवः 6·44·16 देव् - अ = देव, ✓ दिव् द्योतने, पु०, सं०, देवता, प्र०वि०, एoवo ।

देवयुः 8·12·11 देव्- अ = देव, पु०, विशे०, देव- यु, प्र०वि०, एoवo ; देवयुक्त ।

देवाः 1·100·15, 8·98·3 "देवगणाः", सा०, "देव, पु०, सं०, प्र०वि०, ब०व० ।

देवासः 6·44·8 "देवाः" स्तोतारः ऋत्विजः" सा०, सोमदायिनो यजमानाः", स्कन्द०, "देवाः" वेङ्कट ; देव, प्र०वि०, ब०व०, वैदिक रूप ।

देवम् 6·44·16 देव, द्वि० वि०, ए०व०, पु० ।

देवतया 10·24·6 " देवत्वेन", सा० ," देवता," तृ० वि०, ए०व० ; दिव्य शक्ति से ।

देवेभ्यः 10·119·13 " इन्द्रादिभ्यः ", सा० ," देव ", च० वि० ब०व ; देवताओं के लिए ।

देवा 10·24·6 " देवौ द्योतमानौ ", सा० ," देव ," सम्बो०, द्वि०व०; "सुपां सुलुक् से सुप् का लोप होकर देवा बना है । "

देवता 1·100·15 " दानादिगुणयुक्तस्य देव एवदेवता । देवात्तल् इति स्वार्थे तल् । सुपां सुलुक् । इति षष्ठ्या लुक् । देव + तल् > सुपां सुलुक्, ष० वि०, ए० व० ।

देवी 6·44·5 " देवनशीले ", सा०, देव+ ई= देवी, स्त्री०, प्र० वि०, ए०व० ।

देवीः 8·80·10 " देव्यो देवपत्न्यः", स्त्री०, प्र० वि०, ब०व० ।

देववन्तम् 10·47·3 देव + वत् , विशे० पु० , देवभक्त, देवयुक्त, द्वि० वि०, ए०व० ।

1·101·3 द्यावापृथिवी - द्यौ श्च पृथिवी च द्यावापृथिवौ । " दिवो द्यावा" इति द्यावादेशः । स चाद्युदात्तो निपातितः । पृथिवी शब्दो ङीष् प्रत्ययान्तः, अन्तोदात्तः । " देवताद्वन्द्वे च " इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् । "वा छन्दसि " इति पूर्व सवर्णदीर्घः । सा० ," द्यौश्च पृथिवी चेति द्यावापृथिवी , दिव् द्यावादेश, " अधिकरण श्लेषोंग्यक्रियाध्यहारः मध्येऽवस्थितः:- "अन्तः मध्ये स्थित सन् " उव्वट, षष्ठ्यर्थे द्वितीया " अन्तर्योगे वा " महीधर । देवता द्वन्द्व समा

द्युमत्तमम् 6·44·1, 6·44·9 " अतिशयेन यशस्वी ", सा० ," अन्नवत्तम: " स्कन्द० "दीप्ततम् " वेङ्कट {6·44·1} ✓ द्यु>द्युमत्+ तमप्, विशे०, द्वि० वि०, ए०व०, सर्वश्रेष्ठ दीप्तियुक्त, तेजस्वी, प्रकाशवान्, इत्यादि । स्कन्द० एवं वेङ्कट ने अतिशय अन्नवान् अर्थ किया है । {6·44·1}

द्युम्नी 8·93·8 " तेजस्वी " "द्युम्नं द्योततेर्यशोवान्नं वा" इतियशस्वयन्न ।

✓ द्युम्न ≬ ✓ दिव् ≬ द्युम्न+ ई = द्युम्नी, विशे०, पु० ; प्र०वि०,ए०व० ।

द्युम्नैः 6·44·1 " द्योतमानैर्यशोभिः",सा० ", " सवनीयपुरोडाशादिभिरन्नैः

यानि वा यागफलभूतानि यजमानेभ्यो ददाति तैः द्युम्नक्तमः । " स्कन्द०

द्युम्ना + क द्युम्न,तृ०वि०ब०व०, दीप्तिमान् यशों से युक्त विशे० ।

द्रुग्धः 5·40·7 " द्रोग्धासुरः", सा०,✓ द्रुह+ क्त, विशे० , द्रोही,पापाशय,

दुष्टसत्व, प्र०वि०,ए०व० ।

द्रुणा 8·96·11 ✓ द्रुण+ टाप् ,तृ०वि०,ए०व०, नाव से । ✓ द्रु भागना ,

दौड़ना।

द्रव 8·82·1 " त्वं त्वरयागच्छ",सा०,✓ द्रु,लोट्,म०पु०, ए०व० ।

द्रोणम् 6·44·20 ✓ द्रु,नपु० , दारु कलश, प्र०वि०, ए० व० ।

द्वयोः 8·45·34 "द्वि०"ष०, स०, पु०, स्त्री०,नपु० ;

यहाँ स०वि० के रूप में प्रयुक्त है ।

द्विता 8·93·32 "द्विधा", सा०,क्रि०वि० , दो प्रकार से ,

विशे० , तृ०वि० ।

"ध"

धनम् 8·80·8 " धन",नपु०, प्र०वि०, ए०व० ।

धनानि 1·100·13, 1·100·9 " धन", नपु०,प्र०वि०,ब०व० ।

धनाय 1·100·8 "धनार्थम्",सा०, धन, च०वि०,ए०व० ; धन के लिए ।

धनस्य 6·44·9 धन,नपु० ,ष०वि०,ए०व० ।

धनंजयम् 8·45·13 " धनानां जेतारं", सा०, ष० तत्पुरूष स०, विशे०, पु०, द्वि० वि०,ए०व० ; धनके धनको विजित करने वाले, ; धनं जयति इति धनंजयः तम्, बहु०स० ।

धनस्पृतम् 10·47·4 " धनानां पूरकं स्रष्टारं वा स्पृशतेर्वा त्तरपदम्"। सा०, धन+ √ स्पृ + त = धनस्पृत, द्वि०वि०,ए०व० ; विशे०, पु०,धनपूरक को ।

धरूणम् 10·47·2 " धनानां धारकम्",सा०,"धारणकर्ता को" । √ धृ धर> उण् , विशे०,पु०,द्वि०वि०, ए०व० ।

§2§ धरूणम्- नपु०, सहारा,§ अन्यत्र §

धर्मकृते 8·98·1 " कर्मणः कर्त्रे ", सा० ," धर्म सम्बन्धी कर्म करने वाले के लिए , धर्म - √ कृ - त > धर्मकृते, च०वि०,ए०व० ।

धर्मणा 2·13·7 " सकललक्षणेन कर्मणा ", सा०,"धर्म",तृ०वि०,ए०व०, धर्म सम्बन्धी कर्म से । √ धा- धारण करना, रखना, देना, पोषण करना ।

दधामि 8·93·27 " संपादयामि", सा०,√ धा लट्, परस्मै० , उ०पु०, एकव० ।

आ धत्से 8·96·5 " आदधासि", सा०,√ धा, लट्, आत्मने० म०पु०,ए०व० ।

दाधार 6·44·24 √ धा लिट्, प्र०पु०, ए०व० ," छान्दस दीर्घ" ।

दधिरे 2·13·10 " सर्वे जनाः धारयन्ति",सा०, √ धा, लिट्, प्र०पु०,ब०व० ।

दधिषे 2·13·6, 8·45·31 " निदधासि",सा० ," धारयसि", § 8·45·31§ सा०,√ धा,लिट्, म०पु०,ए०व० ।

दधातन 10·119·9 " दधातेर्लोटि।मिर्निः",सा० , √ धा, लोट्, उ०पु०,ए०व०

धेहि 1·28·9, 6·44·9 §1§ "स्थापय", सा०, "वसोरेद्धाभ्यासलोपश्च" §पा०सू० 6·4·119§ इति एत्वाभ्यासलोपौ । निपात: । §1·28·9§

§2§ " धारय", सा०,§6·44·9§ ✓ धा, लोट्, म०पु०, ए०व० ,आत्मने०।

धारयद् 2·13·7, 8·12·30 ," अधारयद्",सा० , ✓ धा, लङ्, प्र०पु०,ए०व० ; § अट् का लोप § ।

अदधात् 6·44·23 " निहितवान्", सा० , ✓ धा, लङ्, प्र०पु०, ए०व०; रखा, धारण किया ।

आधात् 5·40·6 " निस्तमस्कं कृतवानित्यर्थ:",सा०,✓ धा, लुङ्, प्र० पु०,ए०व० ,"वैदिक छान्दस दीर्घ" आ । अधात् ।

दधान: 6·44·8 " दधद्", छन्द० , " धारयन्",सा०,✓ धा + शानच्, प्र०वि०,ए०व०, धारण करता हुआ ।

धामनि 8·12·32 " स्थाने तेजसि वा",सा०,धा- मन्, नपु०, उपवेशन स्थान, यज्ञ स्थल, धामन् > धामनि, स०वि०,ए०व० ।

धारा 8·93·3 " धार" वेग, प्रवाह,स्त्री०, धार > धारा,प्र०वि०,ए०व० ।

धावद्भि: 1·101·6 " पराजयेन पलायमानै:", सा० , ✓ धाव्,भागना,तृ० वि०,ब०व०, पराजय से भागते लोगों से ।

धिया 8·93·17 " अन्या बुद्धया युक्ता भवेम",सा० , ✓ धी ✓ ध्यै-ध्यान करना, तृ०वि०,ए०व० , बुद्धि से , धी ।

धिया 8·96·11 " त्वदीया स्तुत्या कर्मणा", सा०,तृ०वि०,ए०व० , स्तुति कर्म से ।

धियावसु 8·80·10 " कर्मधनइन्द्र:",§ भक्ति का धनी इन्द्र§ विशेष०,सम्बो०,प्र०वि०,ए०व० ।

√धिष्-धारण करना या शब्द करना ।

दिधिषेम 8·96·6 " धारयेम" । धिष् धारणे इति धातु केचिदवदन्ति । यद्वा मित्रम् । छान्दसमेकवचनम् । वयमिन्द्रेण सह मित्राणि सुहृदो भवामेति गीर्भिरिन्द्रं शब्देयम् । " धिष् शब्दे" । जौहोत्यादिक: । अत्र व्यत्ययेन द्विविकरणता, श्लुश्च शश्च । √ धिष् विधिलिङ्,उ०पु०, ब०व० । या

√ धिष् शब्दे" जौहोत्यादिक:|अत्रव्यत्ययेन द्विविकरणता श्लु श्च । शश्च ।

अदीध्यु: 5·40·5 √ धी √ ध्यै

धी : 8·80·7 " स्तुति: क्रिया वा",√ धी या √ ध्यै,स्त्री०, प्रज्ञा, ध्यान, भक्ति, प्रार्थना, स्तुति, √ ध्यै + क्विप्,प्र०वि०,ए०व० ।

धीनाम् 6·44·15 " ध्यातृणां स्तोतृणां कर्मणां वा ।" सा० ,"धी", ष० वि०,ब०व०,बुद्धिमानों का ।

धीति: 8·12·10 " स्तुति: ", सा०,√ धी + ति - स्त्री०, प्रार्थना, स्तुति, प्र०वि०, ए०व० ।

धीतिभि: 8·12·31 " कर्मभि: परिचरणै: सार्धम् ", सा०, तृ०वि०,ब०व०, स्त्री०, स्तुतियों से ।

√ धुन्

2·15· धुनोति

धुनिम् 2·15·5 " धुनोति स्तोतृणां पापानीति धुनि: परूष्णी नदी ", सा०,द्वि०वि०, ए०व० / नदी को ।

धुनिम् -"एतन्नामसुरो", सा०, " धुनि", द्वि०वि०,ए०व० , पु०,सं०, चमुरि√ और धुनि नामक असुर विशेष को / पु० ।

दोधत: 10·119·2 " भृशं कम्पयमानाः", सा० , ✓ धृञ् कम्पने, धृ- शतृ= दोधत्, प्र० वि०, ब० व०, विशे०।

धूर्तय: " हिंसकाः" सा० ।

धूतय: ✓ धूञ् कम्पने + ति, धूति, स्त्री० धूति > धूतय:, प्र० वि०, ब० व० ।

8·45·9 ✓ धृ > धूर्त > धूर्तय:, प्र० वि० ब० व०, हिंसक राक्षसगण ।

नधूर्वन्ति 8·45·9 " नहिंसन्ति", सा० ✓ धूर्व ✓ ध्वृ हिंसायाम्", लट्, प्र० पु० ब० व० ।

धूर्षु 1·100·16 " युगसंबन्धिषु वहन प्रदेशेषु," सा० "धूर्ष", स० वि० ब० व०।

✓ धृ धारण करना, स्थिर करना ।

अधारय: 2·13·7, 8·93·13 " न्यदधा", सा०, § 2·13·7§ " धारयसि", सा०, 8·93·13 ✓ धृ लङ्; म० पु०, ए० व० ।

दधर्ष 8·96·9 " प्रतिकूलमभिभवति । अभिभावुको नास्तीत्यर्थः । धृषु प्रसहने" । " आ धृषाद्वा" इति विभाषितणिच् तदभावे लिटि रूपम् । "सा०, ✓ धृषु, लिट्, प्र० पु०, ए० व० ।

धृष्णो 1·84·1, 8·45·14 " धर्षकेन्द्र" ", शत्रूणा धर्षयितरिन्द्र", ✓ धृषु + न > धृष्ण, ढीठ, साहसी, भरोसे वाला, अभिमानी, प्रगल्भ, चतुर, विशे०, सम्बो० प्र० वि०, ए० व० ," छान्दस दीर्घ" ।

धेने 1·101·10 " पानसाधनभूते जिह्वोपजिह्विके " सा० ।

धेनव: 1·84·11 " धेनुः," स्त्री० , प्र० वि० ब० व० , गायें ।

" ✓ धी ध्याने" सोचना, विचारना ।

अदीधयु: 5·40·5 " न दृश्यन्ते ", सा०, ✓ धी , लङ्, प्र० पु० ब० व० ।

~~नोट- धी ; के पूर्व तथा द्विर्भाव के अव लगाना है ।~~

धु (औ)

धौतीनाम् 2·13·5 "चलन्तीनां नदीनाम्", सा०, ष०वि०, ब०व०, गतिमान-नदियों की ।

धौतारिभि: 6·44·7 "कम्पनकारिणीभिवडवाभिरीदृशैर्नदिभर्वा युक्त: सन् ।". सा०, √ धूञ् कम्पने ।

धौतरी > धौतारिभि: तृ०वि०,ब०व०, सामर्थ्य से कँपाने वाले से ।

ध्रुवेभि: 1·84·18 "ध्रुवैर्नित्यः", सा०, "ध्रुव", तृ०वि०, ब०व०, विशे०, ऋतु का विशेषण है । ऋतुएं नित्य होती हैं ।

अदधात् 6·44·23 "निहितवान्", सा०, √ धा, धारण करना, रखना,

लङ्, प्र०पु०, ए०व० ; "धारण किया" ।

अधारय: 2·13·7, 8·12·30, 8·93·13 न्यदधा (2·13·7)

"(धारयसि (8·93·13·) सा०, √ धृ - धारना, थामना, पकड़ना, धारण करना, स्थिर करना,

√ धृ, लङ्, म०पु०, ए०व० ; "धारण किया ।"

"न"

√ नक्ष्-समीप आना, पहुँचना, व्यापना, पाना ।

अभिनक्षन्त: 8·96·5 "अभित: इन्द्रं स्तुतिभिर्विभिर्गच्छन्त: ।" सा०, अभि + √ नक्ष् + शतृ, प्र०वि०, ब०व० ।

नक्तम् 8·96·1 "अपररात्रिकाले", सा०, नक्- तम् , नपु०, रात्रि, रात, ष०वि०, ए०व० ; सप्तम्यर्थ प्रयुक्त है यहाँ पर ।

नकि: 1·84·6, 6·44·11 अव्यय, कोई नहीं, " नास्ति " सा० ।

नी नदीनाम् 2·15·3 " नदी ", ष०वि०,ब०व०, स्त्री०, सं०, नदियों के।

नदीवृत्तम् 8·12·26 " नदनान्नद्र आप: ", सा०,नद् + ई = नदी, स्त्री०,विशेष, ध्वनिकारी, नदी - ✓ वृ - क्त = द्वि०वि०पु०ब०, विशे०, नदी को घेरने वाला ।

नमसा 5·40·8, 10·47·6 " नमस्कारेण", सा०, " नमस् ",तृ०वि०पु०ब०, नमस्कार के द्वारा ।

नमसा 1·84·12 " स्वकीयेन पयोरूपेणान्नेन ", सा०,तृ०वि०,प०व०, दूध रूपी अन्न से।

नमोभि: - " नमस् ", तृ०वि०ब०व०, नमस्कारों से ; " क्रियमाणैर्नमस्कारैर्दीयमानैर्हविर्भिर्वा "· सा० ।

नमस्यत 1·84·5 " नमस्कुरुत ", सा०,नमोवरिवश्चित्रङ: इति क्यच्, ✓ नमस्+ क्यच्, लोट्, म०पु०,ब०व० ।

नमुचि - पु०,सं०,प्र०वि०,ए०व० ; एक राक्षस ।

नर्यापसम् 8·93·1 " नरहितं नर्यम् । नरहितकर्माणम् ।" सा०, नृ > नर् - य, नर्यापसम्, द्वि०वि०,ए०व०, विशे० ,मनुष्यों हेतु हितकारी, वीरकर्म-कर्त्ता ।

नर: 2·14·8, 1·100·8 " नेतार: स्तोतार: ", सा०, नृ >नर्+ अ , पु०,आदमी।

नरम् 1·100·8 " जयस्य नेतारम् ", सा० ,द्वि०वि०,ए०व० ।

नरा 8·38·3 " नेतारो युवाम्",सा० ," नर",पृ०प्र०वि०, द्वि०व०," नरौ" के स्थान पर नरा वैदिक प्रयोग है सुपां सुलुक् ।

✓ नव् - झुकना ,

प्रणवन्त: 8·96·5 " नु शब्दे" प्रकर्षेणाशब्दयन् " । सा०, प्र + ✓ नव् लङ्,प्र०पु०ब०व०, (वैदिक) या

✓ नु शब्दे + शा, प्र०वि०ब०व० ।

नवनवतिम् 8·93·2 " नवनवतिसंख्याका एकोनशतसंख्याका:",सा० ,

नव+ नव - ति = द्वि०वि०,ए०व० , 99 संख्या का ।

नवीयान् 6·44·7 " नवतर: कल्याणतर: स्तुत्यतरो वा," सा० ,

" नौतेरन्यजन्ताद् अयम् ॥ ईयसुन् । तृच व्यत्ययेन कर्मणि नव्यतर: स्तुत्यतर: इत्यर्थ: ।" स्कन्द० ," नवतर:",वेङ्कट० ,

नव+ ईयसुन्- तृच् = प्र०वि०ए०व०,विशे० ,पु० ।

✓ नश् नाना "नशथ" प्राप्त", सा० (2·14·8)

✓ नश्-प्र० ✓ अश् ✓ नश् (✓ नश्, लोट्, म०पु०ब०व० ।

नाशयामि 10·162·3 " नाशयाम:", सा० ,

✓ नश् ✓णश् अदर्शने,नष्ट होना, नेत्रों से ओझल होना, लट्+ णिच् + उ० पु०ए०व० ।

अनीनशत् 10·162·2 " नाशयतु",

नहि 8·80·1 ✓ णश्> ✓ नश्-लुप्त होना, ओझल होना, लङ्·, प्र०पु०ए०व० ।

नरा 8·38·3 " नेतारौ युवाम्", सा०, " नर", पु०प्र०वि०, द्वि०व०," नरौ" के स्थान पर नरा वैदिक प्रयोग है सुपां सुलुक्० ।

✓ नव् - झुकना ,

प्रअनवन्त: 8·96·5 " नु शब्दे" प्रकर्षेणाशब्दयन् " । सा०, प्र + ✓ नव् लङ्, प्र०पु०ब०व०, (वैदिक) या

✓ नु शब्दे + श्नु, प्र०वि०,ब०व० ।

नवनवतिम् 8·93·2 " नवनवतिसंख्याका एकोनशतसंख्याका:", सा०,

नव+ नव - ति = द्वि०वि०,ए०व० , 99 संख्या का ।

नवीयान् 6·44·7 " नवतर: कल्याणतर: स्तुत्यतरो वा," सा०,

" नौतेरन्तुजन्तादु अयम् .. ईयसुन् । तृच व्यत्ययेन कर्मणि नव्यतर: स्तुत्यतर: इत्यर्थ: ।" स्कन्द०," नवतर:", वेङ्कट०,

नव+ ईयसुन्- नुद् = प्र०वि०प्र०व०,विशे०,पु० ।

✓ नशयानां "नशथ" प्राप्त" . सा० (2·14·8)

✓ नश्-पु० ✓ अश् ✓ नश् (✓ नश्, लोट्, म०पु०ब०व० ।

नाशयामि 10·162·3 " नाशयाम:", सा०,

✓ नश् ✓णश् अदर्शन ,नष्ट होना, नेत्रों से ओझल होना, लट्+ णिच् + उ० पु०ए०व० ।

अनीनशत् 10·162·2 " नाशयतु",

नहि 8·80·1 ✓ णश्) ✓ नश्-लुप्त होना, ओझल होना, लङ्., प्र०पु०ए०व० ।

नाभा 8·12·32 " नाभौ पृथिव्या नाभिस्थानीये मध्ये", सा०,

✓ नभ् , नाभ् + इ= नाभि, पु० ,नहन चक्रपिण्डिका, केन्द्र - स्थान,

नाभौ के स्थान परनाभा वैदिक प्रयोग सुपां सुलुक्° से लोप , स०वि०,ए०

व०, केन्द्र भाग में ।

नाम 6·44·8 " शत्रूणां नामकम्", सा०, " उदकनामैतत्", स्कन्द०, "प्रसिद्ध",

"नामन्", प्र०वि०,ए०व० ।

§1·84·15 §" तेज: तदादित्यस्य - रश्मय:", सा०)

नार्मरम् 2·13·8 नृन् मनुष्यान्मारयतीति नृमर: कश्चिदसुर: । तस्यापत्यं

नार्मरम् , पु०,द्वि०वि०,ए०व० ।

नारी: 7·55·8 " नार्य:", सा०, नृ > नर + अ = नर > नारी,

स्त्री०,प्र०वि०,ब०व० ; सभी स्त्रियाँ ।

नारी 1·28·3 " पत्नी", सा०प्र०वि०,ए०व० ।

नासत्या 10·24·4 " नासत्यौ युवाम् ", सा०,

नासत्य✓ नस् नसति §1§ सहायक, सत्यवादी, मित्र ।

§2§ पु० ,अश्विन् द्वौ " येन यर्न नासत्योपयाथ" प्र०वि०,द्वि०व० ।

" नासत्यौ " का " सुपां सुलुक्°" से लोप होकर " नासत्या " वैदिक रूप ।

नासत्यौ 10·24·5 " अश्विनौ युवाम्", सा०,प्र०वि०,द्वि०व०, अश्विन् युगल ।

1·100·16 नाहुषीषु " नहुषा मनुष्या: तत्सम्बन्धिष्" सा०,

नाहुष् - अ, सम्बन्धी ,पड़ौसी, स०वि०,ब०व० । ~~निमृ~~

निपूतम् 2·14·9 " आप्यायनेन शोधितं सोमम् । " सा०,

नि+ ✓पू + क्त = विशे० , शोधित , छना हुआ , द्वि०वि०ए०व० ।

निमिश्ल: 8·96·3 " संमिश्र: अत्यन्तं सम्बद्ध: कृत:", सा०,

नि-मिश्र- र>ल , बंधा हुआ संयुक्त, विशे,प्रoविo,पoवo ।

नियुत्वान् 8·93·20 नितरां युवन्ति मिश्रयन्ति स्वबलेन शत्रूनिति

नियुतो मरुत: । तद्वान् । यद्वा नियुत इति वायोर्वाहनाश्वा: । स वायु:

कदाचित् संग्राम इन्द्राय स्वाश्वानदात् । तद्वान् ।

नियुत्- वत् (मतुप् > वत् (प्रoविo,पoवo ; विशेo,समास पद, अश्वयुक्त।

निरेक 8·96·3 " निरेके " निपूर्वाद्रिच्यतेर्वा निस्पूर्वादिर्तेर्वेति संदेहादन

वग्रह निर्गमने यदा युद्धार्थमिन्द्रो निर्गच्छति तदानीम् । साo,

नि+ रिच् + घञ्, प्रभुत्व, उत्कर्ष, व्यावृत्ति, उच्यता, सoविoपoवo ।

निरेक " सुपां सुलुक्" से वैदिक रूप है । निरेके > निरेक ।

निवर: 8·93·15 " वृत्रासुरस्य निवारयिता इन्द्रा", साo ,

नि ✓ वृ >वर - अप्, पु.o,वर्ग, रक्षाo,शत्रु निवारक,प्रoविo.पoवo।

निष्कृतम् 8·80·7 " निष्कर्तारम्", साo ,निष्- कृ- त ,विशेo,निमित्तक

कर्म को करने वाला ; द्विoविo,पoवo ।

निषत्त्नुम् -" निषिदन्तं च गर्भम्", साo ,

नि✓ सद्- त्नु= सद्>षत्,द्विoविo,पoवo, विशेo,नीचे जाते हुए को ।

निष्पतन्त्यो: 10·24·5 " विस्फुलिङ्गान् निर्गमयन्त्यो: सत्यो: ।" साo,

निष् ✓ पत्, सoविo,द्विoवo ; धर्षित होने पर अग्नि या (निष्पन्न होने पर(

स्फुलिङ्ग निकलने पर ।"

निष्षिध: 6·44·11 "नि: षेधा निवारणानि", साo," निष्षेधनानि"

वेङ्कट नि: +✓षिध्+क्विप्,प्रoविo,बoवo ।

नृषाह्ये 1·100·5 " नृभि: पुरूषै: सोढ़व्ये संग्रामे", सा0 ," षहमर्षणे"
"शकिसहोश्च" (पा0सू0 3·1·99) इति कर्मणि यत् । अन्येषामपि दृश्यते इति
संहितायां धात्वकारस्य दीर्घत्वम् । यतोऽनाव: " इत्याद्युदात्तत्वे कृदुत्तर-
पदप्रकृतिस्वरत्वम् ।" सा0,

नृ+ √ षह् + कर्मणि यत् = नृषह्य, छान्दस दीर्घ, नृषाह्य + स0 वि0,ए0
व , संग्राम में मनुष्यों द्वारा ले जाने पर ।

सनीळेभि: 1·100·5 समान निलयैर्मरुभि: सह " समानं नीळं येषां ते सनीळा:
समानस्यच्छन्दसी इति सभाव: ।

" नीळ", तृ0 वि0, ब0व0, विशे0, पु0, मरुतों का विशेषण है ।

√ नी - ले जाना

अनय: 2·13·12 " आपद्भ्य: उध्र्वं नीतवानसि", सा0 ,

√ नी, लङ्, म0पु0, ए0व0 ।

उन्नयध्वम् 2·14·9 √ नी, लोट्, म0पु0, ब0व0 , "उध्र्वं नयत", सा0 ।

नूतनाभि: 6·44·13 " नवाभि:" नवीन, वर्तमान, नू- तन + आ, तृ0 वि0,
ब0व0, नवीन (स्तुतियों) से ।

नूनम् 1·84·5 "क्षिप्रम्", सा0 ," निपात", निश्चयही, शीघ्र, ।

नृभि: 1·100·6 " पुरूषै:", सा0 ," नृ" पु0, सं0, नर, मनुष्य, तृ0 वि0, ब0व0 ।

नृम्णम् 8·98·10 "धनम्","गयो नृम्णम्" इति धननामसुपाठात् । सा0,

नृ- म्ण, नपु0, धन, ऐश्वर्य, द्वि0 वि0, ए0व0 ।

नृम्णाय 8·45·21 नृ- म्ण , नपु0, च0 वि0, ए0व0, धन के लिए, नृ-यस्तराय – 8·96·
" मनुष्याणां सुखेन तरणार्थं", सा0, नृ > नृ-य: , नृभ्य: + तराय= ष0तत्पु0
समास, च0 वि0, ए0व0 , √ तृ तरणे, तराय मनुष्यों के सुख से पार जाने हेतु ।

"प"

पक्वम् 6·44·24 पक्- व, विशे0, प्र0वि0ए0व0, पका हुआ, √ पच् + क्त।

पञ्चकृष्टय: 10·119·6 " निषादपञ्चमाश्चत्वारोवर्णा: पञ्चजना: । यद्वा देवमनुष्यादय: । सा0, पंचवर्णात्मक जगत, पञ्च+ √ कृष्- क्ति, प्र0वि0, ब0व0, पु0, विशे0 ।

पणिम् 8·45·14 " पणमानम्", सा0 ;

§1§ √ पण्- इ = पणि, धन, द्वि0वि0, ए0व0, विशे0 ।

§2§ व्यवहारप्रधान:, सौदा करने वाला, सूम ।

§3§ आर्यों का शत्रु पणि नामक राक्षस । यहाँ धनयुक्त चन्द्र से तात्पर्य है ।

पणिम् 6·44·22 " पणि" नामक असुर विशेष, द्वि0वि0ए0व0, पु0।

पतयन्तम् 10·162·3 "रेतोरूपेण गच्छतम्", सा0, √ पत्+ य +शतृ, द्वि0वि0, ए0व0 ।

पत्यसे 1·84·9 " पातयति प्रापयति । छंदसि लुङ्लङ्लिट: इति चतुर्थ्या: लुङ् ।

पत्यसे " पत्लृगतौ। अस्मात् अन्तर्भावितण्यर्थात् व्यत्ययेन श्यन् । सा0, √ पत्, आत्मनेपद, लट्, प्र0पु0, ए0व0 ।

पति: 8·80·9 " पालकस्त्वम्", सा0, √ पा रक्षणे, पत् - इ, पति, पाति रक्षति इति पति:, पु0, सं0, प्र0वि0, ए0व0 ।

पतिम् 6·44·45 "पालकम्", सा0, " स्वामिन्", स्कन्द0, सं0, द्वि0वि, ए0व0 ।

पितरम् - पतिम्

पत्से 8·93·31 'पति' सम्बो0, ए0व0 ।

पतिर्दिव: 8·98·6·4 " स्वर्गस्यापि ईश्वरोऽसि।", सा0 ।

पतिर्भूत्वा 10·162·5 अनिश्च तत्पुरुषसमास: √ द्यु दिव: द्युलोकस्य स्वर्गस्य पति:। प्र0वि0, ए0व0, विशे0 ।

पतिर्वार्याणाम् 10·24·3 वरणीयानां धनानां पति: स्वामी,

प्र०वि०,ए०व०,पु०,विशे० ; वरणीय धनों का स्वामी ; समास पद ।

पदेव् 8·12·31 " यथा बन्धुश्च पुरुषमुत्कृष्टानि पदानि स्थानानि प्रापयति", सा०,पद् + आ > पदा + इव = पदेव, तृ०वि०,ए०व० ; उत्तम स्थान की भाँति ।

पत्नीवन्त: 8·93·22 " सोमसेकार्थे पत्न्य: पालयित्र्य आपो वसतीवर्यं एक धनाश्च तद्वन्त: । सा०,पत् – नी=पत्नी+ वत्,विशे०,सपत्नीक,पत्नीयुक्त, प्र०वि०ब०व० ।

पनस्यवे 8·98·1 " स्तुतिमिच्छते", सा०,पनस्-यु > पनस्यवे,च०वि०ए०व०, प्रशंसा के लिए,वैदिक रूप ।

पन्थास: 1·100·3 " रश्मय:" पतन्तीति पन्थानो रश्मय: । पतेस्थ च (उ०सू० 4·452) इति इनि प्रत्यय स्थकारान्तादेशश्च । जसि " पथिमथ्यृभुक्षामात् इति व्यत्ययेन अदवम् । " आज्जसेरसुक्" यद्वा पन्थान (शेष अन्यत्र)

पन्थाम् 8·12·3 "पन्थानं मार्गम्",सा०," पथ्",नपु०,द्वि०वि०ए०व० ।

पथि 6·44·8 " मार्गे " सा० ,' वेधा: ऋतो यज्ञस्तस्य पन्था अनुष्ठान देशो योयज्ञो(पु०,स०वि०ए०व०) (वर्तते तस्मिन् अवस्थित: मेधाविन्द्र:", स्कन्द० ।

पय:8·93·13· " क्षीरम्", सा०,'पयस्" ,नपु०,द्वि०वि०,ए०व० ; दूध को

पय: 2·13·2 'उदकम्',प्र०वि०ए०व० ; नपु० ।

पराच 6·44·17 निपात,दूर,स०वि०,ए०व० ।

पराभृतम् 8·45·41 परा- भृ - त,विशे०,दूर,गुप्त,छिपा हुआ, द्वि०वि०, ए०व० ।

परावत: 8·12·6 6·44·15 " दूरात्","दूरे देशादपि","सा० , परा- वत्,स्त्री० , दूरी, पं०वि०,ए०व० ; दूर से ।

परावति 8•12•7 " परागते दूरदेशे", सा०, परा- वत्, सं०वि०प्र०व०, दूर देश में ।

परायणम् 10•24•6 ✓ पा पाने, पीना

पिब 1•84•4 ✓ पा, लोट्, म०पु०ए०व०, परस्मै० ।

अपिबत् 8•45•26 " पीतवान्", सा०, ✓ पा, लङ्, प्र०पु०ए०व० ।

पिप्ये 8•12•13 "सेवनेन वर्धये" व्यत्ययोऽस्छान्दसो लिट्, उ०पु०ए०व०लिङ्यर्थे-श्च" इति पी भाव: । सा०✓ पा, णिच् , लिट्, उ०पु०ए०व०, छान्दस प्रयोग ।

पाहि 10•24•3 " रक्ष", ✓ पा रक्षणे, लोट्, म०पु०, ए०व० ।

अपायि 6•44•8 पीतोऽभूत् । " व्यत्ययेन कर्तरि णिच् । " सा०, ✓ पा पीना, लुङ्, प्र०पु०ए०व० । (कर्मवाच्य)

पायु: 6•44•7 ✓ पा रक्षणे + यु "रक्षको भवति ", सा०, " पालयिता अभवत् ," स्कन्द०, प्र०वि०ए०व०, तु-वायु: । " रक्षक:", वेंकट ।

पाता 6•44•15 ✓ पा+तृच्, प्र०वि०, ए०व०, पु०, विशे०, पान करने वाला ।

पीता: 10•119•2 ✓ पा, पीना+ क्त, प्र०वि०ब०व०, पु०, विस्पीये हुए ।

पिबध्यै 6•44•14 ✓ पा पाने+ ध्यै (वैदिक प्र०) " पातु", सा०, पीने के लिए ("सोमा पिब" ", सा०)

पपान: 6•44•7 ✓ पा+ कानच्, प्र०वि०ए०व०, पीता हुआ ।

पीतये 8•12•12• " पानाय" च०वि०, ए०व० ; पीने के लिए । ✓ पा > पी+ति ।

पीतिम् 8•82•6 ✓ पा पाने , पी+क्तिन्, द्वि०वि०, ए०व० ; स्त्री० ; घूँट, पान ।

पाञ्चजन्य 1· 100·12 " गन्धर्वा अप्सरसो देवा असुरा रक्षांसि पञ्चजनाः ।
निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णा वा । तेषु रक्षकत्वेन भवः । भवार्थे" बहिर्देव-
पञ्चजनेभ्यश्चेति वक्तव्यम् ॥ का० 4·3·58·1॥ इति ञ्यप्रत्ययः ञित्त्वात्
आद्युदात्तत्वम् । सा०,

पञ्चजनाः इति पाञ्चजन स्वार्थे अण् + य पाञ्चजन्य,प्र०वि०, ए०व० ।

पात्रम् 6·44·16 " पातव्यम्",सा० , ✓ पा-त्र = बरतन विशेष,प्र०
वि०,ए०व० ; नपु०,सं० ।

✓ पा रक्षणे

पिता 7·55·5 " पितृ", प्र०वि०ए०व०,पु० ।

✓ पा रक्षणे,पाति रक्षति इति पिता ।

पितुः 6·44·22 "पालयितुः ", सा०,प्र०वि०,ए०व०, पु० ,पालयिता के ।

पितुमत् 1·101·1 " हविर्लक्षणैरन्नैरुपेतं । ह्रस्वनुड्भ्याम् मतुप्" इति
मतुप् उदात्तत्वम् । सा०,

पि- तु - मतुप्, विशे०,पु०,पान, भोज्य, अन्न ,हविष्, पोषक, तत्ववान्,
अन्नादियुक्त ।

अपारयत्- 2·15·5 ✓ पार+णिच् , लङ् , प्र०पु०,ए०व० ; पार कर
दिया ।

पिन्वते 8·12·5 " वर्धते", सा०,✓ पिन्व्- बढ़ना,✓ पिन्व्+ शतृ, च०
वि०,ए०व० ; बढ़ने हेतु ।

पिशङ्ग 7·55·2 " केषुचिदङ्गेषु पिशङ्गवर्णैर्युक्त है शुनक त्वम् ।" सा०,
पिशंग्- अ,प्र०पि०,ए०व०,किञ्चित् पिशङ्गवर्ण युक्त ; पु०,विशे० ।

पिपेष 2·15·6 "चूर्णी चकार", सा0, नष्ट कर दिया ✓ पिन्षु, लिट्, प्र0पु0, ब0व0 ।

पीयूषम् 2·13·1 "रसभूत पय:", सा0, ✓ पा+णिच् > पीय् + उष्, द्वि0वि0, ए0व0 ; पु0, नपु0, खीस, मलाई, अमृत, सोमरस, इत्यादि ।

पुनीते 2·12·11 "दशा पवित्रेण शोधयति । इन्द्रपानार्थमिति : शेष: ।" सा0, ✓ पूञ् पवने, क्र्यादि0, पा0धा0 क्र्यादि / 10, आत्मने0, लट्, प्र0पु0, ए0व0, { नपुंसके भावे क्त } ।

पुण्यगन्धा: 7·55·8 "मङ्गल्यगन्धा", सा0, पुण्योगन्ध: यस्या सा इति । पुण्यगन्धयुक्त, स्त्री0, बहुब्रीहि समास, प्र0वि0, ब0व0 ।

पुत्रमिव 10·119·4 पुत्रम् + इव, पुत्- र, पु0, पुत्र, द्वि0वि0, ए0व0 । पुत्रमिव - पुत्र के सदृश ।

पुनरायनम् 10·24·6 पुन: । आ । अनयम् । "गृहं प्रत्यागमनम् । सा0, पुन: ✓ इण् गतौ + ल्युट्, द्वि0वि0, ए0व0 , वापस आना ।

पुरा 8·80·2 "पहले", क्रि0वि0 ।

पुराम् 8·98·6 पु:>पुर>पुराम् , ष0वि0, ब0व0 ।

पुर: 8·93·2 "पुरी", पु0, द्वि0वि0, ब0व0, स्त्री0, नगरियों को ।

पुरूणि 1·84·12 "बहूनि", सा0 पुर- उ= पुरु, विशे0, प्र0वि0, ब0व0; प्रचुर, अनेक ।

पुरु 6·44·16 "पुरूणि बहूनि ।" सा0, प्र0वि0, ब0व0; बहुत ।

पुरूकृत् 2·13·8 "पुरूणां कर्मणां कर्त: ।" पुरु + ✓ कृ- त् = सम्बो0, विशे0, पु0, प्र0वि0, ए0व0 ।

पुरूणामन् 8·93·17 पुरू+ नामन्, सम्बो०, प्र, ए०व०, विशे०, पु०, बहुनामधारी (इन्द्र)।

पुरूनृम्णाय 8·45·21 पुरू- नृ- म्ण, विशे०, पु०, च०वि०, ए०व० ; बहुत पराक्रमी ।

पुरूवसो 10·24·1 " बहुधन!" सा०, पुरूवसु > पुरववसो, सम्बो०, प्र०वि०, ए०व० ; हे विपुल धनयुक्त इन्द्र ।

पर: 2·13·11- अन्यत्र

पुरूष्टुत 8·93·17 " बहु प्रशंसित', जगद्वन्ध ।" पुरू + स्तु + क्त, विशे०, सम्बो०, प्र०ए०व० ।

पुरस्तात् 8·80·4 पुरस्+ तात्, क्रि० वि०, पूर्व में, आगे, सामने, ✓ पृ > पुरस् ।

पुष्टिम् 2·13·4 ✓ पुष्-टि= द्वि०वि०, ए०व० ; धन को , अभिवृद्धि को। "त्वया दत्तं पोषकं धनं स्वकीयाभ्य: । " सा० ।

पुष्टेषु 10·162 " सोमेन प्रवृद्धेषु यागेषु", सा०, ✓ पुष्पुष्ट होना, फलना-फूलना, पुष्ट करना " पुष्ट", स०वि०, ब०व० ।

पुष्टावन्त: " सैभूतधासा:", सा०, (8·45·16) ✓ पुष्+ ट + आ + वत्, विशे, प्र०वि०, ब०व० ; पुष्टीकारक ।

पूतम्8·12·4 " शुद्धम्", सा०, ✓ पूञ् + क्त, द्वि०वि०, ए०व०, पवित्र ।

पूर्वी: 6·44·11 "बह्वी:", पूर्वकाल प्रवृत्ता: एव", स्कन्द० ," बहूनि", वेङ्कट ।

पूर्वी 6·44·9 8·12·21 " बह्वी:", सा० ," बहुकालभवा:", स्कन्द०", 'बह्वी', वेंकट, पूर्- व + ई-पूर्वी :, द्वि०वि०, ब०व०, स्त्री०, बहुत ।

पूर्व्याभि: 6·44·13 "पूर्वकाले कृताभि:", सा०, पूर्व्य+ आ, पूर्व्या, तृ०वि०,ब०व०।

पूर्वचित्तये 8·12·33 " पूर्वप्रज्ञानायान्येभ्य: स्तोतृभ्य:", सा0, प्रथम प्रज्ञानवान् हेतु, पूर्व + ✓ चित् + क्तिन्, ✓ पूर्व+ चित्ति, च0वि0, ए0व0 ; विशे0, पु0 ; " चिती संज्ञाने " भावे क्तिन् ।

पृच्छत् 8·45·4 " अप्राक्षीत्", सा0 पृष्टा ✓ प्रच्छ्, लङ्, प्र0पु0, ए0व0 ; अट् का लोप ।

पृ: ✓ पृ पूरणे-कामना पूरक ।

अपृणत् 2·15·2 " पूरितवान्", सा0 ✓ पृण पूरणे, लङ्, प्र0पु0ए0व0 ; परिपूर्ण कर दिया ।

पृणत 2·14·10 " पूरयत", सा0, ✓ पृ पूरणे, लोट्, म0पु0, ब0व0 ।

अपृणत: 6·44·1 अन्यत्र ✓ पृक्ष पृक्षाय 2·13·8 तव हविर्लक्षणान्नलाभाय" सा0, ✓ पृक्ष - ब, अन्न, भोज्य पदार्थ की प्राप्ति हेतु ; च0वि0, ए0व0 ।

पृतना: 8·96·7 ✓ पृ- तनन्+ टाप्, पृत्, स्त्री0, द्वि0वि0, ब0व0 ; शत्रु सेनाओं को ।

पृत्सु 6·44·18 " संग्रामेषु", सा0, " पृत्", स0वि0, ब0व0, युद्धों में ।

पृतनाज्ये 8·12·25 " संग्रामनामैतत्". पृतना: सेना: अजन्ति गच्छन्त्यस्मिन्निति वा पृतना जीयतेऽस्मिन्निति वा पृतनाज्यं संग्राम: । सा0, ✓ पृ - तनन्+ टाप् = पृतना, अज् गतौ+क्यप्= आज्य, पृतना+ आज्य= पृतनाज्य > पृतनाज्ये, स0वि0, ए0व0 ; नपु0, विशे0, संग्राम में ।

पृतनाषहम् 8·80·10 पृतना+ ✓ षह् + क्विप्, द्वि0वि0ए0व0 , ✓ षह् मर्षणे, शत्रुओं को दूर करने वाले [पुत्र] को ।

पृथिव्या: 6·44·21 " भूमिश्च", सा0, ✓ प्रथ् प्रख्याने " पृथ्वी" ष0वि0, प0व0, पृथ्वी का, स्त्री0।

पृथु: 8·45·2 'महान्', सा0, विस्तृत, उरू, ✓ प्रथ् प्रख्याने पृथ्- उ, विशे0 प्र0वि0, प0व0।

पृथुबुध्न: 1·28·1 " स्थूलमूल:। सा0, बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् भवति। विस्तीर्ण, विस्तृत मूल वाला, विशे0, पृथु + बुध्न् = प्र0वि0,प्र0व0, बहुव्रीहिसमा0।

पृशनायुव: 1·84·11 " स्पर्शनकामा:", सा0, ✓ स्पृश् > पृश्- अन्, छान्दस दीर्घ, पृशना+यु, पृशनायु > पृशनायुव:, प्र0वि0,ब0व0; स्पर्श की कामनायुक्त।

पृश्नय: 1·84·11 " नानावर्णा गाव:", सा0, चितकबरी, धब्बेदार, विविध वर्ण युक्त (गायें) पृश्-नि, विशे0, प्र0वि0,ब0व0।

पिप्रतीम् 8·12·31 " पूजयन्तीं प्रीणयन्तीं वा", सा0; पि- ✓ पृ+ शतृ+ ई = पिप्रती, द्वि0वि0, प0व0, स्त्री0।

प्रजाम् 10·162·5 प्र +√जन् - अ = प्रजा, स्त्री0, सन्तान, द्वि0वि0, प0व0, प्र- जा= सन्तति को।

प्रजाभ्य: 2·13·4 *प्रजा*, च0वि0,ब0व0।

प्रणीतय: 8·12·21 " प्रणयनानि धनानां प्रकृष्टप्रापणानि" सा0, प्र + ✓ नी>णी + ति = प्रणीति, प्र0वि0,ब0व0, विशे0, नीतियाँ।

प्रथमम् 8·80·5 " सर्वेषां मुख्यम्", सा0, प्रमुख, पहले; द्वि0वि0, द्वि0वि0, प0व0।

प्रथयन् 8·12·6 " अस्मदीयानि धनानि विस्तारयन्", सा0, ✓ प्रथ् प्रख्याने+ णिच्+ शतृ, प्र0वि0, प0व0, विस्तृत करता हुआ।

पप्रथत् 2·15·2 "अप्रथयत्", भा0, " प्रथ प्रख्याने। " ण्यन्तस्य लुङि· चङि· रूपम् । " चङ्यन्यतरस्याम् " इति मध्योदात्तत्वम् । √ प्रथ, शप्, लुङ्, प्र0पु0, ए0व0 । फैलाया ।

पप्रथे 8·12·12 " प्रथितो विस्तीर्णशरीरो बभूव ," √ प्रथ विस्तृत करना, √ प्रथ - अ, लिट्, प्र0पु0ए0व0 ।

सुपां सुलुक्° से " ए " का लोप होकर पप्रथ बना ।

प्रवताम् 2·13·2 " प्रवणताम् निम्नगानांपयसाम् । " सा0, प्र+ वत्, उँचाई, ष0वि0,ब0व0 ।

प्राचः 2·15·3 " प्राङ्मुखान् ", सा0 ; प्राक् ", क्रि0 वि0,ब0व0 ; सामने, अभिमुख, क्रि0 वि0 ।

प्राची 8·12·12 " प्राञ्चन्ती प्रकर्षेण स्तुत्यगुणगणं प्राप्नुवती ," सा0, प्र + √ अञ्च्+ क्विन् = प्राची, स्त्री0, प्राङ्मुखी, अग्रगण्य, विशे0, प्र0वि0,ए0व0 । (उत्तम, श्रेष्ठ)

प्रातः 8·38·7 " प्रातर् " सुबह , प्रा + त, क्रि0वि0, अव्यय ।

प्रियम् 6·44·16 " अनुकूलम् ", द्वि0वि0,ए0व0 ।

प्रियाः 1·84·11 " प्रीतिहेतुभूता स्ता: ", सा0, प्रिय+ आ, प्र0वि0,ब0व0, विशे0, स्त्री0, प्रिय (प्यारी) ।

प्रिये 8·12·32 "प्रीणयितव्ये सति ", सा0, प्रिय > प्रिये, स0वि0, ए0व0, विशे0, स्त्री0, (प्रिय ~~सम्बन्धमें~~ स्थान में ।

निप्रये

प्रोष्ठेशया: 7·55·8 " प्राङ्गणे शयाना:", सा०, प्रोष्ठ, स०वि०प्र०व०,
प्रोष्ठे, प्रांगण में ✓ शी शये, शय्+ आ = शया, प्रोष्ठे शेते, स० तत्पुरुष समास ।
प्राङ्गण में सोई हुयी स्त्रियाँ ।

पौंस्यम् 8·45·26 2·13·10 " इन्द्रस्य वीर्यम्", सा०, " पुंसोभाव:
पौंस्यम् वीर्यमिति। " सा०, पौन्स+ भावे यत्प्रत्यय, " तस्यापत्यम् " से, पु०,
वि०, द्वि०वि०, ए०व० ; पराक्रम बल ।

पौंस्येभि: 1·100·3 " बलै: ", सा०, (अपने) बल से । "पौंस्य" +
तृ०वि०ब०व०, पु०, वि० ।

पन्थास: 1·100·3 " रश्मय: " " पतन्तीति पन्थानो रश्मय: ।"
पतस्थ च " (उ०सू० 4·452) इति इनि प्रत्यय स्थकारान्तादेशश्च ।
जसि पथिमथ्यृभुक्षामात् इति व्यत्ययेन आत्वम् " आज्जसेरसुक् ।" यद्वा
पन्थान इत्यत्र वर्णव्यापत्तया नकारस्य सकार: । पथिमथो: सर्वनाम स्थाने"
इति आद्युदात्तत्वम् । " सा० ,पन्थ > पन्थास:, प्र०वि०ब०व० (वैदिक रूप)
तु०-जन > जनास: ।

परायणम् 10·24·6 " गृहात्परागमनम्", सा०, परा+ अयनम्, परा+
इण् गतौ + ल्युट्, द्वि०वि०, ए०व०, घर से बाहर जाना ।

पतिर्भूत्वा 10·162·5 " भर्तृरूपो वा भूत्वा ", सा०, पति: +
✓ भू+ क्त्वा = पतिर्भूत्वा, स्वामी, रक्षक, होकर, पु०, वि० ।

पयसा 2·14·10 " पयस्", तृ०वि०ए०व०, दूध से ; नपु०, वि० ।

पारिषत् " पारयतु " । " पारतीर कर्मसमाप्तौ। " लेटि अडागम: ।
" सिब्बहुलं लेटि " इति सिप् । तस्य आर्धधातुकत्वात् इट् । व्यत्ययेन णि लोप:।
सा०, ✓ पृ > पार + णिच् + इष्, लेट्, + अडागम + सिप् + इट्, प्र०पु०,
ए०व० ।

अपृणत: 6•44•11 " पृण दाने", इति धातु, सा०,

" अप्रयच्छत:", वेङ्कट, " पृण प्रीणने । हविर्भिश्च त्वाम् अप्रीणयत:।" स्कन्द०,

अ+ पृण् + शतृ = अपृणत्, वि०वि०,ब०व० ; नञ् समास अदानशील अर्थात्

शत्रु या कृपण ।

"ब"

बद्धा 8•80•1 " बद् सत्यम्", सा०,

✓ बन्ध् बन्धने

1•28•4 ✓ बन्ध बन्धने।- क्र्यादिभ्य: श्ना" । अनिदिताम् इति न

लोपे "श्नाभ्यस्तयोरात: इति आकारलोप: ।

प्रत्ययस्वर । तिङि• चोदात्तवति" इति गतेर्निघात:।"

वि+✓बन्ध्, आत्मने॰,प्र०पु० , ब०व० ।

बर्हि: 8•45•1 " बर्हिष:", आसन ; बर्हिष्>बर्हि:, नपु०, वि०वि० ,

ए०व० ।

बर्हणा 6•44•6 " बृहत्वं माहात्म्यम् ", सा०,बर्हन् , स्त्री०, शक्ति,

तृ०वि०प्र०व० ।

बर्हिषि 1•101•9 " आस्तीर्णे दर्भे उपविश्य", सा०, नपु०, विशे०, स०वि०,

ए०व०, बिछे हुए आसन पर ।

निबर्हीत् 1•100•18 अवधीत् । निबर्हयतिर्वधकर्मा । सा०, नि+✓बर्ह्, लङ्•,

प्र०पु०,ए०व० ।

सबल: 8·93·9 " बलसहितस्तस्मात्" बलेन सहितम् इति सबल:,प्र०वि०ए०व०,
---
समास,पु०,विशे०, बलयुक्त ।

बहु 2·14·13 " प्रभूतम् ", सा० , क्रि०वि०ए०व० ।
--

बहुभ्य: 1·84·9 " बहु",पु०, पं०वि०ब०व०,बहुतों में से ।

✓ बाध् पीड़ित करना, दबाना, बादि० ।

बाध: 8·45·40 " हिंसित्री:", सा० ✓ बाध्-बाँधना,लोट्, म०पु०,

ए०व० ।

बबाधे 2·14·4 ✓ बाध्, लिट्, प्र०पु०, ए०व० ।

बाधताम् 10·162·1 "हिनस्तु", सा० ✓ बाध् तुल्य वध्-दाबना, आत्मने०,
----
लोट्,प्र०पु०,कि०व० ।

बुध्न: 1·28·1 बुध् - न = प्र०वि०ए०व० ," मूल", जड़ ।

बुन्दम् 8·45·4 " इषुम्", सा० " बुन्द इषुर्भवति" (निरु० 6·32) यास्क:,
----
द्वि०वि०ए०व०, पु०,तीर , बाण ।

8·45·19 ✓ बुध् जागना बोधि " बुध्यस्व", सा० , ✓ बुध्,लोट्,म०पु०,ए०व० ।

" बुधअवगमने" । भौवादिक: । लोटि छान्दसो विकरणस्य लुक् । बोधि:

धित्वे धकारलोपश्छान्दस: ।" सा० ,

बोधतम् 8·38·2,3 " जानीतम्", सा० ✓ बुध्- जानना, लोट्, म०पु०,

द्वि०व० । ✓ बृह्- विस्तृत होना/या करना ।

बृहन् 8·45·2 " महान् खलु", सा० ✓ बृह् + अत् = बृहत् ।

बृहत् 8·98·1 ✓ बृह् + अत् = बृहत् ,क्रि० विशे०, महान्, विस्तृत,
पु०प्र०वि०,ए०व० ।

बृहन्तम् 2·15·2 "महत्", सा0 , ✓ बृह् + अन्त, त्रि0वि0, ए0व0, विशे0,
बड़ा, विशाल, विपुल, प्रचुर, बहुल।

बृहते 8·99·1 " बृहत् " च0वि0ए0व0 ; महान् ॥ इन्द्र॥ के लिए।

ब्रवीमि 1·84·9 ✓ ब्रू, लट्, परस्मै0, उ0पु0ए0व0 ।

✓ ब्रू- स्पष्ट बोलना ✓ ब्रूञ्, अदादि0, उभयपदी ।

ब्रवत् 1·84·17 ब्रवीतेर्लेटि अडागमः । ।सा0,

॥1॥ ब्रू, लोट्+ अड् ।

॥2॥ ब्रूञ् , लेट्, प्र0पु0, ए0व0 ।

ब्रवीतन् 1·84·5 " ब्रूत", सा0", ब्रवीतेर्लेटि तप्तनप्तनथनाश्च इति तनबादेशः ।

✓ ब्रू, लोट्, म0पु0, ब0व0 ।

अब्रवीत् 8·45·57 ✓ ब्रू, लङ्, प्र0पु0ए0व0 ; परस्मै0 ।

अब्रुवन् 10·24·5 ✓ ब्रू, लङ्, प्र0पु0, ब0व0 ।

आहुः 6·44·10 "ब्रुवन्ति जनाः", स्कन्द0 "कथयन्ति पुराजाः", सा0,

✓ ब्रू, लट्, प्र0पु0ब0व0 ।

ब्रह्माणः 8·96·5 " ब्रह्मन्", प्र0वि0ब0व0, वैदिक रूप ; छान्दस दीर्घ।
विद्वान् , विवेकी ।

ब्रह्माणि 8·98·8 " ब्रह्मन्", नपु0, प्र0वि0ब0व0, अन्न, वेद, स्तोत्र ।

~~✓ ब्रू का सब रूप ... होने~~

ब्रह्मणा 10·162·2 वेद मंत्रों की सहायता से ।

" मन्त्रेण सह", सा0 , ॥1॥ ब्रह्-मन् - पु0, कवि, स्तोता, पुरोहित, ब्राह्मण ।
॥2॥ ब्रह्-मन्-√बृह्, नपु0, गीत, स्तोत्र, प्रार्थना, ब्रह्मन्+ टाप्, ब्रह्मणा, स्तोत्रों से, गीतों से, तृ0वि0, ए0व0 ।

ब्रह्मभ्यः 8·45·39 " ब्राह्मणेभ्यः", सा०, " ब्रह्मन् "

नपु०, सं०, च०वि०,ब०व०, ब्राह्मणों के लिए ।

ब्रह्मणे - " ब्राह्मणजातिभ्योऽग्निभ्यः", सा०, " ब्रह्मन्", च०वि०,ए०व० ।

सप्तमी के लिएप्रयुक्त है ।

ब्रह्मद्विषः 8·45·23 " ब्राह्मणानां द्वेष्टृन्", सा०, तत्पुरुषसमास, पु०,

विशे० द्वि०वि०,ब०व० । ब्राह्मणों के शत्रु,द्वेषकों को ।

ब्रह्मवाहः 1·101·9 " ब्रह्मणा मन्त्ररूपेण स्तोत्रेणोह्यमानप्राप्यमाणेन्द्र ",

सा०, तृ० तत्पुरुषसमास, विशे०, ब्रह्म+ √ वह्+अ , मन्त्र से लाने योग्य ।

" भ "

भद्रं 8·93·28 - भद्र- र = भद्र { √ भन्द् + रक्, नि न लोपः }

कल्याणतमम् । सुखोत्पादकम् वा धनम् ।

द्वि०वि०,ए०व०, विशे०, भला, सुखद, कल्याणकारी ।

भद्रा 8·80·7 " कल्याणी ", सा० , भद्र+ आ , स्त्री०,कल्याणी वाणी से ,

स्तुति से, तृ०वि०,ए०व० । विशे० ।

भद्रव्रातम् 10·45·5 " भद्रगणं कल्याणसेवकैः परिवृतम्", सा०, भद्र+ वृ+

अतच्= भद्र+व्रात् = भद्रव्रात, द्वि०वि०ए०व० । पु०, विशे०, कल्याणकारी

सेवकों के युक्त।

विभजन्तः - 2·13·4 वि+ √ भज् + शतृ, प्र०वि०ब०व० । √ भज्- बाँटना।

आभाक् 8·80·8 -" मा भजत्", सा०, आ + √भज् भाग लेने देना ,

किसी को किसी काम में सहायता देना, किसी को कुछ बाँटना ।

लुङ्,म०पु०, ए०व० ।

प्रभर्माणि 8·82·1 प्रकृष्टानि भर्माणि भरणानि पशुग्रहादिसंपादनानि यस्मिन् स प्रभर्मा यज्ञः । यद्वा प्रकृष्टाः कर्मणि कुशला भर्माणो देवानां हविष्प्रदानेन पोषका ऋत्विजो यस्मिन्निति स तथोक्तः । एतादृशे यज्ञे। सा०, §1§ प्र + √ भर् - म , स०वि०,ए०व० , यज्ञ में ।

§2§ प्रभर्मा यज्ञ में ।

भरे भरे 2·15·1 "संग्रामेषु", " भर", स०वि०,ब०व० ।

भागधेयम् 8·96·8 " भजनीयं" धनम्", सा० ," भाग+ धेयम्,नपु० , द्वि० वि०, ए०व०,विशे० ,समास पद, स्मरणीय वाँछित धन,ऐश्वर्य ।

√ भा चमकना , अदादि०, परस्मै० ।

विभावसो 8·93·25 " विशेषेण भासमानवसुमन् । यद्वा विशिष्टा भा विभाः प्रकृष्टदीप्तयः । ता निवसन्त्यत्रेति विभावसुरग्निः । सा० वि+ √ भा + वसु,सम्बो०,पु०,ए०व०, विशेषण,पु० । √ भा चमकना, प्रकाशित होना ।

भामिनः 1·84·16 " तेजसायुक्तान्",सा०,√ भा - मिन् = तृ० वि०,पु०,ए०व० । प्रकाश, दीप्ति, तेज,(√ भिद्, फाड़ना, रुधादि० ।)

बिभेद 2·14·6 √ भिद्,लिट्, प्र०पु०,ए०व० ।

भिदम् 10·47·4 √"भिद विदारणे", शत्रूणां पुरां भेत्तारम्",सा० , √ भिद् + क्विप् , द्वि०वि०,पु०,ए०व० ।

भिनत् 2·15·18 " अभिनत्",सा०, √ भिद् - तोड़ना, लङ्,प्र०पु०,ए०व० ; " अट्" का लोप,परस्मै० ।

भिन्धि 8·45·40 " विदारय",सा० ,√ भिद्, लोट्, म०पु०,ए०व०।

बिभाय 1·84·17 "बिभेति",सा० ,√ भी भये , लिट्, प्र०.पु०,ए०व० ।

भियसा " भयजनकेन तमसा ", सा०, ✓ भीयू, तृ० वि०, ए०व० ।

बिभय 8·45·35 ✓ भी, लिट्, उ०पु०, ए०व०, छान्दसदीर्घ होकर बिभया ।

भीम: 1·100·12 " सर्वेषां भयहेतुः । " ञिभी भये । " भीमादयोऽपादाने " पा०सू०3·4·74 ॥ इति अपादाने भियः पृग्वा ॥ उ०सू०1·145॥ इति मक् । " सा०, ✓ भी- मक्, प्र०वि०, ए०व०, विशे०, भयानक ।

भुवनानि 8·12·28 " भूतजातानि ", सा०, " भुवन् ", द्वि०वि०, ब०व० । लोकों को, सृष्टि जगत को।

भुवना 1·101·6 " सर्वाणि भूतजातानि " सा०, " भुवन् ", द्वि०वि०, ब०व०, सुपां सुलुक्" से सुप् लोप होकर भुवना ।

अभि–बभूथ 8·98·5 " अभिभवसि ", सा०, ✓ भू, लिट्, म०पु०, ए०व० ।

बभूविथ 8·98·11 "बभूविथ " भव", सा०, ✓ भू, लिट्, म०पु०, ए०व० ।

भवे: 8·45·18 ✓ भू, वि०लि०, म०पु०, ए०व० । भ्वादि०, परस्मै० ।

अभिभवम् 10·119·8, 8·93·7, 8·98·3 " अभिभवामि ", सा०, भवतेर्लुङि: छान्दसो विकरणस्य लुक् । " भूसुवोस्तिङि ॥ पा०सू० 7·3·88॥ इति गुणे प्रतिषिद्ध उवङादेशः । सा०, ✓ भू, उ०पु०, ए०व० । लोट् के अर्थ में लुङ् का प्रयोग ।

भुवत् 8·93·7 "भवतु", सा० ✓ भू, लेट्, प्र०पु०, ए०व० ।

भूतु 8·45·36 " भवतु ", सा०, ✓ भू, लोट्, म०पु०, ए०व० ।

आभव: 8·93·17 आ । अभव:

अभव: 2·13·10 " भवसि", सा0, √ भू, लङ्, म0पु0, ए0व0 ; परस्मै0 ।

अभवत् 2·13·1, 6·44·7 √ भू , लङ्, प्र0पु0, ए0व0, परस्मै0 ।

अभूम 6·44·10 "भू:", √ भू, लुङ् , उ0पु0, ब0व0 ।

1·100·1,2,3,4,5,6,7,8,9,10 भवतु - √ भू, लोट्, प्र0पु0, ए0व0 ।

आविर्भवन् 2·15·7 "सर्वेषां प्रत्यक्षो भवन्", सा0, आवि: + √ भू + शतृ= प्र0वि0, ए0व0, प्रत्यक्ष होता हुआ ।

अभिभू: 1·100·10, 8·98·2 "अभिभवन् वर्तसे", सा0, अभि + √ भू + क्विप्, प्र0वि0, ए0व0 , विशे0, पु0 ।

10·162·5 भूत्वा √ भू + क्त्वा, होकर । {क्त्वा}

भूय: 2·14·10 "भूयसू", द्वि0वि0, ए0व0, प्रभूत "अतिशयेन", सा0 ।

भूयिष्ठम् 8·95·3 " बहुतमम्", सा0, √ भू + इष्ठन् , द्वि0वि0, ए0व0 । विशे0, अतिशय, बहुत ।

भूरि 8·45·2, 38 " बहु," बहूनि,", सा0, भू-रि, विशेष, प्रचुर, अधिक, प्र0वि0, ए0व0 ।

भूरिषु 8·48·34 " असंख्यातेष्वपराधेषु", सा0 भूरि, स0वि0, ब0व0, असंख्य{ अपराध} होने पर ।

भूरे: 8·45·42 " बहु", सा0 ," भूरि", कर्म0 ष0वि0, ए0व0 ।

भूरिवारम् 10·47·2 " भूरीणां दु:खानां वारकं बहुभिर्वरणीयं वा । सा0, भूरि+√वृ + घञ्, विशे0, द्वि0वि0, ए0व0 ; दु:खनिवारक, या बहुतों के द्वारा वरणीय तुमको ।

भूष 8·96·12 " भूष अलंकारे ", अलंकृतो भव । ✓ भूष् लोट्, म०पु०, ए०व० । ~~भरन्ति 6·44·20~~

भरन्ति 6·44·20 ✓ भृ, लट्, प्र०पु०ब०व० । ✓ भृ-ले चलना, ले जाना,

आभर 8·93·19, 8·98·10, 8·93·28, 8·45·40,42

"आसंपादय, देहि, आहर" सा०, ✓ भृ , लोट्, म०पु०, ए०व० ।

भरत 2·14·8 ✓ भृ लोट्, म०पु०ए०व० ।

निभृतम् 2·14·10 " गूढं सुखसाधनस्वरूपम्", सा०, नि+ ✓ भृ + त ,

द्वि०वि०, ए०व० ; विशे०, गूढ़ सुखसाधन स्वरूप को ।

संभृत: 8·93·9 " उत्पादितस्तीक्ष्णीकृत: ", सा०, सम् + ✓ भृ +

त , विशे०, तीक्ष्ण किया हुआ , एकत्रित किया हुआ, प्र०वि०ए०व० ।

भोजम् 2·14·10 ✓ भुज् " फलस्य दातारं रक्षितारं च ", सा० , द्वि०वि०

ए०व०, विशे० ।

भोजनम् 2·13·4,6 " भुज्यते इति भोजनमन्नादि", सा०, ✓ भुज्+ल्युट्, सं०,

द्वि०वि०, ए०व० ; खाद्यपदार्थ ।

✓ भा ✓ भ्राज्, भ्वादि०, आत्म०, चमकना ।

भ्राजन्ते 7·55·2 " विशेषेण भासन्ते", सा०, ✓ भ्राज्, लङ्, प्र०पु०ब०व० ।

विभ्राजन् 8·98·3 " प्रकाशयन्", सा०, वि+ ✓ भ्राज् + शतृ, प्र०वि०,

ए०व० ।

भ्राता 10·162·5 " भ्रातृ", प्र०वि०ए०व०, पु० ।

भीरुभि: 1·101·6 " भयशीलै: कातरै: पुरुषै सहायतार्थमाहूवातव्य: ।

✓ भी भये + क्रु = भीरु, तृ०वि०, ब०व०, विशे०, पु० ,भयभीत पुरुषों के द्वारा ।

"भिय: क्रुक्लुकनौ" (पा०सू०3·2·174) इति क्रुप्रत्यय: ।

"म"

मघोनः 6·44·12 'धनवन्तः' सा० । "यद्वा वचनव्यत्ययः । मघवानं धनवन्तं त्वामिति संबन्धः ।"

"मघवन्", पु०, इन्द्र, प्र० वि०, ए० व०, ।

§1§ "मघवन्" पु० का द्वि० वि, ब० व० का रूप मघोनः निष्पन्न होता है, किन्तु यहाँ पर विभक्ति व्यत्यय होकर प्र० वि० के लिए प्रयोग है ।

§2§ वचन व्यत्यय होकर द्वि० वि०, ए० व० के स्थान पर द्वि०वि०, ब० व०, का प्रयोग है ।

मघमिति धननामधेयम्, §निरु०।·3§

मघवन् 6·44·17, 18 8·45·6 "धनवन्", सा०, वेङ्कट,

§1§ मघ + मतुप् §वत्§

§2§ मघ + वनिप्§वन्§

सम्बो०, प्र०, ए० व० ; दाता, उदार, धनयुक्त, विशेष, पु० ।

मघत्तये 8·45·15 –'धनदानाय', सा०,

"मघवन्", पु०, च० वि०, ए० व०, वैदिक रूप ; दान देने के लिए ।

मघोनी 2·15·10 मघवन् + ई = मघोनी, स्त्री०,

प्र० वि, ए० व०, धनयुक्त, दक्षिणा, धन, दान, इत्यादि ।

मज्मना 1·84·6 "बलनामैतत्", सा०,

√मज् + मन्, तृ० वि०, ए० व० ; बल से ।

सुमती: 10·47·7 – "अनुकूला बुद्धी:", सा०,

सु – मति, शोभना मति: इति सुमति:,

समा०, द्वि० वि०, उ० व०, सद्बुद्धि।

मति: 10·47·6 – म-ति, प्र० वि०, ए० व०,

स्तो०, प्रार्थना, भक्ति, पूजा, मन्त्र, बुद्धि, विचार।

मतीनाम् 6·44·2 "स्तोतृणाम्", "मेधाविनाम्", स्कन्द०।

"मति", ष० वि०, ब० व०।

मदच्युतम् 8·96·5 – "शत्रूणां मदस्य च्यावयितारम्" । सा०, मद + च्युत्, द्वि० वि०,

हर्षयुक्त, हर्षजनक, हर्षधारक, ए० व०, विशे०।

√मदि हर्षे, खुश होना, मस्त हो जाना ।

मदन्ति 1·84·10– "हृष्टा भवन्ति", सा० ", श्यनि प्राप्ते व्यत्ययेन शप् ।"

√मदि, लट्, परस्मै०, प्र० पु०, ब० व० ।

मदन्तः 6·44·20 "हृष्यन्तो मत्ता सन्त:", सा०,

√मद् + शतृ, प्र० वि०, ब० व० ; प्रसन्न होते हुए ।

मादयिष्णवः 8·82·2 – "मादनशीला मादनकारिणो वेमे", सा०,

√मद् + णिच् + इष्णुच्, प्र० वि०, ब० व० आनन्ददायक।

मदः 6·44·1, 8·12·9 – "मदोऽनुपसर्गे इति मदे: कर्मण्यप् ।" सा०

{मदकर:} √मद् + अप्, प्र० वि०, ए० व० ; आनन्ददायक ।

मदम् 1·84·4 ↗ 8·45·22 "मदकरम्", सा०, द्वि० वि०, ए० व०,

प्रहर्ष, प्रसन्नतादायक ।

मदाय 6·44·19,8·82·5 - "मदार्थम्", सा०,

√मद्, च० वि०,ए० व०, आनन्द हेतु ; पु०, विशे०, ।

मदानाम् 8·38·3। -√मद्,ष० वि०, ब० व०,पु०, विशे०,प्रहर्षों के,

"हर्षो संजाते सति",सा०,

मदे 2·15·1 -√मद्, स० वि०, ए० व०,पु०,विशे०,आनन्दित होने पर,

आनन्द में।

मदिरम् 2·14·9, 8·38·3-"मदिरम्", सा० ,

√मद् + इर "मदिर", द्वि० वि०, ए० व० ; आनन्ददायक को ।

मधु 8·38·3 - नपु०,प्र० वि०,ए० व०,मधुर, मीठा ।

नपु०,पु०,द्वि०, ए० व० ।

मध्वः 8·82·1 - "मदकरान् सोमान्", सा०,मध्व इति"वा छन्दसि" । इति

पूर्वसवर्णदीर्घाभावः ।

"मधु",नपु०,मधुर,रुचिर, ष० वि०, ए० व० ।

मधुपेयः 6·44·21- "मधुवत् पातव्य", सा० ,

मधु√पा + य = मधुपेयः,प्र० वि०, ए० व०,पु०, विशे०,

मधुरपेय, स्वादिष्टपेय ।

मधुमत् 10·24·6- मधु + मत्,प्र० वि०, ए० व०, विशे०, मधुरगुणयुक्त ।

मधुमन्तम् 6·44·14 - "माधुर्यवन्तम्", सा०,मधुरतायुक्त, मीठायुक्त ,

मधु + मतुप्, द्वि० वि०, ए० व०, विशे० ।

मन्ये 8·96·4 – "जानामि", सा०,

√मन्, लट्, उ० पु०, ए० व०।

मन्यसे 8·93·5 –"बुध्यसे", सा०, "मृङ्प्राणत्यागे" लेट्यडागमः ।
"वैतोऽन्यत्र" इत्यैकारः ।

√मन्, लेट्, आत्मने० म० पु०, ए० व०।

मनस्यसि 8·45·31 – "पूजयसि", सा०,

√मन् लृट्, आत्मने० प्र० पु०, ए० व० ।

मन्सते 1·84·18– "मन ज्ञाने", लेटि अडागमः । "सिब्बहुलं लेटि" इति । सिप्।"

√मन्, लेट्, प्र० पु०, ए० व० ।

मन्यवे 8·82·3 – "क्रोधाय", सा०,

√मन् – यु, च० वि०, ए० व०, क्रोध के लिए, पु०, विशे०।

मन्युना 1·101·2 – "क्रोधेन", सा०, क्रोध से, जोश से, आवेश से,

√मन् + यु = मन्यु, तृ० वि०, ए० व० ।

मन्युमीः 1·100·6 – "मन्युं मिनातीति मन्युमीः" । "मीञ् हिंसायाम्"
क्विप् इति सायणः । मन्योः कोपस्य निर्माता ।

मन्यु + मीञ् + क्विप्, विशे० प्र० वि०, ए० व० ।

मनोवृधः 8·98·6 – "मनुष्यस्य यागादिकं कुर्वतः वर्धकस्यासि ।"

√मन्, ष० वि०, ए० व०, मनोः, मनोवृधः,- प्र० वि०, ए० व०,

√वृध + अ = प्र० वि०, ए०व० विशे०, मनुष्यों के प्रेरक ।

मनः 1·84·3,8·45·32 – मनस्,नपु0,प्र0 वि0, ए0 व0, सं0।

मनांसि 6·44·8 – "मनस्", नपु0, द्वि0वि0 ब0 व0,सं0।

मनसा 10·47·7 – "मनस्",नपु0,तृ0 वि0,ए0 व0,सं0, अन्तःकरण से।

√मन्द,प्रसन्न होना, बाग-बाग हो जाना, मस्त होना, भ्वादि,उभयपदी।

मन्दसे 8·12·16 / 8·93·19 "माद्यसि",सा0,

√मन्द,लट्, म0 पु0, ए0 व0,आत्मने0।

मन्दन्तु 8·45·24 – "मादयन्तु", सा0,

√मन्द,लोट्,प्र0 पु0,ब0 व0, आत्मने0।

मन्दस्व 8·82·3, 5·40·4, 6·44·16 – "मोदस्व, हृष्टो भव।" सा0,

√मन्द,लोट्, उ0 पु0, द्वि0 व0,आत्मने0।

अमन्दीत् 8·80·10 – "तर्पयति", सा0,√मन्द,लङ्,प्र0 पु0,ए0 व0।,

मन्दानः 6·44·17, 8·45·31– "मोदमानः", सा0प्रसन्न होकर।

√मन्द + क्वनिप्,प्र0 वि0, ए0 व0,पु0।

मन्दसानः 6·44·15, 8·93·31/1·100·14– सोमेन मोदमानः", सा0,वि0 पु0,

√मन्द + सानच्, प्र0 वि0,ए0 व0,उत्साहित होता हुआ।

"मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु" ऋञ्जिवृधिमन्दिसहिभ्यः कित्"

(उ0 सू0 2·244) इति असानच् प्रत्ययः। सा0।

मन्दिने 7·101·1 – "स्तुतिमते स्तोतव्यायेन्द्राय"। "मन्दी मन्दतेः स्तुतिकर्मणः"

(निरु0 4·24) : सा0,

√मन्द + इनि प्रत्यय,च0 वि0, ए0 व0।

सुम्नम् 8·98·11 – "सुखम्", सा०,

सु +√मन्, √म्ना + अ, नपु०, द्वि० वि०, ए० व०, सुख, क्षेम,

कुशल, कल्याण, अनुग्रह, कृपा ।

मरुतः 8·93·34 – मरुत्– उत्,पु०,तूफान देव,

मर् – उ, पु०,रेगिस्तान,

पु० वि०, ए० व० ।

मरुत्वान् 1·100·1;15 – "मरुद्भिर्युक्तः" । "छन्दयः इति मतुपो वत्वम् ।"

मरुत् + मतुप् > वत्,पु० वि०, ए० व० ; मरुतयुक्त ।

विशे० , पु० ।

मरुत्सु 8·12·16 – "सोमपानायागतेऽवन्यदीये यज्ञे", सा०,

मरुत्, स० वि० ब० व०, स०, सोमपान हेतु आये हुए यज्ञ में ।

महत् 6·44·8 – √मह् पूजायां क्विप् ।

मह: – महत्, द्वि० वि०, ए० व० नपु०, विशे०, छान्दस,

"महदात्मीयं", सा०, "महत् प्रभूतं", स्कन्द० ।

महानि 2·15·1 "महान्ति", सा० ,

√मह्, नपु०,प्र० वि०,ब० व० ।

महे 6·44·13– "महते अस्मै", सा० ,"महत" स्कन्द०,"महते" वेङ्कट ।

√मह् + क्विप्,च० वि०,ए० व० ।

महः 1·100·1 – "महतः "मह् पूजायां क्विप्" यद्वा महच्छब्दे अच्छब्दलोपः

सार्वकाच, इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । सा० ; ष० वि० ए० व० ।

महत: 2•15•1 – 'बलवन्त:', सा0,

"बलवन्त "महत्", षा0 वि0, ए0 व0।

महो 2•15•5 – महीम् "महतीम्", सा0, वि0, स्त्री0, द्वि0वि0, ए0 व0।

मही: 8•12•3 –"महती:", सा0,

मह् + ई = मही, महान्, द्वि0 वि0, ब0 व0, स्त्री0, वि0।

महि 6•44•18 –√मह् + इ "महत्" प्र0 वि0, वैदिक ।

नपु0, महान्, प्रभूत ।

महिनान् 8•12•8 – "महन्नामैतद् । महतोऽसुरान् वृत्रादीन्", सा0,

द्वि0 वि0, ब0 व0, बहुत से असुरों को ।

महिष्ठम् 6•44•4 – "दातृतमम्", सा0, स्कन्द0,

√मह् + इष्ठन्, द्वि0 वि0, ए0 व0, श्रेष्ठतम्, महान्तम् ।

महित्वा 2•15•6 – "स्वकीयेन महिम्ना", सा0,

स्त्री, वि0, तृ0 वि0, ए0 व0, अपनी महिमा से ।

महिना – "महिम्ना", सा0,

महिमन्, तृ0 वि0, ए0 व0, महिमा से, पु0, वि0।

महान्तम् 8•12•23 – "सर्वेभ्योऽधिकम्", सा0,

√मह्- अन् + तमप्, द्वि0 वि0, ए0 व0 ।

महामह: 10•119•12 – "महतामपि महानस्मि । यद्वा महद् प्रभूतं महस्तेजो यस्य । प्रभूततेजस्कोऽस्मि । "आन्महत:" (पा0 सू0 6•3•46) इत्यात्त्वम् । वि0, प्र0 वि0, ए0 व0, अतिबली, अतिशयेन पूज्यनीय ।

मामहे 8·12·6 – "ममहे" मंहतेर्दानकर्मण एतद्रूपम् । यद्वा "मह् पूजायाम्" ।
अस्माच्छान्दस: कर्मणि लिट् ।

√मह्, लिट्, प्र० पु०, ब० व० ।

माकीम् 8·45·25 – "नहीं", अव्यय, निपात ।

मात् 7·55·5 – माता "त्वदीया जननी", सा०,
"मातृ", प्र० वि०,ए० व०, स्त्री, सं०।

मातर: 8·96·1– "जगता निर्मात्र्य:", सा०,
"मातृ", प्र वि०, ब० व०, स्त्री०, जगत निर्मात्री माता ।

मातरम् 8·45·4 – "मातृ", द्वि० वि०, ए० व० , स्त्री०।

मानुष: 8·45·42 – मनुष् + अण्, मानुष 7 मानुष: , पु०,मनुष्य, संज्ञा,
प्र० वि० , ए० व०, सं०।

मानुषाणाम् 1·84·2 – "अन्येषां मनुष्याणाम्" "मनोर्जातौ०" इति मनुशब्दात्
अञ् पुगागमश्च । सा०,
ष० वि०,ब० व०, मनुष्यों के ।

मानै: 2·15·3 – "यदिन्द्रस्त्वद्मप्राचो त्येवरूपै: परिमाणै: प्राक्प्रवणान् कुर्वन्ति
तद्वत् सिन्धून् लोकान्वानृवृन्वा मानै: परिमाणै: ।"

√मा + न, तृ० वि०, ब० व० ।

माया: 6·4·22·– मा–या, दैवी शक्ति, ज्ञान,चाल,योजना ,
√मा,प्र० वि०, ए० व० , कुटिल योजनाएं ।

मायाविना 10·24·4– "मायाविनौ प्रज्ञावन्तौ शत्रुवञ्चनकुशलौ वा"सा०
√मा–या ,स्त्री०,दैवी शक्ति, योग्यता,ज्ञान, जादू,चाल ,
माया–विन्–आ = सम्बो०,द्वि० व०, विशे० ।

√माङ्॰ 8·12·10 मिमीते –√माङ्0, मापना तथा शब्द करना ।

लट्, प्र0 पु0, ए0 व0 ।

√मीञ् हिंसायाम्

मिनन्ति 8·93·11–मिनन्ति –√मीञ्, लट्, प्र0 पु0, अ0 व0 ।

√मीञ् 2·15·3 – मिमाय "इन्द्रो विशेषेण निर्मितवान्", सा0,

√मीञ्, लिट्, प्र0 पु0, ए0 व0 ।

मिनन् 2·13·3 – "हिंसन्", सा0, √मी + शतृ, प्र0 वि0, ए0 व0 ।

मीळ्हे 1·100·1–संग्रामे । मीळ्हम् इति धननाम । तद्धेतुत्वात्

संग्रामेऽपि मीळ्हशब्देनोच्यते । सा0,

√मिह्, नपु0, स0 वि0, ए0 व0, युद्ध में ।

मृगस्य 8·93·14– {मृग्यति मृग्यते} खोजा करना, शिकार करना,

मृग्–अ, पु0, पशु, हिरण, ष0 वि0, ए0 व0, सं0 ।

√मृङ्॰ प्राणत्यागे

मरे 8·93·5 – "लेट्यडागमः" । वैतोऽन्यत्र इत्यैकारः ।

√मृङ् आत्मने॰, लट्, उ0 पु0, ए0 व0 ।

मर्ताः 1·100·15–मनुष्याः, "मृङ् प्राणत्यागे।" असिहसि॰" इत्यादिना

तन्प्रत्ययः । नित्वादाद्युदात्तत्वम् । सा0,

√मृङ् + तन्, प्र0 वि0, अ0 व0, सं0 ।

मर्याः 8·45·37– "मनुष्याः", सा0,

√मृङ्॰>मर् + य = मर्य > मर्याः, सम्बो0, अ0 व0 ।

मृधः 8·45·4· – "संग्रामान्", "स्पृधः मृधः" इति संग्रामनामसु -पाठात्।सा0,

✓मृड्·, लोट्, म0 पु0, ए0 व0 ।

✓मृड्सुखने 8·45·33– मृळयासि "सुखयसि", सा0,

✓मृड्, लट्, म0 पु0, ए0 व, ।

✓मृ-व्रूटना।

मृण 6·44·17–✓मृ, लोट्, म0 पु0, ए0 व0, ।

मृळय 8·80·12 – "सुखय", सा0,

✓मृड् + णिच्, लोट्, म0 पु0, ए0 व0 ।

मर्डिता 1·84·19 – "सुखयिता", सा0,

✓मृड् सुखने, तृच्- + इडागमः,

लुट्, प्र0 पु0, ए0 व0 ।

मर्डितारम् 8·80·1 –"सुखयितारम्", सा0,

मृड् + तृच् + इट् + द्वि0 वि0, ए0 व0 ।

मृधः 8·45·4 –✓मृध् भूलना, उपेक्षा करना।

प्रममर्श 8·45·15 – "अभ्यसूयति", सा0,

✓मृश्, लिट्, प्र0 पु0, ए0 व0 ।

✓मुष् चुराना ।

अमुष्णात् 6·44·23 – "अपाहरत्", सा०,

✓मुष्, लङ्·, प्र0 पु0, ए0 व0 ।

मूराः 8·45·22 "मूरकाः मूढा मनुष्याः", सा0,

"मूर", प्र0 वि0, ब0 व0, सा0।

सुमेधाम् 10·47·6 – "शोभनप्रज्ञः", सा०,

सु + मेध + अ = सुपोषक, विशे०,

सु + मेधस – विशे०, मेधावी, तीव्र मेधायुक्त, प्रखर बुद्धि वाला,

द्वि० वि०, ए० व०।

मेधिराः 8·30·9– "प्राज्ञाः", सा०,

प्र० वि०, ब०, व०, विद्वान्, बुद्धिमान्।

मोहयित्वा 10·162·6 – "मूढतां प्राप्य्य", सा०,

√मोह्– अ= पु०, मोह, मोहन, मुग्ध करना, विशे०,

√मुह् + णिच् + क्त्वा = गुण > एकार + अय् आदेश,

मुग्ध करके, मोहित करके, विशे०।

मत्सद् 5·40·4 – "माद्यतु", सा०,

6·44·16 √मद्, लेट्, प्र० पु०, ए० व०।

मादयासे 1·101·8 – "मदतृप्तौ वर्तसे"। मद तृप्तियोगे"। चुरादिरात्मनेपदी।

लेटि आडागमः। सा०,

√मद्, लेट्, आत्मने० म० पु०, ए० व०।

"य"

यजमानस्य 8·12·18–√यज् + मान, ष० वि०, ए० व०, सं०, पु०,

यजमानों का।

√यज्

यजाते 1·84·18 – "यजतेर्लेटि आडागमः । वैतोऽन्यत्र इति ऐकारः सा०

"यजेत्" सा०,

√यज्, लेट्, {आडागम} प्र० पु०, ए० व० ।

यज्ञम् 6·44·15 ~√यज् + न् = यज्ञ, पूजन, प्रार्थना, होम, हविष्,

पु०, सु०, द्वि० वि०, ए० व० ।

यज्ञैभिः 8·12·20 – यज्ञैर्यजनसाधनैर्हविर्भिः" सा०,

√यज् + न "यज्ञ" तृ० वि०, ब० व०, यज्ञों द्वारा, हवियों द्वारा।

यज्ञाय 8·10·19 – "यागार्थम्" यद्वा क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः

संप्रदानत्वाच्चतुर्थी" सा०,

√यज् + न = यज्ञ, च० वि०, ए० व०, यज्ञ हेतु, याग हेतु ।

यज्ञस्य 8·12·11– "षष्ठ्यर्थस्येन्द्रस्य", सा०,
8·38·1
√यज् + न = यज्ञ, ष० वि०, ए० व०, सं०, पु० ।

यज्ञवाहसम् 8·12·20 – "यज्ञे वोढव्यं प्रापणीयं यज्ञैर्यागैर्यज्ञानां यजमानानां

फलस्य प्रापयितारं वा । अथवा यज्ञवाहसं यज्ञेन प्राप्यम् ।" सा०,

यज्ञ + वाह् – अस्, पु०, विशे०, द्वि० वि०, ए० व० ;

यज्ञवेत्ता, यज्ञ से प्राप्त फल को प्राप्त कराने वाला ।

यज्यवः 2·14·8 – "यागं कुर्वाणा हे अध्वर्यवः । ", सा०,

√यज् – पु०, प्र० वि०, ए० व० ।

यज्ञियम् 8·96·4 – "पुरस्ताद यज्ञार्हमिति" सा०,

यज्ञ + इय = यज्ञिय, विशे०, यज्ञ के योग्य, यज्ञार्ह,

पवित्र, पूज्य, द्वि० वि०, ए० व० ।

यज्ञियानाम् 8·96·4-"यज्ञार्हाणां देवानामपि", सा०,

√यज्-भ+इय = यज्ञिय, ष० वि०, ब० व०, यजनीयों का ।

यवमत् 8·93·3· - "अयवादिभ्यः" {पा०सू० 8·2·9} इति

प्रतिषेधान्मतुपो वत्वाभावः । यव इति धान्यविशेषः ।

धान्ययुक्तं धन ।" सा० ,

यव- अ, यव + मत्, विशे०, प्र० वि०, ए० व० ; धान्ययुक्त ।

यत् {जो} सर्वनाम, पु० ।

यः 6·44·13, 8·12·1, 7·55·6, 7 प्र० वि०, ए० व०, पु०, सर्व० ।

यम् 6·44·5 - द्वि० वि०, ए० व०, पु०, सर्व० ।

येन 8·12·1 - तृ० वि०, ए० व०, छान्दस दीर्घ होकर येना ।

यैभिः 8·38·5 -"यैः सवनैः", सा०, च० वि०, ब० व० ।

याभ्याम् 8·38·10 - च० वि०, द्वि० व० सर्व०, पु० ।

यस्य 1·100·2, 8·12·18, 6·44·6 - ष० वि०, ए० व०, पु०, सर्व० ।

येषाम् 8·45·1 - ष० वि०, ब० व०, पु०, सर्व० ।

यत् 6·44·6 - स० वि०, ए० व०, सुप् का लोप, पु०, सर्व० ।

याः 7·55·8 - "यत्", स्त्री०, स्त्री, सर्व०, प्र० वि०, ब० व० जो ।

यव्याभिः 8·98·8 - "नदीभिः" । "अवनयो यव्याः इति नदीनामसुपाठात्" ।

यव् -य "यव्य", तृ० वि०, ब० व० ; नदियों से ।

यदा 8·12·30 - "जब"

यत् + दा = यदा ।

यमति 1·100·9 – "यम उपरमे" । णिचि अमन्तत्वात् मित्वे "मितां ह्रस्वः "इति ह्रस्वत्वम् । "छन्दस्युभयथा"इति शप आर्धधातुकत्वात् "णेरनिटि" इति णिलोपः।

√यम्,लट्,परस्मै०,प्र० पु०,ए० व० ।

यच्छसे 7·55·2, 1·84·6 – "वितृणोषि", सा०,

√यम्,लट्,म० पु०, ए० व०, आत्मने प० ।

येमिरे 8·12·28, 29·30 –"नियम्यन्ते स्म", सा०,

√यम् आत्म० प०, लिट्, प्र० पु०,ब० व० ।

धातुपाठ में "यम्" धातु का परिवेषण, अपरिवेषण तथा उपरम कुल तीन अर्थों में परिगणन है । सायण-हविष्य प्रदान करते हैं । पीटर्सन- जाते हैं । मैक्डोनल-आत्म समर्पण करते हैं । तीन प्रकार का अर्थ वैभिन्य है ।

यवेन 2·14·11 – यव् + अ, पु०,तृ० वि०, ए० व०, जौआदि अन्न से ।

√या प्रापणे जाना ।

याति 8·45·7 –

√या,परस्मै०,लट्,प्र० पु०,ए० व० ।

आयाहि 5·40·1 – आ +√या, लोट्, म० पु०, ए० व०, {आओ} ।

यासत् 5·40·7 – "उपगच्छतु", सा०,लोट् के अर्थ में लेट् का प्रयोग, प्र० पु०, ए० व० ।

यामः 1·100·2 – गति " या प्रापणे" अर्तिस्तुसु " इत्यादिना भावे मन्प्रत्ययः। नित्वादाद्युदात्तत्वम् । सा०,

√या + मन् = यामन्,प्र० वि०,ए० व०, स०, गमन् ।

यातवे 8·12·3 - "यातुं प्राप्तुं", सा०,

√या + तवे, तुमनर्थ वैदिक प्रत्यय, च० वि०, ए० व०, जाने हेतु ।

यावभिः 8·38·7 - √या + वनिप् = यावन्, तृ० वि०, ब० व० ।

√युज्, रूधादि०, जोड़ना ।

√युज् - जोड़ना ।

अयुनक् 6·44·24 - "अयोजयत्", सा०,

युज्, लङ्, प्र० पु०, ए० व० ।

युञ्जन्ति 8·98·9 - "योजयन्ति", सा० ।

√युज्, परस्मै०, लट्, प्र० पु०, ब० व० ।

युञ्जे 1·28·5 - "अदुपदेशात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे →

√युज् युजिर योगे" धातुस्वरः शिष्यते । न च तिङ्ङतिङः इति निघातः निपातैर्यद्यदिहन्तं इति प्रतिषेधात् ।

√युज्, आत्मने०, लट्, म० पु०, ए० व० ।

युक्ता 1·84·3 - "सुपां सुलुक्°" इति आकारः । युक्तौ का युक्ता,

√युज् + त = युक्त, प्र० वि०, द्वि० व० ।

युक्त्वा 5·40·4 - √युज् + क्त्वा = युक्त्वा, जोड़कर, युक्त करके ।

सुयुजः 6·44·19 - शोभना योजनाः" । सा०, सु + युज् + क्विप्, सुष्ठु युजः इति सुयुजः, प्र० वि०, ब० व० ।

युजा 6·44·29 - "सख्या सह", सा०,

युज् + क्विप् + आ, तृ० वि०, ए० व०, वि०।

अभियुजः 8•45•8 – अभि +√युज + क्विप्, क्रि0, द्वि0 वि0, ब0 व0 ।

युजानाः 6•44•19 – "युज्यमानाः", सा0,

√युज योजने + शानच्, प्र0 वि0, ब0 व0 ।

युयुजानः 5•40•8–"युञ्जन्", सा0,

√युज + कानच्, प्र0 वि0 ए0 व0 ।

अयुद्धः 8•45•3 – न युद्धः इति, नञ् समास, प्र0 वि0, ए0 व0 ।

युधायुक्तम् 8•45•3 – "योद्धाभिर्भटैरावृत", सा0,

युधा +√वृ + क्त =युध्वावृत, द्वि0 वि0, ए0 व0, समास पद ।

युवा 8•45•1,3 – "तरुण", "युवन्", प्र0 वि0, ए0 व0, पु0, सं0 ।

√युध- युद्ध करना, दिवादि 0।

योधिषत् 8•45•5 –√युध्, लेट, प्र0 पु0, ए0 व0 ।

"योधयति", सा0 ।

योनिम् 10•162•1 –"एतस आधानं "गर्भस्थानम्", सा0,

द्वि0 वि0, ए0 व0, पु0, स्त्री0, सं0,

यो- नि {√यु} सप्तमी, ए0 व0, के लिए प्रयुक्त है ।

"र"

रक्षोहा 10·162·1 – रक्षो +√हन् + क्विप्,

प्र० वि०,ए० व० ; "रक्षसां हन्ता", सा०,

राक्षसों का संहार करने वाला ।

रजः 1·84·1 – "अन्तरिक्षम्",सा० ,

"रजस्",नपु०, सं०, द्वि० वि०, ए० व०।

रजांसि 8·82·9– "अन्तरिक्षादिलोकस्थितान् सोमपालान् गन्धर्वान्", सा०

"रजस्"द्वि० वि०,ब० व०, अन्तरिक्ष आदि लोक में स्थित गन्धर्वों को,

नपु०,सं०।

रत्ना 8·93·27 – "रत्नानि",सा०,

√रम् रत्न, नपु०,धन, द्वि० वि०, ब० व०, जस् का लोप ।

रथम् 6·44·24,8·80·4 – "रथ",द्वि० वि०,ए० व०, नपु०, सं०, रथ को ।

√ऋ गतौ + थ ।

रथान् इव रथ" 8·12·3 – द्वि० वि०, ब० व०,नपु०, सं०,रथों के समान ।

रथितमः 8·45·7 – "अतिशयेन रथी भवति",सा० ,

रथ+इन् = रथिन्,विशे०, अश्वरथ सम्बंधी सारथि ;

रथिन् + तमप् = रथितमः, प्र० वि०,ए० व०, सर्वश्रेष्ठ रथी ।

रथितरः 1·84·6–अतिशयेन रथी । तरपि ईद्रथिनः पा०सू० 8·2·17·1॥
इति ईकारान्तादेशः, अवग्रहसमये छान्दस ह्रस्वत्वम् । सा० ,
अच्छा बलवान ।
"सर्वान् रथिनः" सा० रथिन् + तर, वि०, प्र० वि०,ए० व० ।

रथिनाम् 8·45·7 √रथ + ई = रथी,ष० वि०,ब० व०, वि०,रथियों में ।

रध्रचोदनः 8·80·3 – रध्रं राधकं चोदयतीति रध्रचोदनः ,
√ रध् = र > रध्र – वि०, अधीन, अल,
रध्र + चोद + अन् = वि०,अबल के हाथ देने वाला
प्र० वि०, ए० व०, पु०,वि० ।

रध्रस्यचोदिता 10·24·3 – "राधकस्य स्तोतुश्च धनदानेन कर्मसु नियोक्ता च
भवसि ।" सा० ,
रध – र = रध्र,√चुद + तृच, चोदितृ, प्र० वि०, ए० व०,
रध्रस्य,ष० वि०,ए० व० , आराधक को साधना कार्य में प्रोत्साहित
करने वाला , वि०, समासपद ।
√रा दाने

ररीथा 6·44·11 – "मा दाः", सा० ,
√रन् √रा,विधि लि० म० पु०, ए० व० ।

रणयन् 1·100·7 – रमतेर्वैतुमण्णिजन्तात् वर्तमाने छान्दसो लङ् । अन्त्यविकार–
श्छान्दसः । यद्वा " रण शब्दार्थः । अस्मात् णिजन्तात् पूर्ववत् लङ् ।
√रण या√रम् प्रसन्न होना, रमना, लङ्,णिच्, अट् का लोप, अरणयन्,
प्र० पु०, ब० व० ।

√रन् - आनन्द मनाना, प्रसन्न होना, भ्वादि० ।

रणन् 8·93·20 - रणन् "रमते", सा०,

√रण>√रन् रमना, प्रसन्न होना, लुङ्, प्र० पु०,ए० व० ।

ररम्भ 8·45·20 - रभामहे तथा च यास्क " आरभामहे त्वा जीर्णा

इव दण्डम् §निरु० 3·27 § इति । √रभ्,लिट्, म० पु०,ए० व० ।

√रम् रण्यसि 8·12·18- "रमसे",सा०,

√रम् > रण् > रण्यसि, लट्, म० पु०,ए० व० ।

रणा 8·12·17 "रमस्व", सा०,

√रम्, लोट्, म० पु०,ए० व०, छान्दस दीर्घ, रण> रणा ।

रम्भं न 8·45·20 - "दण्डमिव", सा०,रभ् + अ, द्वि० वि०,ए० व०,

दण्ड डंडे की भाँति ।

रवथः 1·100·13 - "शब्दस्य गर्जनलक्षणस्य कर्ता" " "रु शब्दे" शीङ्·

शापिरुगमिवञ्चिजीविप्राणिभ्योऽथः §उ० सू० 3·393§

इति अथ प्रत्ययः । गुणवादेशौ । सा०,

रव् - अ §√रु§ पु०,शोर,गर्जन, रौंभ ।

रव् + अथव् = रवथः,विशे०,पु० वि०, एक० ।

"रयि"

रयिम् 2·13·4 -"धनम्", सा०,
8·93·21 रय् + इ, रयि, धन, द्वि० वि०, ए० व० ।

रयीणाम् 10·47·2 – "रयि", ष0 वि0, ब0 व0 ।

रयितम: 6·44·1 – "अतिशयेन, रयिमान् धनवान्", सा0,

"धनवत्तः", वेङ्कट, स्कन्द0 ।

रयि + तमप् = पु0 वि0, ए0 व0, वि0, अतिशय धनवान् ।

रश्मीन् 1·28·2 – "अवबन्धनार्थान् प्रग्रहान्", सा0,

"रश्मि", द्वि0 वि0, बव0, स0।

रश्मिभि: 1·84·1, 8·12·9 " किरणैः", सा0, किरणों से ।

"अश् व्याप्तौ" +√मि: > रश्म् (उणा 4/46) तृ0 वि0, ब0 व0 ।

रयिव: 6·44·1 – "धनवन्", सा0,

रयि + व =

√रा दाने, जुहोत्यादि0, सम्बो0, ए0 व0 ।

रास्व 8·98·12 "देहि" सा0, √रा दाने, लोट, म0 पु0, ए0 व0 ।

√रा- भौंकना, दिवादि0, परस्मै0 ।

रायसि 7·55·3 – "गच्छसि", सा0,

√रा, लट्, म0 पु0, ए0 व0 ।

राय 7·55·3 – "गच्छ", सा0,

√रा, लोट, म0 पु0, ए0 व0 ।

√राज् दीप्तौ, चमकना ।

राजा 6·44·13 – "स्वामी भवति", सा0, "ईश्वर", स्कन्द0,

√राज् + कनिन् = राजन् ।

√रञ्ज् + कनिन् = राजन् ।

√राज राजमान: पु0 "राजन्", प्र0 वि0, ए0 व0 ।

√राध

राधसः 6·44·5- "धनस्य", सा०,

राध-असु=राधस्, नपु०, दान, ष० वि०, ए० व० ।

राधांसि 1·84·20,6·44·12- "भूतानि", "धनानि" । सा०,

प्र० वि०, ब० व०, नपु०, दानों को, देयों को, उपहारों को, धनों को ।

राधसे 8·93·16 - "धनाय", सा०,

√राध् तु०√ध्य औ√राध लक्ष्य पर पहुँचना ।

राध- अ - पु०, न०, पुरस्कार, देय, उपहार,

राध-अस, - दान, च० वि०, ए० व०, दान देने के लिए ।

राशयः 8·96·8 - "राश + इ = राशि, प्र० वि०, ब० व० ।

√रिष्-हानि उठाना ।

√राश् तु०√रशना ।

"गाव इव संधीभूतास्ते त्वा" सा०, रास, ढेर, समूह, वर्ग ।

रिषाम: 6·44·11- "हिंस्येमहि केनचित्", स्कन्द०, हिंसिता माभूम", सा०,

√रिष्, लट्, उ० पु०, ब० व०, लुङ् के अर्थ में ।

√रुद् रोना, अदादि०, परस्मै० ।

रूवण्यः 8·96·12 - धनाभावात् मा०वनयः । मा रोदीरित्यर्थः ।

√रू, ध्वनि करना, लुङ्०, म० पु०, ए० व०, वैदिक रूप ।

रूपाणि 7·55·1 - "यद्रूपं कामयते तत्तद्देवता भवति" {निरू० 10·17 }

इति यास्कः ।

"रूप", नपु०, प्र० वि०, ब० व०, आकार-प्रकार, रूप ।

√रुच् चमकना, भ्वादि० ।

अरोचयः 8·98·2 – तेजोभिरदीपयः" सा०,√रुच्,लङ्., म० पु०, ए० व० ।

√रुच्-प्रकाशित करना ।

रुशत् 8·93·13 – "रोचतेर्दीप्तिकमर्णः । दीप्यमानं श्वेतम् ।" सा०,

√रुच्, रुश + अत् {शतृ} प्र० वि०, ए० व० , दीप्यमान,तेजस्वी, विशे०,

रेतसः 1·100·3 – रेत इति उदक नाम । रीयते गच्छतीति रेतः । री गति-

रेषणयोः "रीभ्यां तुट् च" {उ०सू० 4·641}

इति असुन् तुडागमश्च । शसो व्यत्ययेन ङन्सादेशः ।" सा० ,

रेत् + अस्,रेतस्,प्र० वि०, ब० व०, नपु०,प्रवाह, वीर्य, स्रोत ।

√रित् = स्रुत् > स्रोतस् ।

रेभान् 8·45·15 – "धनवान् सन्", सा० ,

प्र वि०, ब० व०, विशे०, पु० ।

√रा दाने > रे- वत्,

रेवतः "धनवतः", सा० ,

√रा दाने > रे-वत् = ष० वि०, ए० व०,धनयुक्त,धनवान् का ।

{"रे"शब्द धनसूचक प्राप्त होता है वेद में।इसी से रयि}

रोचना 8·93·26 – "रोचनं दीप्यमानं । यद्वा रोचनमिति स्वर्गः । देवतेजसा

दीप्तं रोचननामकं लोकं । सा० ,

√रुच् + ल्युट् +अन् + टाप्,रोचन, विशे०, तेज, बल, प्रकाश, स्वर्गलोक,

रुच् > रोच् ,नपु०,प्र० वि०, ए० व० ।

रोचने 8•82•4 –"अग्निभिर्दीप्यमाने लोके च", सा0,

√रुच् > रोच् – अन् = रोचन, नपु0, प्रकाश, अग्नि से प्रकाशित लोक, स0 वि0, ए0 व0 ; यज्ञों में.।

रोदसी 6•44•5 – "द्यावापृथिव्यौ", सा0, स्कन्द, वेङ्कट ।

§√रुद्§ स्त्री0, धरती और आकाश, देवता द्वन्द्व समास, द्यावाश्च पृथिवीश्च इति द्यावापृथिव्यौ ।

√रुद्-अदना, भ्वादि0 ।

रोहन्ति 6•44•6 – "प्रादुर्भवन्ति", सा0,

√रुह्, लट्, प्र० पु0, ब0 व0, परस्मै0 ।

रोहिणीषु 8•93•13 – "वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः" पा0 सू0 4•1•39§ इति ङीप् ।

√रुह्√रोह् -इणी, विशे0, स0 वि0, ब0 व0, लाल वर्ण वाली गायों में ।

प्ररिक्वा 1•100•15 – "प्रकर्षेण रेचको भवति । लोकद्वयादप्यस्य बलमतिरिच्यते इत्यर्थः ।" सा0 "रिचिर् विरेचने" । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते" इति क्वनिप्। अन्त्यविकारश्छान्दसः । सा0,

प्र√रिचिर् + क्वनिप् §छान्दस दीर्घ§ अतिशय बढ़ा हुआ ।

" व "

√वच् परिभाषणे ।

प्रवोचम् 2•15•1 – छन्दसि लुङ् लङ् लिटः इति वर्तमाने लुङि•।" सा0,

प्र+√वच्, लुङ्, उ0 पु0, ए0 व0 ।

वग्नुना 1·8·3 – "वचनीयेनाभिभाषणेन" । "वचेर्गश्च" {उ०सू०3·313} इति नुप्रत्ययो गकारश्चान्तादेशः ।" सा०,
√वच् > वग्-नु, पु०,ध्वनि, तृ० वि०, ए० व०, विशे०, वाणी से, शब्दों से, ध्वनि से ।

वचोभिः 5·44·8 – "स्तुतिभिः", सा०, "गर्जितलक्षणैर्वचनैः", स्कन्द०,
√वच्-बोलना, तृ० वि०, ब० व०, स्तुतियों से।

वचोयुजा 8·98·9 – "वचनमात्रेणैव युज्यमानौ", सा०,
वच् > वचः +√युज् + क्विप्,द्वि० वि०, द्वि० व०,
सुपां सुलुक् से सुप् लोप होकर वचोयुजा वैदिक रूप ।

वच्यमानाः 10·47·7–"उच्यमानाः", सा०,
√वच् + शानच् + स्त्री०,{अन्तःकरण से बोली गई वाणी}

0

वज्रदक्षिणम् 1·101·1– "वज्रयुक्तेन दक्षिणहस्तेनोपेतं तम्", सा०,
वज्र>√उज्,मजबूत होना, वज्-र + दक्षिण,
द्वि०वि०,ए० व०, बहु० ब०,जिसके हाथ में वज्र है ऐसे {इन्द्र} को ।

वज्रभृत् 1·100.12 – "अन्यैर्धर्तुमशक्यस्य वज्रस्य भर्ता", सा०,
वज्र +√भृ – क्विप्,विशे०, बहु०समास०,पु०,वज्रधारण करने वाला ।

वज्रिन् 5·40·3 – "वज्रवन्", सा०,
वज्र + इन्, सम्बो० ए० व०, विशे०, पु०, वज्र को धारण करने वाला ।

वज्रिणम् 8·12·24 – "वज्रवन्तमिन्द्रम्", सा० "वज्रिन्", द्वि० वि०, ए० व०,
पु०, विशे०, वज्रयुक्त इन्द्र को ।

वज्री 5·40·4 – "वज्रवान्", सा०,
वज्र + इनि, पु०, प्र०, वि०, ए० व०, विशे०,वज्र से युक्त।

वज्रेण 6·44·15 - "आयुधेन", सा०,

"वज्र", तृ० वि०, ए० व०, वज्र के द्वारा ।

√वद्-बोलना, भ्वादि०, परस्मै०,

वदति 2·13·3 -√वद्, लट्, प्र० पु०, ए० व०, परस्मै० ।

वदेम 2·13·13 - वदेम√वद्, वि० लि०, उ० पु०, ब० व०, भ्वादि० ।

√वध्-मारना, हिंसा करना,

वधः 1·101·4 - "हन्तारं" "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति बहुलवचनाद् "हनश्च वधः इति कर्तरि अप् वधादेशश्च । स चादन्तः । अतो लोपे उदात्तनिवृत्ति स्वरेण प्रत्ययस्य उदात्तत्वम् ।" सा० ,

"वधेर्वा प्रकृत्यन्तरात् पचाद्यचि रूपम्" इत्यधिकम् ।

√हन्>√वध् +अप् = वधः, प्र० वि०, ए० व० ।

अवधीत् 8·93·2 -√वध्, लुङ्, प्र० पु०, ए० व० ।

√वन्-माँगना "वन् याचने", आत्मने० ।

विवासि 8·96·12 - इन्द्रमाभिमुख्येन परिचर । विवासतिः परिचरणकर्मा । लोटि रूपम् । सा० ,

√वन् + सन् + लोट्, म० पु०, ए० व० ।

वनीवनः 10·47·7 - "वननवन्तः" । वनसेश्छन्दसि क्वनिपौ" इति मत्वर्थीयो वनिप् । सा० ,

√वन् + ई + वनिप् (छान्दस)

वनीवन्, प्र० वि०, ए० व०, प्रेमायुक्त, याचना से परिपूर्ण ।

वना + इव =√वन् + अ, तृ० वि०, ए०व०, नपु० वन की भाँति ।

8·12·9 वना + इव = वनेव ।

वन्धुरम् 10·119·5 - "सारथिनिवासस्थानम् । तद्वान् वोपलक्ष्यते तत्स्थानं रथं वा साधुकरोति तद्वत् । सा०,

वन्धु - उर् = सदस् रथ में बैठने का स्थान,प्र० वि०,ए० व० ।

अवपत् 2·14·6 - √वप् बिखेरना, मिलना, एकत्र करना,

√वप्, लङ्०,प्र० पु०, ए० व० ।

वपुः 6·44·8 - "शरीरं दधानः धारयन्", सा०,"आत्मीयम्",स्कन्द०,

"वपुष्", प्र० वि०, ए० व०, "शरीर", सं० ।

वप्सतो 7·55·2 - "भक्षयत स्तव दन्ताः", सा०,

√वप्-स + अत् [शतृ] प्र० वि०, अ० व०, नपु०, पु०,।

वयः 6·44·9 - "अन्नम्",सा०,

वय् + अस् = वयस्,भोज्य पदार्थ, पुष्टिकर अन्न, प्र० वि०, ए० व० ।

वर्चिनः 2·14·6 - "वर्च दीप्तौ" । गमेरिनिः [उ० सू० 4·446]

इति क्रियमाण इनिर्बहुलवचनाद स्मादभवति । यद्वा नामैतत् ।"सा०,

√वर्च + इन्,पु०, सं०, प्र० वि०, ए० व०, असुर विशेष का नाम ।

वर्पांसि 6·44·14 - "आवरकाणि", सा० ,"वारकाणि", वेङ्कट "रूपनामैतत् ।

सामर्थ्याच्चात्रनिर्हितमस्वर्थम् । रूपवन्त्यसुरकुलानि ।" स्कन्द०,

वर्पस्,नपु०,सं०, रूप, आकृति, प्र० वि०, अ० व० ;

या अवरोध करने वाले असुर विशेष, शत्रु ।

वर्षीयः 6·44·9 - "वृद्धतरं", सा०, वेङ्कट, स्कन्द० ।

वर्ष + ईयसुन्, प्र० वि०, ए० व० ।

अपेक्षाकृत अत्यधिक वृद्ध ।

वरिवः 6·44·18 - "वरणीयं धनम्",सा०,

वर् + इवस्, नपु०,द्वि० वि० , ए० व० ।

वराय 6·44·21 - "श्रेष्ठाय", सा०,

"वर", च० वि०,ए० व० विशे०,

✓वश्-चाहना, कामना करना, अदादि० ।

वाश्मे 2·14·9 - "कामयते" । "वश कान्तौ" यङ्लुगन्तस्य लटि व्यत्ययेनात्मनेपदम्

"लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः । सा०,

✓वश्, लिट्, प्र० पु०, ए० व० ।

वशः 8·93·10- "वष्टेर्लेट्यडागमः ।", सा०,

✓वश्, लेट्, म० पु०, ए० व० ।

वशे 8·93·4 -✓वश् + अ, पु०, इच्छा, कामना, वश में ।

वश>वशे,स० वि०, ए० व० ।

ववक्षि 8·45·6 -✓वश्,लट्, प्र० पु०,पु०,ए० व० ।

वष्टि 8·45·6 -✓वश्,लट्, प्र० पु० ,ए०, व० ।

विवस्वति 2·13·6 - "परिचरणं कुर्वाणे यजमाने", सा०,

वि +✓वस् + सन् + लेट्,प्र० पु०, ए० व० ।

वसव्यम् 2·13·13 - "वस्वेन वसव्यम् । वस्वादित्वात् स्वार्थिको यत् ।

तादृशं प्रभूतं धनमस्ति खलु ।" सा०,वसु + यत्, विशे०, नपु०,प्र० वि०, ए०व० ।

वसुः 6·44·15 - "वसु", धन, नपु०, प्र० वि०, ए० व० ।

वसु 2·13·11 - "धनम्", सा०,

"वसु",धन, नपु०,प्र०वि०,ए० व० ।

वसूनाम् "धनानाम्","वसु",नपु०,ष० वि०,ब० व० ।

वसूयवो 10•47•1 -"वसुकामा वयं", सा०,

वसु + य, विशे०, धन की कामना करने वाले,

प्र० वि०, ज० व० ।

वसुपते 10•47•1 - "बहुना धनानां स्वामिन्", सा०,

वसु + पति = वसुपति>वसुपते, सम्बो०, ए० व०,

ष० तत्पुरुष समास, विशे०, ऐश्वर्य के स्वामी ।

वसो 8•98•11 - "वासयितः", सा०,

"वसु" > वसो, सम्बो०, ए० व०, विशे० बसाने वाले, पु० ।

वस्यः -6•44•7 - "वसीयः श्रेष्ठं धनम्", सा०, "वसूनि धनानि", स्कन्द०,

वसु + य = वस्यः, प्र० वि०, ए० व० ;

श्रेष्ठ धन, नपु०, विशे० ।

वस्वीः 1•84•10-"वस निवासे । शृस्वृस्निहि इत्यादिना वसेः उ प्रत्ययः ।"

"धान्ये नित्" इत्यनुवृत्तेः आद्युदात्तत्वम् "वोतो गुणवचनात्"इत्यत्र

गुणवचनात् ङीजाद्युदात्तार्थम्" (का० 4•1•44•1) इति वचनात् वसु

शब्दात् ङीपि यणादेशः । जसि "वा छन्दसि"इति पूर्वसवर्णदीर्घत्वम्"। सा०,

√वस + उ + ङीप्= वस्वीः, प्र० वि०, ए० व०, सा० ;

निवास योग्य, बसाने वाली, बसने वाली, विशे०, स्त्री० ।

√वह प्रापणे, ले जाना,

ववक्षुः 8•12•25•27 - "अवहताम्", सा०,

√वह, सन्, लिट्, प्र०पु०, द्वि०व० ।

वहतः 1•84•2-"समीपं प्रापयतः ।" सा०,

√वह लट्, पु०, द्वि० व० ।

ववक्षे 8·93·9 – "स्तोतृभ्यो धनादिकं वोढुमिच्छति ।" सा०,

√वह् + सन्, लिट्, प्र० पु०, ए० व० ।

ववक्षुः 8·12·7 – √वह्सन्, लिट्, प्र० पु०, ब० व० ।

ववक्षिथ 8·12·4– ववक्षिथ –√वह् + यङ् + सन्, लिट्, म०पु०, ए० व० ।

आवहतात् 10·24·5 –√वह्-ले जाना, भ्वादि०,

आ +√वह्, लोट्, परस्मै०, प्र० पु०, ए० व० ।

आ वह 8·93·25–"आवह" । यज्ञं प्रति प्रापयेत्यर्थः । सा०,

आ +√वह्, लोट्, म० पु०, ए० व० ।

वहान् 1·84·18 –आ +√वह्, लेट्, प्र० पु०, ब०व०, (वैदिक प्रयोग)

"आवहन्ति, प्रयच्छन्ति" सा० ।

वहन्तु 6·44·19–√वह्, लोट्०, परस्मै०, प्र० पु०, ब० व० ।

वोळ्हाम् 8·93·24 – "इन्द्रं वहताम्", सा०,√वह्, लोट्, म० पु०, द्वि० व० ।

वह्यः 8·12·15 – "वोढार ऋत्विजः", सा०,

√वह् + य = वह्यः, प्र०वि०, ए०व०, विशे०।

√वाज् बलवान बनाना,

वाजयामसि 8·45·7 – "वाजयामः", सा०,

√वाज्-य, लट्, म० पु०, ए० व० ।

वाचम् 8·96·12 –√वच् –अ = द्वि० वि०, ए० व०।

सुवाचः 8·96·1 – सु +√वच् –अ= प्र० वि०, ब०व०, "शोभनवाचो भवन्ति", सा०,

सुप् लोप्, वचनव्यत्यय, बहुवचनान्त प्रयोग ।

वाजयन्तम् 8·98·12 – "बलमिच्छन्तम्", सा० ,

✓वाज् + य + शतृ, पु०, विशे०, द्वि० वि०, ए० व०, बलयुक्त धन देने वाले ।

वाजस्य 8·45·28–"वाज", ष० वि०, ए० व०, अन्न के, शक्ति के ।

वाजिनम् 2·13·5 – "यथा वाजिनमश्वमुदभिरूदकैर्वर्धयन्ति तद्वत्" । सा०,

✓वाज् + इन्, वाजिन्, द्वि० वि०, ए० व०, शक्तिमान् ।

वाणी 8·12·22 – "वाण्यः स्तुतिरूपा वाचश्च", सा०,

वण् – इण् – ङीप् = वाणी, द्वि० वि०, ब० व०, स्त्री०,।

वार्यम् 10·24·2 – "वरणीयम् श्रेष्ठं धनम्", सा०,

"वार्य", द्वि० वि०, ए० व०, नपु०,

✓वृ + ण्यत्, अभिलषित फल, विशे०, ।

वाशीव 8·12·12 – "वाङ् नामैतत् स्तुतिरूपा वाक्", सा०,

वाश्– अ, स्त्री०, वाशी + इव, वाणी के सदृश शब्दायमान, विशे०,

पु० वि०, ए० व० ।

वाश्रा 10·119·4 – "शब्दायमाना धेनुः", सा०,

✓वाश् शब्दे + र + टाप्, वाश्रा, हम्भा शब्द करती हुई गाय,

सं०, प्र० वि०, ए० व० ।

वास्तोष्पते 7·55·1 – "गृहस्य पालकैतत्संज्ञकदेव" । वास्तुर्वसतेः

"वस निवासे" (भ्वा०प०) अस्माद् "वसेस्तुन् णिच्च" इति तुन् ।

णित्वादादिवृद्धिः वास्त्वन्तरिक्षं पाता विभुत्वेन । गृहं वा वास्तोष्-

पति (वास्तुपति) पु०, गृहपति, गृहस्वामी, सम्बो०, ए०व० ।

वास्तु > वास्तोः, ष०वि०, ए० व०, पति > पते, षष्ठी अलुक् समास ।

विचर्षणे 8·98·10 – "विद्रष्टः", सा०,

वि -चर्-षणि, कर्मठ, ज्ञानी, विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न, विचर्षणि > विचर्षणे, सम्बो०, ए० व० ।

विधुरेण 8·96·2– "कर्म व्यत्ययः" विधुरेणासहायेनापि, सा०,

विध-उर= "विधुर", तृ० वि०, ए० व०, विशे०, बिना किसी सहायता के, डगमग, न्यून ।

विद्म 8·45·13 – "जानीम", सा०,

√विद् ज्ञाने, लट्, उ० पु०, ब० व० ।

√विद् लाभे, ज्ञाने,

विन्दसे 2·13·11 – "शत्रूणां धनं लभसे । "विद्लृलाभे" ।

तुदादि । स्वरितेत् । यद्वा तदीयं धनं स्तोतॄन् प्रापयसीति यत् तत्प्रशस्यमित्यर्थः । सा०,

√विद् लाभे, लट्, म० पु०, ए० व० ।

विविदे 2·15·9 – "लेभे" ।" विद् लृलाभे" । स्वरितेत् ।

√विद्, आत्मने०, लिट्, प्र० पु०, ए० व० ।

विदे – 1·100·10, 8·93·2 – "विद् ज्ञाने" कर्मणि लट् । "बहुलं छन्दसि" इति विकरणस्य लुक् । लोपस्त आत्मने पदेव इति तलोपः ।" सा०,

√विद्, लिट्, प्र० पु०, ए० व०, कर्मवाच्य, आत्मने०।

अविदत् 6·44·7 – "जानाति", सा०,

√विद् ज्ञाने, लङ्, प्र०पु०, ए० व० ।

विदत् 1·100·8 – "लम्भयति" । "विद्लृलाभे" । "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ।
1·84·14 इति वर्तमाने छान्दसो लुङ् । लृदित्वात् च्लेः अङादेशः ।
बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि इति अडभावः । सा०,

✓विद्,लुङ्,प्र० पु०, ए० व०, लट् के लिए लुङ् का प्रयोग तथा अडभाव है ।

अपावृणोत् 2·14·3 – वृणोतेर्लुङि· "मन्त्रे घस" इत्यादिना च्लेर्लुक ।

अप +✓वृ + लुङ्, प्र० पु०, ए० व० ।

वेदत् 8·96·10 – "लम्भयतु ददातु ।"विद् लृ लाभे" । लेट्यडागमः ।

विद्, लेट, प्र० पु०, ए० व० ।

वेदति 8·45·42 – "विद्ज्ञाने",लट्,प्र० पु०, ए० व० ; "जानाति", सा० ।

८·४५·३१ विन्दत् "अलभत", सा०,

विद् लृ लाभे, लङ्, प्र० पु०, ए० व०, {अट्का लोप} अविन्दत् > विन्दत् ।

अविन्दत् 1·101·5 – "अलभत्", सा०,

✓विद् लाभे, लङ्, प्र० पु०,ए० व०, परस्मै०, तुदादि० ।

संविदानः 10·162·1 – "ऐकमत्यं प्राप्तः", सा०,

सम्✓विद + शानच्, प्र० वि०,ए० वि०, पु० ।

विदथेषु 1·101· –✓विद् ज्ञाने > विदथ ; स० वि०,ब० व० ; यज्ञों में ।

विदथे 2·15·11 –✓विद् ज्ञाने,विद्–अथ, विदथ, यज्ञ,

निघण्टु" में विदथ" यज्ञनामों में पठित है ।

विदथ > विदथे,स० वि०, ए० व० ।

विद्वान् 6·44·14 – "अभिज्ञः", सा०,

✓विद् ज्ञाने + क्वसु = विद्वान्,प्र० वि०,ए० व० ;

पु०, विशे०, ज्ञानवान्, बुद्धिमान् ।

√विध्

विद्धा 8·96·2 – "विद्धानि", सा०,

√विध् + क्त, "सुधां सुलक्" से जस् का लोप ।

अविक्ष्यत् 5·40·5, –√विध्-ढकना, घेरना, परेशान करना + य, लङ्, प्र० पु०, ए०व०।

विपः न 6·44·6 – मेधाविनः इव भवन्ति" ।, सा० , "मेधाविनः", वेङ्कट ,

प्र० वि०, ब० व०, विशे०, पु० ।

विपश्चिते 8·98·1 – "विदुषे", सा०,

विप् + अश् = विपश्, चिति संज्ञाने, विपश् + चित् + क्विप्, विपश्चित् >

विपश्चिते, च० वि०, ए० व०, विशे० पु० , विद्वानों के लिए ।

विप्रवीरम् 10·47·4 "मेधाविनं पुत्रम्" । सा०,

विप्-र + वीर + द्वि० वि०, ए० व०, विशे० पु०, मेधावी, विद्वान्, ।

विप्राः वीराः यस्मिन् तम्, बहु० समास ।

विप्राय 8·98·1 – "मेधाविने", सा० ,

विप् + र = विप्र > विप्राय, च० वि०, ए० व०, पु०, विशे०,

विद्वान के लिए ।

विप्राः 6·12·13 – "विप्र". प्र० वि०, ब० व०, पु०, विद्वानों, प्रतिभावानों ।

विभावसो – 8·93·25 – अन्यत्र ।

विभ्वे 8·96·11 – "महते, यद्वा शत्रूणामभिभवित्र इन्द्रायेन्द्रार्यम्" सा०,

"विभु" विस्तृत या शत्रु को अभिभूत करने वाला ।

"विभु", च० वि०, ए० व०, विशे०, पु० ।

आविशन् 7·55·1 – 'अविशन्', सा०, आ + √विश् प्रवेशने, लङ्, प्र०पु०, ब०व०, अट् का लोप।

विशः 8·12·29 – "प्रजाः", सा०,

√विश् + क्विप्, स्त्री०, प्र०, ब० व० प्रजाएं।

विश्पति 7·55·5 – "जामाता"। यद्वा विशां जनानां पालको

गृही। सा०,

विश् + पति, पु०, गृहस्वामी, बस्ती का सरपंच, ष० तत्पुरुष समास,

विशे०, पु०, प्र० वि०, ए० व०।

विभावसो 8·93·25 – "अग्ने" प्रदीप्त, शोभायमान, प्रकाशमान।

वि + √भा + वसु, सम्बो०, ए० व०, विशे०, पु०।

विश्वकर्मा 8·98·2 – "विश्वस्य कर्ता", सा०,

विश्व + कर्मन्, सर्वकर्ता, सृजक, प्र० वि०, ए० व०।

विश्वं कर्म यस्य सः विश्वकर्मा, बहु० स०, विशे०।

विश्वचर्षणिम् 6·44·4– "सर्वस्य द्रष्टारम्", सा०, सर्वद्रष्टा, सज्जनों का।

विश्व – √चक्ष्–अस् =

विश्व–चर्– षणि = विश्वचर्षणि, विशे०, द्वि०वि०, ए०व०।

विश्वतः 8·98·4 – "सर्वतः", सब ओर से, समस्त, सम्पूर्ण,

विश्व–तसिल्, प्र० वि०, ए० व०, द्वि० वि०, सर्वव्यापी,

"पञ्चम्यास्तसिल्"।

विश्वदेवः 8·98·2 – "सर्वदेवत्यासि", सा०,

विश्व + देवः

विश्वस्य देवः इति विश्वदेवः, ष० तत्पुरुष स०, विशे०, पु०।

विश्वस्मात् 10·119·3 -"विश्व", पं० वि०, ए०व०, विश्व से ।

विश्वा 7·55·1 - विश्व-आ, सर्वा, प्र० वि०, ए० व०, विशे०, पु०।

विश्वाः 8·45·8 - "सर्वाः" , सा०, सब, समस्त,

विशे०, प्र०वि०, ब० व० ।

विश्वाभिः 8·12·5 - विश्वा, तृ०वि०, ए० व०, समस्त विश्वसे ।

विश्वासाहम् 6·44·4 -"सर्वेषाम् अभिभवितारम्", स्कन्द०,

"विश्वस्य शत्रोरभिभवितारम्", सा०,

विश्वा + सह्, विशे०, सर्वविजयी, पु०द्वि० वि०, ए० व०, विशे०।

विश्वाभिः 8·12·5 - "व्याप्ताभिः", सा०,

विश्वा + तृ० वि०, ए० व०, समस्त व्याप्त जगत से ।

विषुवतः 1·84·10- "इत्यमनेन प्रकारेण सर्वयज्ञेषु व्याप्तियुक्तस्य" "विष्लृ व्याप्तौ"।

अस्मात् औणादिकः कुप्रत्ययः । ततो मतुप् । "ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्" इति

मतुप् उदात्तत्वम् । "अन्येषामपि दृश्यते" इति संहितायां दीर्घः । व्यत्ययेन

मतोर्वत्वम् ।" सा०,

√विष् + उ + मतुप्, विषुवत् > विषुवतः, ष० वि०, ए० व० ।

विष्टिरः 2·13·10 - "विस्तीर्णः" सा०,

वि√स्तृ + इर = विशे०, विस्तृत,

विस्तारी, फैला हुआ ।

विष्णुः 6·12·27-"व्यापनशीलो देवः", सा०,

विष्-नु =पु०, विशे०,सं०, सक्रिय, कर्मठ,

② देवता विशेष "विष्णु", पु०, सं०, प्र०वि०, ए०व० ।

विष्णापि 8·12·16 – "विष्णो", सा०,

विष्‌-णु , स०, ए० व०, वैदिक रूप, यज्ञ में ।

√वीड्, दृढ़ या भीड़ा करना ।

विविड्ढ 8·96·12 – "व्यापय" , सा० ,

√वीड्, लोट्, म० पु०, ए० व०, व्यापक बनाओ, बढ़ाओ ।

वीळ्यासि 8·45·6 – "दृढीकरोषि", सा०,

√वीड्+ णि, लेट्, म० पु०, ए० व० ।

वीळोः 1·101·4 – "दृढस्यापि शत्रोः", सा० ,

√वीड् + उ = वीळु, ष० वि०, ए० व० ।

वीतये 8·93·22 – "आत्मनः पानाय", सा० ,

√वी + ति + च० वि०, ए० व० =वीतये

देवगण का विशे०, नपु०, पु० ।

वीतिहोत्रः 1·84·18 – "वी गत्यादिषु" । अस्मात् कर्मणि "मन्त्रे वृष"

इत्यादिना क्तिन् । स चोदात्तः होत्रं होमः । हुयामाश्रुमसिभ्यस्त्रन्"

{उ०सू० 4·607} इति त्रन्प्रत्ययः । वीतिः प्राप्तो होमो येन । बहुव्रीहौ

पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । सा० ,

√वी + क्तिन् + होम, बहुव्रीहि समास, भोज के लिए आहूत ।

वीर 6·44·13 – "हविषां विशेषेण प्रेरयितः", सा० सम्बो०, ए० व० ।

वीरम् 8·98·10– पु०, वि०, ए० व०, विशे०, पु० ।

वीरान् 2·14·7–"वीर". द्वि०वि०, ब०व०, पु०, विशे०, वीरों को ।

वीराय 6·44·14 - "शक्षणा वीरयित्र इन्द्राय", सा0,

"वीर", च0 वि0, ए0 व0, वीर के लिए, पु0 विशे0, ।

सुवीर्यम् 8·12·33-"शोभनवीर्योपेतम्", सा0,

सु + वीर्य, शोभनं वीर्यं यस्य सः ;

बहु0 समा0, द्वि0 वि0, ए0 व0 ।

वीरवन्तम् 10·47·5 - "वीरैः पुत्रैरूपेतम्", सा0,

वीर + वत् {मतुप्} विशे0, पु0, द्वि0वि0, ए0व0,

वीरयोद्धाओं से युक्त ।

सुवृक्तिम् 8·96·10-"शोभना स्तुतिम्", सा0,

सु + वृत् +ति, शोभना वृक्ति इति सुवृक्ति ।

स्त्री0, द्वि0 वि0, ए0 व0, सुन्दर स्तुति को ।

अवृणक् 1·101·2 - "वृजी वर्जने" । रौधादिक । न्यवर्जयत् ।

वृणक्तिर्हिंसाकर्मा । समूलं हतवानित्यर्थः ।" सा0,

✓वृक् हिंसायां, लङ्, प्र0 पु0, ए0 व0 ।

वृज्याम 8·45·10 - "नोपगच्छेम", सा0,

✓वृज् विधि लि0, उ0 पु0, ब0 व0 ।

वृत्राणि 6·44·14 "शत्रून्" सा0,

✓वृत् आवरणे "वृत्र" प्र0 वि0, ब0 व0, पु0 ।

वृत्रम् 6·44·15 - "आवरकं शत्रुम्", सा0,

✓वृ + त र, पु0, ढक लेने वाला, शत्रु, दानव ;

द्वि0 वि0, ए0 व0, पु0 ।

वृत्रम् 8•12•26 - "अवर्षिणोल मेघमसुरं वा", सा०

वृ - त र = द्वि० वि०, ए० व०,

मेघ, बादल, पु०, राक्षस ।

वृत्राय 8•12•22 -√वृत्र आवरणे,वृत्र, च० वि०, ए० व०,वृत्र के लिए,

सं०, पु०, विशे० ।

वृत्रहन् - 1•84•3 - "शत्रूणां हन्तरिन्द्र", सा०,

वृत्र +√हन्+क्विप्,सम्बो०, ए० व०, विशे०,पु०,

शत्रुनाश करने वाले इन्द्र ।

वृत्रहन्तम 5•40•2,3,8;93•16-"अतिशयेन शत्रूणां हन्तृतम", सा०,

वृत्र+√हन् + तृच + तमप् = द्वि० वि०, ए० व०,

पु०,विशे०,अतिशय शत्रुहन्ता ।

वृत्रहा 8•45•4 - वृत्र +√हन् क्विप्, प्र० वि०, ए० व० ।

विशे०, पु०, वृत्रहन्ता ।

8×38×10

वृणे 8•38•10-√वृ,आत्मने० लट्, उ० पु०, ए० व० ।

√वृ-पसन्द करना, वरण करना, चुनना ।

√वृध वर्धने, आत्मने० बढ़ना, भ्वादि० ।

वर्धते 2•13•1 -√वृध,लट्,प्र० पु, ए० व०, आत्मने-पद ।

वर्धन्ति 8•98•8 -वृध्,लट्,प्र० पु०, ब० व०,(णि अन्तर्भावित) परस्मै०।

वर्धयन्ति 6•44•5 - वृध + णिच्,लट्, प्र० पु०, ब० व०,परस्मै० ।

अवर्धयत् 8•12•7 -√वृध + णिच्, लङ्,प्र० पु०, ए० व० ।

वावृधुः 8·12·20 – "स्तोतारो वर्धयन्ति", सा०,

<√वृध आत्मने> वा +√वृध, लिट्, प्र० पु०, ब०व० ; "वर्तमाने लिट्"

छान्दस दीर्घ, ववृधुः > वावृधुः ।

वावृधे 6·44·13 – "वर्धते", सा०, स्कन्द० ,"स्तुवताम्", वेङ्कट ,

√वृध, लिट्, प्र० पु०, ए० व०, आत्मने० ।

वावृधाते 8·12·28 – "प्रवृद्धौ अभूवतुः", सा०,

वा +√वृध, लिट् प्र० पु०, द्वि० व०, आत्मने पद ।

वावृध्वांसम् 8·98·8 – वा +√वृध + क्वसु, द्वि० वि०, ए० व० ।

अवीवृधत् 8·80·10 – "वर्धयति", सा० ,

√वृध, लुङ, प्र० पु०, ए० व०, प्रवृद्ध किया ।

वृधः 8·98·5 –√वृध + अ = वृधः ,प्र० वि०, ए० व० ;

बढ़ा हुआ ।

वृधासः 8·93·23–"वर्धयन्तः", सा०,

√वृध + अ, प्र० वि०, ब० व०, वैदिक प्रयोग, <तु०–जनासः> ।

वर्धनम् 2·13·6 – "वृद्धिकरं बलं धनं वा", सा० ,

√वृध+अन्,वर्धनम्, द्वि० वि०, ए० व० ; बाढ़ ।

वृषणम् 1·101·1 – "कामानां वर्षितारम्"। " वा ऽपूर्वस्य निगमे" इति

विकल्पनादुपधादीर्घाभाव: ।" सा०,

वृष + कनिन्, प्र० वि०, ब० व० ।

वृषन् 5·40·1 – "फलस्य वर्षयितः", सा०,फल को वर्षा करने वाले,

√वृष + अन् <शतृ> सम्बो०, ए० व०, विशे० ।

वृषन्तमः 1·100·2 "अतिशयेन कामानां वर्षिता" वृषन्शब्दाद् त्तरस्य तमपो "नाद्स्य (पा०सू० 8·2·17) इति नुट्।" सा०,

वृष + अन् = वृषन् + तमप्, प्र० वि०, ए० व०,

श्रेष्ठ कामनाओं की इच्छा करता हुआ ।

वृषणः 6·44·10 -"कामानां वर्षितारः", सा०,

वृष्- ण, प्र० वि०, ए० व०, पु०, विशे० ।

वृष्णा 1·84·10 - "कामाभिवर्षिणा", सा०,

वृष् - ण- आ, तृ० वि०, ए० व०, कामनापूरक ।

वृष्णे 6·44·19 - "वृष सेचने", + न > ण = वृष्ण, च० वि०, ए० व०, नपु०,

वीर्य के लिये,।

वृषभ 6·44·11 - "कामानां वर्षितरिन्द्र", सा०पु०, सम्बो०ए०व०कामनापूरक ।

वृषभः 6·44·21 - प्र० वि०, ए० व०, पु०।

✓वृष + अ-भ, सम्बो० पद, ए० व०, पु०, विशे०, वीर्यवान्, इच्छापूरक।

वृषभिः 6·44·20 - वृष + भिस्, तृ० वि०, ~~ब० ब०~~, ब० व०, पु०, विशे०।

वृषभाय 6·44·20 - "कामानां वर्षयित्रे", सा०,

वृषरश्मयः 6·44·19 - "वृषभ", च० वि०, ए० व०, वीर्यवान् के लिए ।

"वर्षितारो रश्मयः", सा०,

वृष सेचने, वृषरश्मयः, प्र०वि०ब०व०, विशे० पक्की रास वाला ।

वृषरथासः 6·44·19 - वृषा कामाभि वर्षको रथो येषां ते तथोक्ताः ।

बहुव्रीहि समा०, विशे०, कामपूरक रथों से युक्त ।

वृष्टिम् 8·12·6 - वृष-बरसना + क्तिन्, द्वि०वि०, ए० व०, स्त्री०, वर्षा।

वृषा 6·44·21

" वर्षेण पूरयितासि", सा० ,

✓ वृष्+ आ, तृ० वि० , प० व०।

विवृश्चन् 2·15·6

" विशेषेण भिन्दन्" सा०, पिपेषेति समन्वय: ओव्रश्चू छेदने । शतरि ग्रहिज्यादिना सम्प्रसारणम् ।" वि + व्रश्च् + शतृ,प्र०वि० , प०व० ।

✓ वृह् वि वृह - उन्मूलय§ 6·44·11§ सा०,

✓ वृह्,तुदादि०,परस्मै० ।✓ वृह्,लोट्, म०पु०, प०व० ।

बृहत् 8·98·1

✓ वृह् + अत् = बृहत्,बड़ा, विस्तृत, महान् ।

बृहत्तम् 10·47·8

✓ बृह्+ अत् + तमप् - द्वि०वि०,प०व० । अतिशय विस्तृत ।

बृहस्पतिम् 10·47·6

✓ वृह् + अस् = वृहस्, यद्वा वृहत् > वृहस्

✓ पा रक्षणे > पत् + इ = पति, वृहस्+ पति, ष० तत्पु० स०, द्वि०वि०, प० व०,बृहत् मंत्र के स्वामी, देवता ।

वेन्य: 6·44·8

" वननीय:", सा०,काम्य इन्द्र:, स्कन्द०,✓ वेन्+ य , प्र०वि०ए०व०, विशे०,वननीय, दर्शनाय, रूपवान्।

वेद: 8·45·15

" धनम् " , वेद् + अ , पु० , सम्पत्ति, प्र०वि०, प०व० ।

यद्वा- (2) ✓ वृह् - सन्,

यद्वा- (2) वि- ✓ वृह्, सन्, लट्०,

यद्वा-(3) वि - वक्ष्, लट्, म०पु०, ए०व० ।

विवक्षणा: 8·45·11

" वोढ़व्य वहन्त:", सा०, वि- ✓ वक्ष्- असुन् जस् > अस्, प्र०वि० ब०व०, विशे०, पु०, सम्प्रति वहन करने वाले ।

व्यंसम् 1·101·2

वि-अंसम्- " विगत भुजं वृत्रम् । विगत: अंसोह यस्मात् । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । यणादेश: ।" सा०,

वि + ✓ अंस्, द्वि०वि०, ए० व०, भुजाविहीन वृत्र को ।

व्याव: 6·44·8

वि+ आ ✓ वृ, लुङ्, प्र०पु०, ए० व०, आत्मने० ।

विवृणोतु वचोभि: स्तूयमान: नु । सा०," वि वृणोति" वेङ्कट।

" वि आव: विवृतं अकार्षीत्", स्कन्द०। व्रतस्य यागादे: कर्मणो विरोधिनम् ", सा०,

अव्रतम् 1·101·2

न व्रतम् इति अव्रतम्, नञ् समास, द्वि०वि०; ए०व०, विरोधी (शत्रु)को।

व्रते 1·101·2

" नियमरूपे", सा०," व्रत", स०वि०, ए०व०, नियम विधान में ।

विव्रता 8·12·5

" विविध कर्माणो ", सा० , विव्रत, विविधानि व्रतानि ययो तौ, विशे०,प्र०वि०, द्वि०व०, विविध कर्मों को ।

वीरम् 8·98·10

" वीर्योपेतम्",सा०, " वीर ", द्वि०वि०,ए०व० ।

विवेन्य: - कमनीय, कान्त,कान्तिमान्,प्र०वि०ए०व०द्वा वि + √ वेन् + लुङ्,म०पु०, ए०व० ।

√ वस् निवास के अर्थ में ।

वसु: 6·44·15

" सर्वेषां निवासयिता ," सा०,√ वस् + उ (उणादि प्रत्यय) प्र०वि०ए०व० , विशे०,: पु०,सबको निवास स्थान देने वाला ।

विविक्त: 8·12·20

" पृथक्कृत: ", सा०, वि+ विच् + क्त , प्र०वि०,ए०व० ।

वसूनि - " धनानि ", सा० ," वसु" प्र०वि०, ब०व० , नपु०,धनों को।
8·12·21

वाजयु 8·80·5

" अस्माकमन्नमिच्छन् ", सा० , √ वाज् - अ + क्यच् + उ , पु०,बलदायक।

वाजयुम् 8·80·6

" अन्नेच्छुम् " ,सा०,वाज+ क्यच्+ उ + द्वि०वि०,ए०व० । अन्नयुक्त रथ को ।

वाजसातये 8·80·2

" अन्नलाभाय", सा0, वाजसाति + च0वि0, ए0व0 ; अन्नप्राप्ति

हेतु ।

अविवासति 1·84·9

" परिचरति। विवासतिः परिचरणकर्मा । " सा0,

आ- वि-✓ वस् - सन्, लट्, प्र0पु0, ए0व0 ।

आविशन् 7·55·1

" प्रविशन्", सा0 , आ ✓ विश् प्रवेशने, लङ्, प्र0पु0, ब0व0,

अट का लोप ।

"श "

शक: 8·80·3

✓ शक्-सकना, समर्थ होना, स्वादि0, परस्मै0 ।

" अशक: शक्तो भव ।" सा0 , ✓ शक् + अ = शक:, प्र0वि0,ए0व0 ।

शक्र 8·12·17

" शक्रेन्द्र", सा0, शक्तिशाली, महान् ; शक्- र = शक्र, इन्द्र, पु0,

सम्बो0, ए0व0, विशे0 ।

शक्रा 10·24·4

" अश्विद्वयः " शक्- र - विशे0, शकुत, महान् ,

शक्र+ आ = शक्रा, विशे0, शक्रा > शक्रौ (वैदिक रूप)

" सुपां सुलुक्" से लोप और छान्दस दीर्घ होकर शक्रा , सम्बो0 ,

वि०व० ।

शग्म: 6·44·2

सुखकर: । सा०, वेङ्कट, स्कन्द० ।

शक्+ म = शग्म, प्रा०वि०, प०व० , विशे०, शक्त, समर्थ {क > ग}

सुखकारी । " शची " स्त्री०, सं०, बुद्धि० प्रज्ञा ।

शच्या 6·44·24

" प्रज्ञया संकल्परूपया "सा०, शच् - ई = शची , स्त्री० , सं०, तृ०वि०, ए०व०, प्रज्ञा से, संकल्परूप से , शक्ति से ।

शचीभि: 6·44·9

" आत्मीयाभि: प्रज्ञाभि: " सा०, शची, स्त्री०, तृ०वि०, ब०व० ; प्रज्ञाओं के द्वारा, शक्तियों के साथ ।

शचीनाम् 10·24·2

" सर्वेषां कर्मणां पालको भवसीत्यर्थ: " सा०, " शची ", ष०वि० ब०व०, यज्ञ सम्बन्धी " शची " नामक कर्म विशेष का । " सचि-श्चीशमी " इति कर्मनामसु पाठात् ।

शचीऽपते 10·24·2

" कर्मणां पालयित: त्वं ", सा०, शची + पति: = समास०, विशे०, सम्बो०, ए०व०, पु०, शक्ति का स्वामी , कर्मों का पालनकर्ता {इन्द्र} ।

शतक्रतु: 8·93·32

" नानाविध कर्मा ; सा० , शत, नपु०, सौ, अन्यत्रं एकनेका शता दद: {v, 52·17} क्रतु- पु०, शक्ति, सामर्थ्य, विशे० ।

शत + क्रतु = शतक्रतुः, प्रoविo, एoवo, समाo, सौ शक्तियों वाला, शतशक्तियुक्त "इन्द्र", पुo, विशेo ।

शतक्रतो 8·80·1, 8·98·12

"बहुकर्मन्निन्द्र", साo, शतक्रतुः > शतक्रतो, सम्बोo, एoवo, पुo, विशेo, समाo, बहुकर्मसम्पादकइन्द्र ।

शतऽनीथः 1·100·12

"बहुस्तुतिर्बहुविधप्रापणो वा।" "णीञ् प्रापणे" । हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् (उoसूo 2·159) इति क्थन्प्रत्ययः।" साo, शत+ √ णीञ् + क्थन्, प्रoविo, एoवo, सौ प्रकार की गति वाला ।

शतऽग्विनः "8·45·11

" बहुधनाः", साo, शत+ गो + विनि = शतग्विन्, प्रoविo, बoवo ; पुo, विशेo, सौ गायों से युक्त ।

शत्रुत्वम् 8·45·5

शत्रु – त्व, नपुo, शत्रुता, दुश्मनी, वैरभाव, प्रoविo, एoवo, विशेo ।

शत्रून् 6·44·17

" शत्रु ", द्विoविo, बoवo, पुo, संo, शत्रुओं को ।

अशत्रवा 8·82·4

" सपत्नरहित", साo, " शत्रुहीन" । न शत्रुः इति अशत्रुः, सम्बोo, एoवo, अशत्रो ! नञ् समाo ।

शनैः 8·45·11

" मन्दं मन्दं", साo, चुपचाप, धीरे- धीरे, क्रमशः ; निपात, क्रिoविशेo।

✓ शंस-प्रशंसा करना, स्तुति करना, भ्वादि०।

प्रशंसिष: 1·84·19

सम्यगनेन स्तुतम् इति प्रशंस । " ✓ शंसु स्तुतौ" । लेटि सिपि अडागम: । " सिब्बहुलं लेटि" इति विकरणस्य सिप् । तस्य आर्धधातुकत्वात् इडागम: । सा०, प्र +✓ शंस,लेट्,म०पु०, ए०व० ।

शंसिषम् 8·45·28

✓ शंस् , लुङ्; उ०पु०, ए० व० ।

शमि 8·45·27

कर्म " शची शमी" इति कर्मनामसु पाठात् ।" सा०, शम् + इ ="शमि " कर्मनाम, नपु०,द्वि०वि०, ए०व० ।

शर्धम् 8·93·16

" बलभूतं वेगवन्तं वा एतादृशमिन्द्रम्",सा०, (✓ शृधु) शर्ध –अ, बली, वेला, बलबहादुर, द्वि०वि०,ए०व०,विशे०,पु० ।

शर्यणावति 1·84·14

शर्यणा नाम देशा: । तेषामदूरभवं सरं शर्यणावत् । मध्वादिषु शर्यणशब्दस्य पाठात् " मध्वादिभ्यश्च" (पा०सू०4·2·86) इति चातुरर्थिको मतुम् । " संज्ञायाम्" इति मतुपो वत्वम् । मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् (पा०सू० 6·3·119) इति दीर्घ: । "सा०, शर्यणा + मतुप् + दीर्घ = शर्यणावत्, स०वि०,ए०व०,सं०,शर्यणावत् नामक तालाब में ।

शवः 1·84·9

" बलम्", सा० √ शु √ श्वि - " शवस् " द्वि०वि०, ए०व०, पु०,

शक्ति, बल, पौरुष ।

शवसा 6·44·3

" बलेन ", सा०, शक्ति से , बल से,, तृ०वि०, ए०व०, पु०, विशे०।

शवसी 8·45·5

" बलवती माता", सा०, शवस्+ ई = शवसी, स्त्री०, इन्द्र की बलवती

माता , प्र०वि०, ए०व० ; विशे० ।

शविष्ठ 1·48·1

" अतिशयेन बलवन् । शवस्विच्छब्दात् इष्ठनि विन्मतोर्लुक्" टेः

इति टिलोपः । पादादित्वात् निघाताभावः । सा०,

शवस्+ इष्ठन् = शविष्ठ, प्र०वि०, ए०व०, पु०, विशे० , अत्यन्त बलवान्

शवसस्पते 8·45·20

" बलस्य पते", सा० ,

शवसः पते इति शवसस्पते ,षष्ठी तत्पुरुष समास, सम्बो० , ए०व०,

विशे०, पु०, बल के स्वामी ।

शश्वत् 8·80·2

" सदा", सतत्, निरन्तर रहने वाला, शश्- वत् (सुलोप् ; विशे० ।

शश्वतीनाम् 8·98·6

" बह्वीनां", सा०, शश्वत्+ ई = शश्वती , ष०वि०, ब०व०, बहुतों की ।

शस्तम् 8·45·2

" स्तोत्रं", सा०, स्तोत्र, शास्त्र कथित, प्रार्थना, शंस्- त, नपु० लिं०, प्र० वि०, ए० व० ।

प्रशस्तये 8·12·15

" प्रशस्त्यर्थम्", सा०, प्र+ √ शंस् + क्त्त, च० वि०, ए०व०, प्रसिद्धि हेतु ।

प्रशस्तय: 8·12·21

प्र √ शंस् + क्त, प्र० वि०, ब०व०, प्रसिद्धियाँ, कीर्तियाँ ।

शिप्रिणे 6·44·14

" शोभनहनुकाय", सा०, सुन्दर ओष्ठ वाले, शिप्र- इनि -शिप्रिन्, च० वि०, ए०व०, विशे० ।

शिमिवत: 1·84·16

" वीर्यकर्मोपेतान्", वीरतापूर्ण कार्यों से युक्त, शिमि+ वत्, द्वि० वि०, ब०व० ।

शिमिवान् 1·100·13

" शिमी इति कर्मनाम । लोकानुग्रहकेण कर्मणायुक्त: " । सा०, शिमी (शमी) + मतुप्, प्र० वि०, ए०व०, विशे०, शिमी कर्म या अनुष्ठान से युक्त ।

शिव: 8·93·3

" कल्याणतम: ", सा०,

§1§ शि - व = शिव:, पु०, प्र०वि०, ए०व० ; शिव, रुद्र।

§2§ कल्याण, कल्याणकारी, सौख्यकर ।

शिवतमाय 8·96·10

'कल्याणतमायेन्द्राय', सा०,

शिव- तमप् , च०वि०, ए०व० ; श्रेष्ठतम् कल्याण हेतु ।

शिक्षसे 1·28·3

" अभ्यासं करोति " "शिक्ष विद्योपादने" । अदुपदेशाद् लसार्वधातुका नुदात्तत्वे धातुस्वर: । " निघातैयद्यदिहन्तं" इति निपातप्रतिषेध: ।

सा० , √ शिक्ष, लट् , आत्मने०, प्र०पु०, ए०व० ।

√ शी-लेटना, अदादि० ,आत्मने० ।

शये 10·162·4

" शेते " सा० ,√ शी , लट्, उ०पु० ,ए०व० ,आत्मने०, प्र०पु० ,ए०व०, के लिए प्रयुक्त है ।

शीर्षन् 8·96·3

"शिरसि", सा० " शीर्ष",नपु०,सिर, द्वि०वि०,ब०व० । / श्री-हि

शुक्रम् 8·12·30

" निर्मलम्",सा०,शुक्- र,द्वि०वि०,ए०व०, पु०,विशे०,भासमान , प्रकाशमान, भास्वर, श्वेत् ।

आशुषे 8·93·16

अश्नोतेर्लेट्युत्तम इति सिप् । व्यत्ययेनोप्रत्यय: बहुलं छन्दसि।" इत्य-डागम: । आ + √ शुष्, लेट्, उ०पु०ए०व० ; आत्मने० ।

शुष्कम् 2·13·6

" अनार्द्रम् ", सा०, शुष् + क = शुष्क, वि०वि०, प०व० , सूखा हुआ ।

✓ शुष् -सूखना, दिवादि०, परस्मै० ।

शुष्म: 1·100·2

" सर्वेषामसुराणां शोषक: ", सा०, शुष् शोषणे । " अविसिविशुषिभ्य: कित् " (उ०सू० 1·141 इति मन् प्रत्यय: । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ।

✓ शुष् + मन् , प्र०वि०,ए०व०, पु०, विशे०, सभी असुरों के प्राणों का शोषक (इन्द्र) ।

शुष्मम् 8·98·8

" शत्रूणां शोषकं बलम् ", सा०,✓ शुष्+ मन्, शुष्मन्, द्वि०वि०, प०व०, शत्रु शोषक बल को, पु०, विशे० ।

शुष्मिन् 8·98·12

" बलवान् ", सा०,✓ शुष् + मन् + इन्, सम्बो०, ए०व०, हे बलवान्, पु०,विशे० ।

शुष्मी 5·40·4

" बलवान् ", सा०,

✓ शुष् + मन् = शुष्मन् + ई = शुष्मी, प्र०वि०, ए०व० ।

शूनम् 8·45·36

" वृद्धम् ", सा०, शु- न = द्वि०वि०, प०व०,वृद्धता को ।

शूर: 6·44·17 , 8·45·3

✓ शूर- अच् ‡ उ0-शवस् ‡ प्र0वि0,ए0व0 ; विशे0 , पु0,वीर,

शक्त ।

सुशेव: 7·55·1

" सुष्ठु सुखकर: " सा0, ‸ऽन्तस्थान्तरोपालिङ्गी विभाजिगुण: शेवमित्यस्य

शेव इति सुखनाम् । शिव्यतेर्वकारो नामकरणो ‸स्य भवति । ✓ श्वि

- सूजना, बढ़ना, कल्याणकर होना, श्वि- अ > शिव, यद्वा

शिश > शि - व = शेव, कल्याण, सुख, लाभ , तु0-शू - र ,

शू- न , शून्य > शूशुजान:, शोथ , अवे0,स्पाध > सिपाह्, सिपह्,

सिपाही ।

शूशुवांसम् 10·47·4

" वर्धमानम्",सा0,शू + ✓ स्वश् + वस्, द्वि0वि0, ए0व0 ;

शूशुवस्,वर्धमान उत्कर्षशाली ।

शेवधिम्- 2·13·16

" धनसदनम्",सा0,द्वि0वि0, ए0व0 ; पु0,निधि, खजाना , ।

शोभसे 1·84·10

" शोभार्थम्", "शोभस्,च0वि0, ए0व0, विशे0,नपु0,शोभा के लिए,

‡ छान्दस प्रयोग ‡ ।

श्यावाश्वस्य 8·38·8

‡1‡ श्यावाश्व " नामक ऋषि के,ष0वि0 , ए0व0 , पु0 ।

‡2‡ नपु0,एक साम का नाम ‡ अन्यत्र ‡

श्व: 8·80·5

" अन्नं हविर्लक्षणम्", सा0,

§1§ "श्रवस्", प्रoविo, पoवo ; अन्न, खाद्यपदार्थ, अनाज श्रव+-अ

श्रव्+ अ §2§ नपु0, कीर्ति, ख्याति § अन्यत्र §

श्रु- अ §3§ नपु0, प्रवाह, नदी।

श्रव्+ अ §4§ पु0, नाद, घोष।

श्लोकी 8·93·8

" श्लोकः स्तुतिः", सा0, श्लोक+ इन् , प्रoविo, पoवo, विo, श्लोकों वाला, गीतों वाला, पु0, ध्वनि § श्रु स्तोत्र रूपी शब्द वाला।

श्वघ्नीव 8·45·38

" कितवः " तथा च यास्कः श्वघ्नी कितवो भवति । स्वं हन्तीति संहसे, सहन्से, संहति । सा0, श्व + √ हन् + इन् + इव = श्वघ्नीव § श्वभिः हन्ति पशून् इति श्वघ्नी प्रoविo, पoवo; विशे0, शिकारी की भाँति ।

श्वसथाद् 8·96·7

" श्वसेरौणादिकोऽथप्रत्ययः ।" सा0, श्वस् + अथ, पंoविo, पoवo, पु0, गर्जना से, श्वास-प्रश्वास से ।

श्वा 7·55·5

" सारमेयो भवान्", सा0, √ श्वन् > " श्वा ", प्रoविo, पoवo, कुत्ता

श्रिये 6·44·8

" श्रयितुम्", सा०, " श्रयणाय", वेंकट । यागफलमत्र श्रीरित्युक्तम् ।

स्कन्द० ✓ श्री-मिलाना, " श्री ", च०वि०प्र०व०, मिलाने केलु ।

श्रीणन्ति 1·84·11

" मिश्री कुर्वन्ति" सा०, ✓ श्री, लट्, प्र० पु०, ब०व० ।

श्रीत: 8·82·5

✓ श्री-मिलाना, क्र्यादि०, ✓ श्री + क्त, मिश्रण किया हुआ, पकाया हुआ प्र०वि०, ए०व० ।

✓ श्रु - सुनना, स्वादि०,

शृण्वे 8·45·32

" विश्रुतम्", सा०,

✓ श्रु, लट्, उ०पु०, ए०व०, आत्मने० ।

शृणुतम् 8·38·8

✓ श्रु, लोट्, म०पु०, द्वि०व०, आत्मने० ।

शुश्रवत् 1·84·8

" श्रु श्रवणे" । लेटि अडागम: । " बहुलं छन्दसि" इति शप: लुक् । ✓श्रु, लेट्, प्र०पु०, ए०व० ।

सुश्रुधि 8·82·6

सु + ✓ श्रु, लोट्, म०पु०, ए०व० ।

शृण्विरे 8·45·4

√ श्रु, लिट्, प्र०पु०, ए०व० ।

शृणोतु 8·93·18

√ श्रु, लोट्, म०पु० , ए०व० ।

श्रवय 8·93·12

" ज्ञापय", सा० √ श्रु+ णिच् + लोट्, म०पु०, ए०व० ।

श्रुत्वा 8·96·11

√ श्रु + क्त्वा = श्रुत्वा , सुनकर ।

श्रुतम् 8·93·16

" बलवत्तया प्रसिद्धम् ", सा० √ श्रु + क्त, द्वि०वि०, ए०व० ;

विशे० , ख्यात्, प्रसिद्ध ।

श्रुताय 2·14·8

" लोके प्रसिद्धाय ", सा० , √ श्रु + क्त , च०वि०, ए०व० , प्रसिद्ध

के लिए, विख्यात के लिए ।

श्रुतस्य 8·96·11

" सर्वत्र विश्रुतस्य प्रसिद्धस्य ", सा० , " श्रुत ", ष०वि०, ए०व० , विशे० ,

सर्वत्र प्रसिद्ध का, विख्यात का ।

श्रुष्टी 2·14·8

"क्षिप्रम्", सा० ,

श्रु > √ श्रुष् - ट + इ = श्रुष्टि, स्त्री०, वंशवदता ,

श्रुष्टी- पु0,क्षिप्रकारी, प्र0वि0, ए0व0 ।

श्रुष्टिम् 2·14·9

" सुखकरम्", सा0, श्रुष्- टि = प्रक्षि- प्र0 वि0, ए0व0 ; सुखदायक, सुखप्रद ।

श्रुष्टौ 2·13·9

" सुखनिमित्तं तदर्थम्," √ श्रुष्- ट+ इ : श्रुष्ट,च0वि0,ए0व0 ।

§ सुप् लोप् वैदिक रूप §

अशस्तीः 1·100·10

"अशंसनीयान् शत्रून् ", सा0,√ शंस्+क्तिन् , नञ् , शस्ति, द्वि0, ब0व0 ; विरोधी शत्रु ।

'स' सक्षित: 8·45·37

" समान निवासा:संहता उभय:,सा0,स√ क्षि+ क्त,प्र0वि0,ए0व0, समान रूप से रहने वाले § रक्षार्थ ~~स√ क्षि + क्त, प्र0वि0,ए0व0~~, वचन व्यत्ययहोकर बहु0 व0 का प्रयोग ।

सखा 7·55·1

" सखि",पु0, सं0, प्र0वि0, ए0व0, मित्र,सुहृद् ।

सखाय: 8·96·7, 8·45·16, 1·101·1

" सखि", पु0, सं0, प्र0वि0,ब0व0 ।

सखायम् 8·45·37

"सखि", पु0सं0,द्वि0वि0, ए0 व0 ।

सखिभ्यः 6·44·7

" स्तोतृभ्यः । सा०, षष्ठ्यर्थेचतुर्थ्येषा । " सखीनाम् यजमानानाम्

स्कन्द० - सखि, पु०,च० वि०, ए०व० ।

सख्यु: 8·45·36

" सखि", पु०,ष० वि०, ए०व०, मित्र का ।

सख्यम् 8·96·7

" सखिभाव:" सा०, सखि + यत् = सख्य, द्वि० वि०, ए०व०,

मित्रता को, विशे०, पु० ।

सख्याय- 1·101·7, 2, 3, 4, 5, 6, 7, (8·98·3) " सख्यु: कर्मसख्यम् । सख्युर्यः इति यप्रत्ययः । सख्युकर्मणे । " सा०,

"सखि" + य, नपु०, च० वि०,ए०व०, विशे० , मैत्री या मित्रता के लिए ।

सखित्वनाय 8·12·6

" सखित्वाय", सा० ,सखि+ त्व = सखित्व, च० वि०, ए०व०, नपु० ,

मित्रता हेतु ।

सख्ये 6·44·11

" सखित्वे वर्तमाना वयम्", सा०, सख्ये सप्तमी निर्देशाद् वर्तमाना

इति शेष: । सखि+ यत् , स० वि०,ए०व०, मैत्री भाव में वर्तमान ।

§भावे यत्§

सचन्ते 1·100·13

"सेवन्ते", सा०,√ सच् , आत्मने० लट्, प्र०पु०, ब०व०, भ्वादि०।

सचा 8·45·29, 8·93·20

"स्तोत्रेण सह", सा0, विशे0,क्रि0वि0, सह की भाँति सचा का भी साथ के अर्थ में प्रयोग होता है, साथ,समीप इत्यादि ।

सतीनसत्वा 1·100·1

सतीनम् इति उदकनाम् । उदकस्य सत्वा सादयिता गमयिता । षद् लृविशरणगत्यवसादनेषु ।" मेघेषु निषीदतीति सतीनं वृष्टयुदकम् । औणादिक: ईनप्रत्ययस्तकारान्तादेशश्च । यद्वा सती नाम माध्यमिका वाक् । सा इना ईश्वरा यस्य तत्सतीनम् । व्यत्ययेन पुंवद्भावाभाव: । तत्सत्वा । सदे: अन्तर्भावितण्यर्थात् " प्र ईरसदोस्तुट् च" (उ0 सू0 4·556) इति औणादिको वनिप् तुडागमश्च ।" सा0,

सतीन- सत्तवन् > सत्वा, प्र0वि0, ए0व0 ।

सत्राजित् 8·98·4

" महतां जेता ", सा0,

सत्रा +√जित् + क्विप्, सप्त0 तत्पु0,प्र0वि0, ए0व0,विशे0, पु0 ; पूर्णत: विजयी ।

सध्री 2·13·2

" अन्वेतर्लुक् छान्दस: । " सहस्य सध्रि: " इति सध्र्यादेशोऽन्तोदात्तत्वेन निपातित: ।सध्रीचीना: । " निपात " ।

सनद्वाजम् 10·47·4

" लब्धान्नम् ", सा0,

सनद्+ वाज = सनद्वाज, द्वि0वि0, ए0व0 ; पु0, विशे0, अन्नयुक्त (इन्द्र)

सत्पते 8·93·5

" सतां पते स्वप्रकाशाधिक्येन सतां नक्षत्राणां पते", सा०,

§1§ सद्- पति § सत्स्= सदस्§ पु०, घर का स्वामी, विशे० ।

§2§ नक्षत्रों का स्वामी, पु०, विशे० ; सम्बो० , ए०व० ।

§3§ सज्जनानां पतिः पालकः इति सत्पतिः सम्बो०, ए०व० ।

सत्यम् 8·45·27

" परमार्थम्", सा०,

§1§ अस्ति इति सत्✓ अस् + शतृ= सत्-+ यत् = सत्य,

प्र०वि०, ए०व०, यथार्थ, विशे०, नपु० , §2§ क्रि०वि०, सचमुच ।

सत्यस्य 2·15·9

"सत्यसंकल्पस्य", सा०, सत् + यत्, ष०वि०, ए०व०, सत्यका/यथार्थ का ।

सत्यमित् 8·93·5

सत्यम्- इत् । - "यथार्थमेव ", सा० ,

सत्यम्- इत् - सचमुच, क्रि०वि० ।

सत्या 2·15·1

" सत्यानि", सा० ,सत्+ यत् = प्र०वि०, ब०व०, सुप् लोक होकर

सत्यानि > सत्या ।

सत्यराधाः 5·40·7

" सत्यधनश्च ।" सा०,

सत्यं राधो यस्य स, बहु० समा०, सत्य, ✓ राध् अस्+ क्विप्, प्र०वि०,

ए०व० ।

सत्वनाम् 8·96·12

" संभक्तौ ववनिप् । संभजमानानां भटानां । यद्वा स्तुति हविर्भिवा संभक्तृणां यष्टृणां केतुमात्मानः प्रज्ञापकं तेषां पूजनीयमिति वा मन्ये । सा०, सद्- वन् = सत्वन्, पु०, ष० वि०, ब० व्योदा । § सद् - व § नपु० , सद्भाव § अन्यत्र § ।

सत्वभिः 8·45·3

" आत्मीयैर्बलैः ," सा० ,

" सत्वन्" तृ० वि०,ब०व०, विशे०, अपने बलों से,।

सत्वने 8·45·21

" धननिम दानशीलाय", सा० , " सत्वन्", च० वि० , ए०व० ," दान-शील के लिए ।"

सद्यः 8·12·4

" तदानीमेव ", सा० , क्रि० वि० , तुरन्त, अद्यतन, शीघ्र ।

सधमादा 8·93·24

" इन्द्रेण सह हविर्भिस्तर्पयितव्यौ । यद्वा। संग्रामे सह माद्यन्तौ सह+ ✓ मद्+ णिच्+ य, प्र० वि०, द्वि०व० , विशे०, संग्राम में साथ- साथ प्रसन्न होने वाले ।

सधस्थे 8·45·20

" यज्ञे ", सा० , सध + ✓ स्था, स० वि०,ए०व० ।

✓ सन्

सनद् 1·100·6

" वनू षण संभक्तौ " लेटि अडागम: । सा०,

✓ सनू, लेट्, प्र०पु०,ए०व० ।

✓ सनू देना, प्राप्त करना,

सनुयाम् 10•119•1

" स्तोतृभ्य: प्रयच्छामि । षणु दाने । तानादिक: । सा०,

✓ सनू,वि०लि०, उ०पु०, ए०व० ।

सनय: 1•100•13

" धनस्यदानानि"। सनोतेभावे औणादिक इप्रत्यय: , ✓ सनू+ इ=

पु०वि०, ब०व०, विशे० , धन का दान ।

सना 8•45•25

" सनातनानि ," सा०,

सनू+ आ= सना, विशे०, पुराना ।

सनिता 1•100•9

" प्रदानशीलोभवति । षणुदाने । ताच्छीलिक: तृनू । हविष्प्रदातॄणामिव

स्तोतॄणामपि धनं प्रयच्छतीत्यर्थ: । " सा०,✓ सनू + तृनू = पु०

वि०, ए०व० ।

सनीळेभि: 1•100•5

" समाननिलयैर्मरुद्भि: सह । समानं नीळं येषां ते सनीळा: ।

समानस्यच्छन्दसीति सभाव: ।" सा०,तृ०वि०, ब०व०,बहुव्री० समा० ।

सप्तगुम् 10·47·6

सप्त+ गु, बि०वि०, प०व०, विशे० , सात गायों या वृषों वाला ।

सप्तमातरम् 8·96·1

" सप्तसंख्याका: जगतां निर्मात्र्य: ", सा०,

सप्त- मातृ = पु०वि०ब०व०, सात जगत्निर्मात्री नदियाँ ।

सप्तरश्मिम् 6·44·24

" सप्तरश्मिभि: किरणैरुपेतं सप्ताश्वं सप्तचक्रं वा । " सा०, सप्त - रश्मि, बि०वि०, प०व० ; विशे० ।

रश्मि- अश् व्याप्तौ + √ मि: >रश् (उणा० 4/ 46) रश्मि का अर्थ किरण एवं रज्जु दोनों है ।

सप्तरश्मि- सायण के अनुसार सात रश्मियों वाला । तै० आ० में सात पर्जन्य कहे गए हैं - वराह, स्वतपस, विद्युत, महस्, धूपि श्वापि तथा गृहमेधस् ।

मैकडोनल के अनुसार इसका अर्थ" सात नायों वाला ।" उनके मत में इसका सम्भावित अर्थ दुर्धर्ष, दुर्घट, अप्रतिहत, अव्याहत है ।

पीटर्सन- उन सात रज्जुओं से युक्त जो उसे नेतृत्व प्रदान करती हैं ; प्रकाशित करती हैं ।

√ सपर्य- सम्मान करना, नाम० ,

सपर्यत: 8·93·12

" पूजयत: ", सा०,√ सपर्य्, लट्, प्र०पु०, द्वि०.व०, ।

सपर्यन् 8·40·8

" पूजयन् ", सा०,√ सपर्य + शतृ, प्र०वि०, प०व० , पु०, पूजा करता हुआ।

सपर्यन्ती 8·12·10

" पूजयन्ती ", सा०,√ सपर्य+ शतृ + स्त्री०, प्र०वि, प०व०, विशे०, पूजा करती हुई ।

समजाति- 1·100·41

समुऽअजाति । " संगच्छते " " अजगतिक्षेपणयो: " लेटि आडागम:। सा०, सम् + √ अज्, लेट् , प्र०पु०, प०व० ।

समदनस्य 1·100·6

" संग्रामस्य " " मदी हर्षे " अधिकरणे ल्युट् । सहस्य स: संज्ञायाम् " ≬ पा०सू० 6·2·78 ≬ इति सभाव: । सह माद्यन्त्यस्मिन्निति समदन: संग्राम: । सा०, स + √ मद् + ल्युट्, ष०वि०, ए०व०, सं०, संग्राम, युद्ध ।

समानम् 8·45·28

" साधारणमिव ", सा० , द्वि०वि०, ए०व०, द्वि०वि०, वधी, सम, साधारण,।

समीची 10·24·4

" परस्परं संगतौ " ≬ । ≬ सम्+ √ अन्च् + ई = स्त्री०, परस्पराभिमुख, आमने सामने, अनुकूल ; प्र०वि०, प०व० ।

§2§ सम्+ ईयु + ई = स्त्री०,एक देवी § अन्यत्र § ।

समीच्यो: 10·24·5

" परस्परेण सुयुक्तयोरश्व्यो: " सा० ,समीची+ ष०वि०, द्वि०व०,

सम्मुख गमन करने वाली परस्पर घर्षणशील ।

समीचीनासो 8·12·32

" संगता स्तोतार: ", सा०,

" समीची " प्र०वि०,ब०व०,§ वैदिक रूप § साथ-साथ स्तुति करने वाले

समुद्रम् 7·55·7

§1§ सम्+ उद् द्रु § गतौ§ + ड § पा०3·2·101§

§2§ सम्- मुद् § प्रीतौ हर्षे च § + रक् § स्फायितञ्चि०§

§3§ सम्+ उदक + र § मत्वर्थीय§

सम्+ उन्दी § क्लेदने,भीगोना, गीला करना,:§+ रक् § द०उ०

स्फायितञ्चि 8/39, पं०उ० 2/13 सि० कौ० 2/178

समुद्र: कस्मात् - समुद्रवन्ति अस्मादाप:, समभिद्रवन्ति एनमाप:

सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि , समुदको भवतीति वा, समुनत्तीति वा

निरु०2/3 दे० देवराजयज्वा , नि०-1·3·15·§

समुद्रात् 7·55·7

"अम्बुधे: ", सा० ," समुद्र",पं० वि०, ए०व०, समुद्र से ।

सश्चति 1·101·3

वचनव्यत्यय: ।। गच्छति । सश्चतिर्गतिकर्मा इन्द्रेणानुशिष्टा

प्रवहन्तीत्यर्थ: । सा०,✓ सश्,लट्, प्र०पु०, ए०व० ।

सश्चिरे 1·84·12

सिषेविरे ज्ञायन्ते । सश्च गतौ । व्यत्ययेनात्मनेपदम् । सा0,

✓ सश्, लिट्, प्र0पु0,ब0व0 ।

सम्राट् 1·100·1

" ईश्वर:", सा0 § मोराजि सम: क्वौ § पा0सू0 8·3·25§ इति राजतौ क्विबन्ते उत्तरपदे समो मकारस्य मकारादेश: मकारस्य च मकारवचनमनुस्वार बाधनार्थम् । " सा0,

सम्+ राज्-क्विप्, प्र0वि0,ए0व0, राजा, ईश्वर ।

संसत्सु 8·45·25

" यज्ञेषु सभासु", सा0,✓ सम्- सद् + क्विप्, स0वि0ब0व0, सभाओं में, यज्ञों में ।

संहिता 8·96·2

" संहितान्येकत्र संधीभूतानि", सम्+✓ धा - क्त, एकत्रित, धा > हि आदेश ।

सयावरी 1·84·10

" सह यान्त्यो गच्छन्त्य: सत्य: " " याप्रापणे" । " आतो मनिन्" इति वनिप् ।" वनो रच" इति ङीब्रेफौ । सा0,

स+ ✓ या - वनिप्+ ङीप्+ रेफ , प्र0वि0,ब0व0, विशे0, साथ-साथ जाने वाली ।

सरस्वतीवतो: 8·38·10

" स्तुतिमतो:" सा0, सरस्वती+ वतु् , विशे0, ष0वि0, द्वि0व0,

सरस्वती से युक्त ।

सरीसृपम् 10·162·3

"सर्पणशीलं च गर्भम्", सा०, सरी-सृप् - अ, विशे०, नपु०, पु०, सर्पणशील-

गर्भ, द्वि०वि०, ए०व० ।

सरो 8·45·24

सर:, प्र०वि०,ए०व०, प्रवाह , तालाब, विशे० ।

सर्वम् 8·93·4

" सर्व० ", नपु०, द्वि०वि०, ए०व० , सबको ।

सर्वा: 7·55·2

'सर्वा', द्वि०वि०, ब०व०, स्त्री० ।

सर्वान् 8·93·6

" सर्व ," पु०, द्वि०वि०, ब०व० ।

√ सस्- सोना, अदादि०, परस्मै० ।

सस्तु 7·55·5

" स्वपतु", सा० √ सस्, लोट्, प्र०पु०, ए०व० ।

सस्तन्तु 7·55·5

" स्वापयन्तु", सा० √ सस्, लोट्, प्र०पु०,ब०व० ।

ससवान् 6·44

ससमित्यन्ननामं । हविलक्षणान्नोपेत: स छन्द: । "

{1} √ सस् + मतुप् {धनवान् {2} सन् + क्वसु {प्र०वि०,ए०व० } ।

सासहि: 8·12·9

सासहि: । " शत्रूणामभिभवनशील इन्द्र: । " सा०,

✓ सह्+ कि, लिट्, प्र०पु०,ए०व० ," छान्दस दीर्घ" ।

ससहि: 1·100·3

" शत्रूणामभिभविता एवं भूतमरूत्वान् । " षह अभिभवे " " उत्सर्गश्छन्दसि" इति वचनात् आदृगमहनजन: किकिनौ लिट् च ‖3·2·171‖ आदन्तादृवर्णान्तादृगमादेश्च किकिनौ स्तस्तौ च लिड्वत् ।

✓ षह्+ किं , लिट् , प्र०पु०,द्वि०व० ।

सस्नी 8·38·1

" शुद्धौ युवाम्", सा०, सह स्नातौ सह+✓स्ना + ई,प्र०वि०,द्वि०व०,

या स + स्ना + इ = सस्नि ।

ससह्वान् 1·100·5

" अभिभूतवान् ।" षहअभिभवे" । लिट: क्वसु अभ्यासदीर्घत्वं छान्दसम् ।" सा०,

षह् + लिट् + क्वसु ‖ छान्दस दीर्घ‖ ।

सह: 1·84·5

" सहस्विनं बलवन्तं तमिन्द्रम् । लुगकारेकाररेफाश्च वक्तव्या: पा०सू० 4·4·128·2‖ इति मत्वर्थीयस्य लुक् ।

सहस् - विनि - सहस्विन् {सुपां सुलुक्॰} से लोप होकर सह:
वैदिक रूप, द्वि०वि०, ए० व० ।

सहसा 6·44·22

" बलेन ", सा० " सहस्", तृ०वि०, ए०व० ; विशे०, बल से ।

सहस्रचेता: 1·100·12

" बहुविधज्ञान: ", सा०, सहस्र- चेत्- अस्, प्र०वि०, ब०व०, विशे०, पु०,
विविध ज्ञान सम्पन्न ।

सहस्येन: 7·55·7

" अभिभविता ", सा०, सहस्- येन , तृ०वि०, ए०व०, शक्ति से,
पराक्रम से, ।

सहस्रबाहवे 8·45·25

" सहस्रबाहो: ", सा०, सहस्र- बाहु, ष०वि०, ए०व०, पु०,
बहुव्री० समा०, "व्यत्यय", विशे० , सहस्रबाहु{ बल } वाले
{इन्द्र} ।

सहस्रशृङ्गा: 7·55·7

"सहस्रकिरण:", सा०, बहु०, समा०, प्र०वि०,ए०व०, पु०,विशे०, हजार किरणों
वाला ।

सहस्रा 8·45·12

" सहस्राणि", सा० ," सहस्र", नपु०, द्वि० वि०,ब०व० , सुपां सुलुक्॰ से सुप्
लोप होकर सहस्रा, वैदिक रूप ; हजारों को ।

सहस्रिणम् 8·93·21

" सहस्रसंख्याकम् धनं", सा०, " सहस्र" नपु०, द्वि०वि०, ए०व० ; हजार संख्यासूचक धन ।

सहस्रम् 8·12·8

" सहस्रसंख्याकान्", सा०, " सहस्र", नपु०, द्वि०वि०, ए०व०, हजार को ।

सातौ 6·34·9

" संभजने", सा०, ' षणु दाने " सातावित सप्तमीनिदेशाद्वर्तमान इति शेषः । (स्कन्द०)

✓ षणु> षा+ ति, साति, स०वि०, ए०व०, वितरण, विभजन.

(के समय) में ।

सायकम् 1·84·11

शत्रूणामन्तकारकम् । षो अन्तकर्मणि । ण्वुलि आत्वे युगागमः ।

साय्- अ-क, पु०, सेना, द्वि०वि०, ए०व० ।

सारमेयः 7·55·3

सरमा नाम देवीशुनी तस्याः कुलोदभवः । सरमायाः अपत्यं सारमेयः

प्र०वि०,ए०व० ; " सरमा" का वंशज ।

✓ सिध् पीछे हटना, दूर करना, भ्वादि०, परस्मै० ।

सेधा 6·44·9

" सेधतिर्गतिकर्मा । इह तु सामर्थ्यादित्यर्थः जहि । अथवा सेधति-गतिकर्मैव । अन्तर्णीतण्यर्थस्तु । सेधय गमय अपकालयेत्यर्थः ।" स्कन्द०,

"निषेध,निवारय", सा०, निषेध-वेङ्कट ✓ सिध्, लोट्, म०पु०, ए०व० ।

√ सिध्-सफल होना, दिवादि०,परस्मै० ।

सिन्धवः 8·46·1

" स्यन्दमाना गङ्गाद्या नद्यः यद्वा सर्पणशीलाः सिन्धवः सरितः", सा०, (1) सिन्धु + ऊ.पु०, स्त्री०, (सर्पणशील नदियाँ)

(2) गङ्गा, यमुना आदि प्रमुख नदियाँ ; प्र०वि०,ब०व० ।

सिन्धुम् 8·12·3

" स्यन्दनशीलां नदीं समुद्रं वा," सा०, सिन्धु – ऊ पु, द्वि०वि०, ए०व०, नदी या समुद्र को ।

सिन्धूनाम् 6·44·21

" स्यन्दनशीलानां च नदीनाम् ", सा०, सिन्धु+ ऊ,ष०वि०,ब०व०, नव नदियों का ।

असिन्वन् 8·45·38

"न बध्नन्" ,सा०, √ सिव् बन्धने, अ+ शिव् + शतृ, = असिन्वन्(न बँधे हुए) यद्वा √सिव्+ लङ्,प्र०पु०, ब०व० ।

सुकरम् 8·80·6

"सुखेन कर्तव्यम्", सा० ,सु+ √ कृ- अ, प्र०वि०,ए०व० ; सरलता से करने योग्य ।

सुतः 6·44·1

" अभिषुतः सन्", सा०, " षु अभिषवे", सु+ क्तः , प्र०वि०,ए०व०, अभिषुत होने पर ।

सुतम् 8·45·22

" अभिषुतं सोमं ", सा०,

"षु अभिषवे", सु+ क्त , द्वि० वि०, ए०व०, अभिषुत सोमरस को ।

सुतस्य 2·15·1

" अभिषुतं सोमम्", सा०, सुत्, ष० वि०, ए०व०, अभिषुत सोमरस का।

सुतानाम् 6·44·13 , 6·45·20

"कर्मणि षष्ठी" सुतानाभिषुतान् सोमान् । सा०,

" अभिषुतानाम् सोमानाम् एकदेशम् ॥ स्कन्द०,

✓ षु+ क्त , " सुत", ष० वि०, ब०व०, सोमरसों का ।

सुते 8·45·22 , 8·93·20

" सोमेऽभिषुते सति", सा०, सुत, स० वि०, ए०व०, अभिषुत होने पर।

सुता: 8·93·22

" अभिषुता:", सा०, अभि+✓षु + क्त, प्र० वि०, ब०व० ।

सुतावन्त: 8·93·30

" अभिषुतसोमवन्तो वयम् ", सा०, सुत्- वत् , प्र० वि० , ब० व० , विशे०, निचोड़े गए सोमरस से युक्त ।

सुदक्षम् 10·47·4

" शोभनबलम्", सा०, सु-+ दक्ष, विशे०, पु०, अतिकुशल, शक्तिमान्, द्वि० वि०, ए०व० । ✓ सु निचोड़ना, स्वादि० ।

सुन्विरे 8·93·6

" छान्दसि द्विर्वचनस्यविकल्पितत्वादत्र द्विर्वचनाभाव: । ", सा०, ✓ सु + लट्, आत्मने०, प्र०पु०, ए०व० । ॥ छान्दस ॥

असुवन्त:

असुन्वत: 1·101·4

सुन्वतां यागानुष्ठातॄणां विरोधिनः ।"✓ सु + शतृ – सुन्वत्, द्वि० वि०,ब०व० , न सुन्वतः इति असुन्वतः, पु०,विशे०,} यज्ञ में अभिषवन न करने वाले ।

सुन्वत: 8·38·8

सोमाभिषवं कुर्वतो यजमानस्य", सा०,✓ सु + शतृ,प्र०वि०, ए०व०,सोमाभिषव करते हुए ।

असुष्वीन् 6·44·11

" अनभिषोतॄन् यजमानान्",सा०, अ+✓ षु + विन्, द्वि०वि०,ब०व०, अभिषवन करने वाले ,नञ् समा० ।

सुन्वानस्य 8·80·3

✓ सु > सुन्वान्, ष०वि०,ए०व०,सोमभिषव करते हुए } यजमानों} का ।

सुवितानि 8·93·29

" सुष्ठ्वीयते प्राप्यते योष्विति सुवितानि मङ्गलानि ।
सुपूर्वादिते क्त प्रत्यये उवङादेशः । " सा०, सु+ ✓ वी+क्त,सुवित्, प्र०वि०,ब०व०,नपु० , कल्याणकारीधन,✓ वी-उपभोग करना, अदादि० ।

सूकर: 7·55·4

" वराह:",सा०, सूकरः,प्र०वि०, ए०व० , वराह, सं० ।

सूकरस्य 7·55·4

" वराहस्य",सा०,द्वितीयार्थे षष्ठी ।

सूकर, ष०वि०, ए०व० ; सूकर को ।

✓ सू प्रसवने, तुदादि० ।

प्रसू: 2·13·7

" प्रसूता: प्रसूयमाना वा ।" सा० ,

प्र+ सू + क्विप्, स्त्री०, उत्पन्न करने वाली ।

8·12·7 सूर्यो न " सर्वस्य प्रेरक आदित्य इव ", सा०,

✓ सृ गतौ या ✓ षू प्रेरणे + क्यप् , " राजसूयसूर्य · · · ",

(पा० 3·1·14) सरतेर्वा, सुवतेर्वा (निरु० 12/2) सूर्य शब्द

सुवीर्य से भी व्युत्पन्न माना गया है - तं इन्द्रम् देवा अब्रुवन् सुवीर्यो

मर्या यथा गोपायद् इति ।तत् सूर्यस्य सूर्यत्वम् (तै० ब्रा० 2/2/10/4)

बृहद्देवता में सु+ ईर (क्षेप फेंकना, प्रेरित करना) भी प्राप्त होता है

" सूर्य: सरति भूतेषु सुवीरयति तानि वा ।

सु ईर्यत्वाय यात्येषु सर्वकार्याणि सन्दधत् " ।। 7/128

अनेक आधुनिक विद्वान् सूर्य शब्द की निष्पत्ति प्रकाश से मानते हैं, इस

दृष्टि से गोपथ ब्रा० तुलनीय- " एष ह वै सूर्यो भूत्वामुष्मिल्लोके स्वरति,

(गो० 5·5·14)

सूर्य: न, प्र०वि०, ए०व०, सूर्य की भाँति, सं० , पु० ।

सूर्यस्य 8·12·9

" सर्वस्यप्रेरकस्यादित्यस्य ", सा०,

सूर्य, ष०वि०, ए०व० ; पु०, सं०, सूर्य के ।

सूर्ये 6·44·23

" सूर्यमण्डले", सा०,

" सूर्य", स०वि०, ए०व०, पुं०, सं०, सूर्यमण्डल के मध्य में ।

सुरीन् 6·44·18

सुरीन् " स्तोतृन्", सा०, " सूरि", वि०वि०ब०व०, पु०, विशे०, वीर, बहादुर, स्तोता गणों को। ✓ सृज-बाहर निकालना, तुदादि०→।

सृजामि 8·45·22

✓ सृज् लट्, उ०पु०, ए०व० ।

ससृज्महे 8·98·7

" उपसृजाम:," सा०, ✓ सृज्, आत्मने०, लिट्, उ०पु०ब०व० ।

असृक्षत् 8·93·23·

वैदिक

" विसृजन्ति", सा०, ✓ सृज्, लुङ् प्र०पु०ब०व०, {लट् के अर्थ में} प्रयोग ।

असृजत् 2·15·3·,4

"अनायासेन ता: नदी सृष्टवान् ।" सा०,

✓ सृज् , लङ् , प्र०पु० ,ए०व० ।

सोतवे 1·28·1

" अभिषवार्थम्", सा०, " षुञ् अभिषवे " तुमर्थे सेसेन्" इति तवेन्प्रत्यय: । नित्वाद्युदात्तत्वम् । सा० ✓ षुञ् + तवेन् च०वि०, ए०व०, सोमचुवाने हेतु ।

सोम: 6·44·1, 6·44·24

" सोम", प्र०वि०, ए०व०, पु०, सोम लता का रस या मादक पेय ।

सोमेभि: 8·38·20

"सोम", तृ०वि०ब०व०, पु०, सोमनात्मक मादक पेयों के द्वारा ।

सोमानाम् 8·93·33

" सोम", ष०वि०, ब०व०, सोमरसों का ।

सोमपातम: 8·12·1

" अतिशयेन सोमस्य पाता", सा०, सोम- √ पा+ तमप्, प्र०वि०,

ए०व०, पु०, विशे०, अतिशयमात्रा में सोम पीने वाला अर्थात् [इन्द्र] ।

सोमपीतये 8·38· 8·93·20

" सोमपानाय तदर्थम्", सोम √ पा+ ति, च०वि०, ए०व० ।

" ए " वैदिक प्रत्यय । सोमपान के लिए ।

सोमास: 8·93·6

" सोमा: ", सा०, सोमरसों से युक्त ।

"सोम", प्र०वि० , ब०व०, सोमास:, वैदिक प्रयोग, तु०-जनास: ।

सोमिन: 8·45·16

" अभिषुत सोमा:" सा०, सोम्+ इन्, प्र०वि०, ए०व०, विशे० , पु० ।

सोम्य 8·93·8 " सोमार्हो भवति ," सा०,
सोम्- य, प्र०वि०ए०व०, सोमपान योग्य, विशे०, पु० ।

सौमनसाय 6·44·16

" सुमनस्त्वाय ", सा०, सौमनस , नपु०, च० वि०,ए०व०, सौहार्द-

हेतु , प्रसन्नता हेतु ।

अस्तभायत् 2·15·02

इन्द्रऽस्तभ्नात् । अनवलम्बनस्य तस्यावस्थापनमकरोदित्यर्थः ।

✓ स्तम्भु इति सौत्रो धातुः क्र्यादिः । लङि व्यत्ययो बहुलम्"

इत्यहावपि शायजादेशः ।" सा०,

✓ स्तु-स्तुति करना ।

अनुष्टुव् 8·12·15

अनु+✓स्तु, लट्, प्र०पु०,ब०व० ; " नु स्तुतौ । कुटादिः ", सा० ।

स्तवाम 8·96·6

" स्तोत्रं " करवाम् " सा०,

✓ स्तु , लेट्, म०पु०, ब०व० ।

स्तुहि 8·96·12

✓ स्तु, लोट्, म०पु०, ए०व० ।

स्तेनम् 7·55·3

" प्रच्छन्नधनापहारी स्तेनः ", सा० ," स्तेन", द्वि० वि०,ए०व० ,

पु०, प्रच्छन्न चोर , तस्कर ।

सुष्टुतिम् 8·96·12·, 8·38·6

" शोभना स्तुतिम् ", सा०, सु+ ष्टु सु +✓ स्तु + ति , द्वि० वि० ,

प०व०, शोभन स्तुति को ।

स्तोकृ-य: 8·93·25, 27·26, 8·93·19

✓ स्तु + तृ, विशे०, पु०, च०वि०पु०व० । स्तोताओं हेतु ।

स्त्रियानाम् 6·44·21

" संधीभूतानां स्थावरजङ्गमात्मनां प्राणिनाम्", सा०, ✓ स्ती

-✓ स्त्या, स्त्री०, ष०वि०ब०व०, एकत्रित जलों का, स्थिर जलों का ।

स्तोतॄन् 7·55·3

✓ स्तु - तृ०, द्वि०वि०ब०व०, स्तोताओं को ; पु०, विशे० ।

स्तोत्रम् 8·45·21

✓ स्तु > स्तो-त्र,पु०वि०प०व०, मन्त्र , स्तुति , गीत ।

स्तोमम् 8·12·8

" स्तोम", द्वि०वि०, प०व०, पु०, मन्त्र , गीत ।

स्तोमै: 8·12·11

" स्तोत्रै: " सा०, स्तोम , तृ०वि०ब०व०, स्तोत्रों के द्वारा ।

स्तोमेभि: 8·12·23

" स्तोम", तृ०वि०ब०व०पु०शे०, स्तुतिगीतों के द्वारा ।

स्तौलाभि: 6·44·7

" स्थूलाभि: प्रवृद्धाभि: ", सा०, स्तौला, तृ०वि०ब०व०, स्त्री०,

स्थूलों के द्वारा ।

✓ स्तृ-बिछाना, बिखेरना , क्यादि० ।

स्तृणन्ति 8·45·1

√ स्तृ,लट्, प्र०पु०,ब०व० ।

उपस्तृणीषणि 6·44·6

" उपस्तरणीयम् । उपेत्य विस्तरणीयम् । " सा०, उप√ स्तृ+ क्षणि तुमर्थक वैदिक प्रयोग,प्र०वि०,ए०व०, बिखेरने के लिए ।

स्तीर्णम् 8·93·25

√ स्तृ- क्त, प्र०वि०,ए०व० । स्तीर्ण>स्तीर्णम्, बिछा हुआ । है ।

स्त्रियः 7·55·8

स्त्री, प्र०वि०, ब०व०, स्त्री०, सभी स्त्रियाँ , नारियाँ ।

अस्थुः 6·44·20

" अतिष्ठन्त", सा०,√ स्था, लुङ्, प्र०पु०, ब०व० ।

प्रतस्थुः 2·15·5

प्र√ स्था, लिट् , प्र०पु०,ब०व० । " प्रतस्थिरे ", सा०,√ स्था,खड़ा होना,भ्वादि० ।

स्थिरे 8·45·41

" स्वमवस्थे पराभूतम् " √स्था + किरच्, स०वि०,ए०व०, दृढ़ , टिकाऊ, स्थिर , मजबूत, नपु०, विशे० ।

उदस्नाय 2·15·5

उद्-√स्ना,च०वि०,ए०व०,स्नान के लिए ,

√स्ना- स्नान करना, अस्नातृन्- " स्नातुमशक्तान् तरणासमर्थान्पीन् "सा०

✓ स्ना + तृन्, द्वि०वि०,ब०व०, न स्नातृन् इति अस्नातृन्, नञ्
समा०, स्नान करने में असमर्थ ऋषियों को ।

✓ स्पृह् - उत्सुक होना ,

स्पार्हम् 8.45.40

" स्पृहणीयम्", सा०,✓ स्पृह्+ अण्, द्वि०वि०,ए०व०, विशे०,
स्पृहणीय धन को ।

✓ स्फुर्,झटका लगना,तुदादि० ।

स्फुरत् 1.84.8

" स्फुर् संचलने ।" "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति लुङर्थे लङ् ।
बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि इति अडभावः ।

✓ स्फुर्, लङ्,प्र०पु०,ए०व० ; अडभावः अस्फुरत् > स्फुरत् ।

✓ स्व् ✓ स्वर्,शब्द करना,भ्वादि, परस्मै० ।

अस्वरन् 8.12.32

" प्रकर्षेणास्तुवन्", सा०,✓ स्वर्,लङ्,प्र०पु०,ब०व० ।

स्वधापते 6.44.1

" स्वधाया अन्नस्य सोमलक्षणस्यपालक", सा०," अन्नां स्वामिन्",
स्कन्द०, स्वधा+ पति, स्वधापति > स्वाधापते, सम्बो० ए०व०,
षष्ठी तत्पु० समा०, पु०, विशे०,हव्य का स्वामी, अन्नका स्वामी ।

स्वर्णरम् 8·12·2

स्वः नरम् " सर्वस्यनेतारं सूर्यं च " सा०,

स्वः + नरम्, द्वि०वि०, ए०व०, सबको ले जाने वाला,

नेता, नेतृत्व करने वाला { सूर्य " } ।

स्र्वभानुः 5·40·5

" असुर विशेषः । " पु०वि०,ए०व०, पु०, स्वर्भानु नामक राक्षस ।

स्वरुः 8·45·2

यज्ञीय स्तूप ; स्वर- उ = स्वरु., पु०,प्र० वि०ए०व० ।

स्वराज्यम् 8·93·11

" स्वभूतं राज्यं च । यद्वा । स्वशब्देन स्वर्गोऽभिधीयते । स्वर्गस्वा-

मित्वं च न हिंसन्ति । " सा० स्व+ राज् + य, द्वि०वि०, ए०व० ।

{1} अपना राज्य

{2} स्वर्ग का राज्य ।

स्वस्य 6·44·22

"स्व", ष०वि०,ए०व०,अपना ।

स्वाभिः 6·44·3

" आत्मीयैः ", सा० ," स्वा", स्त्री०,तृ०वि०,ब०व० ; अपनी { रक्षाओं }

से ।

स्वादुः 6·44·21

" मधुरः ", सा०,स्वाद + उण् = स्वादु,प्र०वि०,ए०व० , स्वादिष्ट,

स्वादयुक्त ।

स्वादो: 1·84·10

"स्वादुभूतस्य रसयुक्तस्य", सा0, ✓ स्वद् ✓ स्वाद्+ उष्, ष0वि0, ए0व0, स्वादिष्टका ।

स्वर्षा: 1·100·13

" सुपूर्वात् अर्तेः विट् । सुष्ठु ऋच्छति गच्छतीति स्वरुदकम् । तत्सनोतीति स्वर्षाः । " षणु दाने " । जनसनखनक्रमगमो विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् इति आत्वम् ।" सनोतेरनः" पा0सू0 8·3·108 इति षत्वम्।" सा0, स्वर्षा- ष0वि0, ए0व0, शोभन उदक का ।

स्वर्षाम् 10·47·5

स्वर- षा (√सन्) प्रकाश पाने या देने वाला, द्वि·वि·, ए·व· ।

✓ स्वप्-सोना, अदादि ~~द्वि0वि0, ए0व0~~ ।

स्वापयामसि·55·7

"नितरां स्वापयाम:", सा0 ✓ स्वप्+ णिच्, लट्, उ0 पु0, ए0व0 ।

स्वप्नेन 10·162·6

✓ स्वप्+ न, तृ0 वि0, ए0व0, स्वप्न से, निद्रा से ।

स्वप् 7·55·2

✓ स्वप्, लोट्, म0पु0, ए0व0 ।

स्रक्वेषु 7·55·2

" स्रक्व", स0वि0, ब0व0 ; ओष्ठ के कोटों में ।

स्रुवा 1·84·18

"जुह्वा" सावेकाव: इति विभक्तेरूदात्तत्वम् । §/ स्रु§ स्रु - आ = स्रुवा, स्त्री0,कड़छी , वम्मच विशेष ।

✓ हन्-मारना,अदादि0 ।

हन्ति- 10·162·3

✓ हन् , लट् , प्र0पु0,ए0व0 ।

जिघांसति 10·162·3

✓ हन्,सन्,लट्, प्र0पु0, ए0व0 ।

हन्मो 7·55·6

§ हन्म:§ " संहनाम संहतिर्निमीलनम् । निमीलयामेत्यर्थ: । सा0 ,

✓ हन्, लट्, उ0पु0, ब0व0 ।

निंहसि 8·12·1

"निहिनस्मि निकृष्टां हिंसां प्राप्यसि ।" सा0,✓ हन्, लट्, म0पु0, ए0व0 ।

जघान 6·44·14, 2·14·2

" हतवान्", सा0,✓ हन्, लिट्,प्र0पु0, ए0व0 ।

जहा 8·45·37

" जघान", सा0,✓ हन्,लिट्, उ0पु0, ए0व0 ; § वैदिक प्रयोग § ।

जहि 6·44·11

" मारय", सा0 , " विनाशय", स्कन्द0,✓ हन्, लोट्, म0पु0, ए0व0,परस्मै0 ।

जही 8·45·40

" हिन्धि," सा०,√ हन्, लोट्, म०पु०, ए०व०, छान्दस दीर्घ होकर,

जहि > जही ।

हन्ता 6·44·15

√ हन्, लुट्, प्र०पु०, ए०व०, परस्मै०।

जंघनामि 19·119·10

" भृशं प्रापयामि । हन्तेर्गत्यर्थस्य लोटि शपो लुभमावश्छान्दसः ।" सा०,

√ हन्, लेट्, उ०पु०, ए०व० ।

हन्ता- 8·98·6

" घातको भवसि", सा०,√ हन्+ तृच् - हन्तृ, प्र०वि०, ए०व० ।

हन्तवै 8·12·22

" हन्तुम् ", सा० ,"तुमर्थेतवेन्प्रत्ययः:",√ हन् + तवेन् = मारने के लिए,

तुमर्थक वैदिक प्रयोग ।

हन्तवै 8·96·5

" हन्तुमेव ", सा०,√ हन् - तवै, वैदिक तुमर्थक प्रयोग ; मारने के लिए ।

जघन्वान्,√ हन् + क्वसु, प्र०वि०, ए०व० ।

हन्त 10·119·9

हन्त इति संभावनायामनुज्ञायां वा संभावयाम्येतदनुजानामि । वा" सा० ,

अच्छा हो,।

हन्तो 8·80·5

" हन्तेत्यैतदादि मुख्यफ़ुदामान्त्रितेन समानम्", सा०, निपात , दुःख है, खेद है, विस्मयादि बोधक ।

हरी 8·12·25,26,27,28, 2·12·28, 8·93·24

" हरितवर्णवितन्नामकवश्वौ", सा०,

" अश्वौ", सा० ; "हरि", पु०पु०वि,द्वि०व० ।

हरय: 6·44·19

" अश्वा:", सा०, हरि; पु०,प्र० वि०,ब०व०,घोड़े,सं० ।

हरिभि: 8·93·31, 33

" अश्वै:", सह ", सा०,

" हरि", तृ०वि०, ब०व० , घोड़ों के साथ ।

हर्म्यम् 7·55·6

" प्रसादादिस्थावरात्मकं वस्तु जातं ", सा०,हर्म्य, द्वि०वि०, ए०व०,नपु०,भवन, किला, महल ।

हर्यता 8·12·28

" हर्यतौ कान्तौ । हर्य गतिकान्त्योः । भृमृदृशि°इत्यादिनौ-णादिकोऽतच् प्रत्यय: ।" सा०,

हर्- य>हर्य + अतच्, सुप् लोप, हर्यता>हर्यतौ ।

हवनश्रुतम् 8·12·23

" हवनस्याह्वानस्य श्रोतारमिन्द्रम्", सा०, हवन +√ श्रु + क्त , विशे०,पु०, द्वि०वि०, ए०व० ; आवाहन को सुनने वाला ।

हविषा 8·96·8

" हविष् + आ = तृ०वि०, ए०व०,हविष्, होमीय वस्तु से.।

हस्तम् 10·47·1

हस्त, हस्त, पु०,द्वि०वि, ए०व० ; हाथ ।

हस्त्यम् 2·14·9

" हस्ताभ्याम्", सा०,ष०वि०, द्वि०व० ; हाथों से ; " हस्त " ।

अजहुः 8·96·7

" त्यक्तवन्तः", सा०,✓ हा छोड़ना , जुहोत्यादि० परस्मै०,

✓ हा-त्याग करना, लङ्, प्र०पु०ब०व० ।

✓ हि-प्रेरित करना, स्वादि०, परस्मै० ।

हिन्वन्ति 1·84·11

" प्रेरयन्ति", सा०," हिविः प्रीणनार्थः इदित्त्वात् नुम् । "

✓ हि प्रेरित करना,लट्, प्र०पु०,ब०व०, परस्मै० ।

हिनोत 8·14·4

" प्रीणयत ।" हि गति वृद्धयोः " । स्वादिः । सा०,✓ हि

लोट् ,म०पु०, ए०व० ।

हिरण्यकेश्या 8·93·24

" हिरण्मयस्कन्धगतकेशवन्तौ", सा०,हिरण- य , नपु०,लि० , सुवर्णालंकार,

स्वर्णिम्, हिरण्य+ केश+ य = विशे०, पु०वि, द्वि०व०, सुनहरे केश

वाला, विशे०,पु० ।

√ हु-हवन करना, जुहोत्यादि०,परस्मै० ,

जुहोत 2·14·21

" जुहुत ।" हु दानादयोः । " लोटि " तप्तनप्तनथनाश्च" इति तबादेशः । √ हु ,लोट् ,म०पु० , ब०व० ।

√ हु, आह्वाने,भ्वादि० , जुहोत्यादि० ।

हूयते 8·82·5

√ हु आत्मने० कर्मवाच्य,प्र०पु०,ए०व० ।

हूयसे 8·82·4

√ हु,लट्, म०पु०, ए०व० ; आत्मने० ।

पुरुहूत 8·98·12

" बहुभिर्यजमानैराहूत",सा०,पुरु- √ हु + क्त , विशे०, प्र०वि०, ए०व० ; बहुत यजमानों द्वारा आहूत या बार- बार आहूत ।

अहुवे 8·30·9

" ह्वयामि",सा०,√ हु, लङ् ,सा० ,अडागम, उ०पु०, ए०व० ।

अहुवन्त -" आहूतवन्तः",सा०,√ हु ,आत्मने० लङ्,प्र०पु०, ब०व० ।

हवम् 8·82·6, 8·38·8

" त्वद्विषयमाह्वान" "सा०,√ हु-बुलाना, पुकारना,√ हवे,√ हव्+ अम्= हवम्,द्वि०वि०, ए०व०,आह्वानको, पुकार को ; पु० ।

हव्यम्- "हव्य", द्वि०पु०वि०ए०व० ; हवनीय सामग्री या हवन योग्य ।

हव्यानि 8·38·3

✓ हु, हव् - य = हव्य, द्वि0वि0, ब0व0 , हवनीय पदार्थों को, विशे0 ।

हव्यैभि: 10·24·2

" हव्यैः पुरोडाशादिभिश्च", सा0,✓ हव् - य>हव्य,तृ0वि, ब0 व0,होमीय वस्तुओं से ।

हव्यवाहम् 10·119·9

हव्य+✓ वह् + णिच्+ ल्यु, द्वि0वि0,ए0व0,हव्यवाहक को ।

हव्यवाहन: 10·119·13

" हविषां वोढा प्रापयिता अग्न्यात्मा सन्" " इत्येऽनन्त: पादम्" इति वह्निर्पुर् । भित्वादाद्युदात्त: । समासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर: । सा0 , हव्य+ वह्+ णिच्+ ल्यु>अन,हव्यवाहन, प्र0वि0प्र0व0,विशे0,पु0,हव्य को ले जाने वाले ।

हृदा 10·119·5

" आत्मीयेन मनसा", सा0,हृत्- आ= हृदा,तृ0वि0,ए0व0,हृदय से , मन से ।

हृत्सुअस: 1·84·16

" हृत्सु शत्रूणां हृदयेष्वस्यन्ति स्वकीयं पादं क्षिपन्तीति हृत्स्वस: । " असु क्षेपणे " । अस गतिदीप्त्यादानेषु" । "क्विप् च " इति क्विप् । "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति अलुक् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ।" सा0 ,

हृत्सु + √ अस् + क्विप्, द्वि0वि0, ब0व0, विशे0, शत्रुओं पर प्रहार करने वाले ।

हृदिस्पृशः 10·47·7

" हृदये स्पर्शन्त: । हृद्युभ्यां ङेरुपसंख्यानम्" इति सप्तम्या अलुक्।" सा0, हृदि+ स्पृश्+ क्विप् , विशे0, प्र0वि0, ब0व0, अलुक् तत्पु0, हृदय-स्पर्शी, दिली, अन्त:करण से बोली गई ।

जाहृषाणेन 1·101·2

" प्रहृष्टेन । हृष तुष्टौ । अत्र वृद्ध्यर्थः । छन्दसि लिट् । लिट: कानज्वा इति कानजादेश: ।" अन्येषामपि दृश्यते" इति संहितायामभ्यासस्य दीर्घत्वम् । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ।", सा0, √ हृष् कानच्, लिट्, § अभ्यास को छान्दस दीर्घ § ।

हवामहे 1·101·1, 8·93·30

" हृवमो लटि" ।" बहुलं छन्दसि" इति सम्प्रसारणम् । √ ह्वेञ् लट्, उ0पु0, ब0व0 ।

होतेव 8·12·33

होता - इव, √ हु + तृच् = होतृ, प्र0वि0, ए0व0 ।

होमा: 8·93·23

" होत्रका:", सा0, §1§ √ हु हो-त्रा, स्त्री0, होतृ- क्रिया, होम, प्र0वि0, ब0व0 ।

§2§ हु+ ष्ट्रन् = होत्र, प्र0वि0, ब0व0, होमकर्ता , पु0 ।

(3) होत्रका: मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, आग्नीध्रश्चैते ते होत्राशब्देन विवक्ष्यन्ते । होत्राशब्दो नित्यस्त्री-लिङ्ग: । होमकर्ता, हवनकर्ता।

होत्राभि: 8·12·20

" स्तुतिभि:", सा०,

हो- त्रा - स्त्री०, तृ०वि०, ब०व०, स्तुतिगीतों से, मन्त्रों से ।

****

चतुर्थ अध्याय

क. कुछ चुने हुए शब्दों की व्युत्पत्ति परक व्याख्या 477-486

ख. इन्द्र सूक्तगत छन्द 487-493

§क§ कुछ चुने हुए शब्दों की व्युत्पत्ति परक व्याख्या -

मैंने दूसरे अध्याय में 22 सूक्तों का जिसमें 329 मन्त्रों का प्रयोग है, हिन्दी अनुवाद किया एवं तीसरे अध्याय में उन्हीं सूक्तगत पदों पर व्याकरणात्मक व्याख्या की है शब्दों या पदों की संख्या तो बहुत विशद है। सब शब्दों पर विस्तृत रूप से लिखना बहुत श्रमसाध्य कार्य है, किन्तु कुछ शब्दों पर दूसरी विधा से भी कुछ लिखना चाहती हूँ। व्याकरण के अनुसार प्रत्येक पद का अर्थ निर्धारण दो प्रकार से किया जा सकता है।

§1§ व्युत्पत्ति निमित्त।

§2§ प्रवृत्ति निमित्त।

एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करना उचित होगा। यथा- " गो" शब्द का व्युत्पत्ति निमित्त अर्थ " गच्छतीति गौ" √ गम् से उणादि "डो" प्रत्यय करके " गो" शब्द व्युत्पन्न किया जा सकता है-इसका तात्पर्यार्थ होगा जो चलता है या चलती है। " गो" शब्द पुल्लिंग में भी है, और स्त्रीलिङ्ग में भी। यथा- अयं गौ, इयं गौ। पु० में इसका अर्थ बैल है, स्त्री० में गाय। §2§ अजतीति अजः § बकरा§ स्त्री० § बकरी §

§3§ अश्नोति अध्वानमिति अश्वः। -"जो मार्ग को व्याप्त करता है वह। यह व्युत्पत्ति निमित्त अर्थ होगा। प्रवृत्तिनिमित्त अर्थ से तात्पर्य प्रचलित अर्थ से है। ये दोनों अर्थपरस्पर पृथक्-पृथक् भी हो सकते हैं। यथा- §1§ गो शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त अर्थ है- जो चलता है या चलती है। §2§ प्रवृत्तिनिमित्त अर्थ है सास्नादिमद् पदार्थ।

प्रत्येक गतिशील प्राणी जो चलता है, उसे गो नहीं कहा जा सकता। इससे अव्यवस्था दोष व्याप्त हो जाएगा । अर्थ निर्धारण के समय कुछ तथ्यों का भी ध्यान रखना चाहिए –

§1§ अर्थ नित्यं परीक्षेत – अर्थ की परीक्षा करना प्रथम उद्देश्य है ।

§2§ विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति – शब्दों की वृत्तियाँ सन्देहास्पद भी होती हैं। यथा– प्रवीण, उदार, निरिस्त्रंश शब्द ऐसे ही हैं, जिनमें अर्थअनिश्चितता है । क्षीरस्वामीमेंभी इसका समर्थन किया है[क] ।

प्रवीण –

" प्रवीण पद का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है– प्रकृष्टो वीणायाम् इति प्रवीणः § अर्थात् जो वीणावादन में निपुण हो ।§ कालान्तर में यही अर्थ निपुण एवं निष्णात रूप में विस्तृत रूप से प्रचलित हो गया । निरूक्तकार का ध्येय शब्दों के मूल तक पहुँचना है – इस शब्द विशेष का मूल रूप क्या रहा होगा ? यह ज्ञात करना है ।

दूसरा शब्द है उदार– उद् और " आर " इन दो शब्दों के योग से बना है । आर का तात्पर्य है– दशा। इस प्रकार " उदार " का अर्थ हुआ जो दशा से परे है ऐसा पशु– यह संकेत मात्र से ही अभिप्राय समझ लेता

क• " प्रवीणोदारनिस्त्रिंशास्त्रयः शब्दा अनिश्चिताः" क्षीरस्वामी ।

है और चलने लगता है । बाद में उदार शब्द इस व्यक्ति विशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा जो मात्र संकेत से अभिप्राय समझ ले- उसके आगे प्रार्थना या विनय न करनी पड़े ।

प्रार्थी की भावभंगिमा से ही उसका उद्देश्य समझ ले इस प्रकार वह पुरुष उदार हो गया । इस स्थिति में न तो " आर " शब्द का कोई सम्बन्ध है न " उद्" का । इन दोनों से सर्वथा पृथक् अर्थ में प्रयुक्त है । प्रवृत्तिनिमित्त अर्थ *Liberal* हो गया । व्युत्पत्तिनिमित्त अर्थ इससे सर्वथा भिन्न है ।

निस्त्रिंश शब्द भी इसी श्रेणी का है । व्याकरण परक अर्थ इस प्रकार है- निर्गतानि त्रिंशतः अंगुलिभ्य इति निस्त्रिंशः । परन्तु इसकी इस प्रकार की व्युत्पत्ति इसमें निहित " त्रिंश" शब्द को 'त्रिंशत्' का रूप मानकर की जाती है । मूलतः इसकी निरुक्ति - जो प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होती है- तीन प्रकार की दशाओं से, आराओं से, अग्रभाग से, श्यति निरस्ति इति खड्गः । यह अर्थ निर्वचन से प्राप्त हुआ है। इसका बहुशः प्रचलित अर्थ खड्ग ही है । कुछ और शब्द उदाहरणीय हैं -

(1) कृपणः (कंजूस) मूलतः इसका अर्थ है कृपा दया के योग्य । यह √ कृप् से निष्पन्न है । वैदिक वाङ्मय में इसका प्रयोग प्राप्य है - " दुहिता कृपणं परम्" " कृपणाः फलहेतवः" आदि ।

किन्तु वर्तमान में इसका प्रचलित अर्थ इससे सर्वथा पृथक् सर्वसाधारण कर चुका है । - " यो न ददाति न भुङ्क्ते स कृपणः । " वास्तव में यदि गहराई से विचार किया जाय तो ऐसा व्यक्ति भी दया का पात्र है, क्योंकि इस संबंध में एक उक्ति प्रचलित है -

दानं भोगो नाशः तिस्रः गतयः भवन्ति वित्तस्य ।

यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीयागतिर्भवति ।

यात्य ﴾ = निन्दनीय﴿ यह.✓ या से निष्पन्न है यात्यत इति यात्यः । जिसको ले जाया जाय, जो स्वयं नहीं चल सकता और इसलिए जिसको शिविका में वहन करना पड़े । किन्तु इससे निन्दनीय अर्थ बाद में विकसित हो गया ।

उत्सिक्तः -

﴾ भरा हुआ, उछलता हुआ, अभिमानी﴿ मूलतः इसका अर्थ है - " जिस पर छिड़क दिया गया हो।" अब प्रश्न उठेगा किससे? प्राचीन वाङ्मय में इसका हल उपलब्ध है- रामायण में एक स्थानपर प्रयोग है - दर्पोत्सिक्तः । अहंकार से फूले हुए ।ो हम सामान्यतः केवल फूला हुआ कह देते हैं ।

तिरस्कृत: -

अपमानित﴿ इसका मूल अर्थ है- जिसे छिपा दिया गया हो । इसी से प्रचलित तिरस्करणी विद्या शब्द बना है । अपमानित अर्थ तो बाद में विकसित हुआ है । अवहेलना भी इसका प्रचलित अर्थ है ।

कुछ अन्य वैदिक शब्द द्रष्टव्य हैं -

पिता- के वाचक शब्द ऋक्संहिता में 4 मिलते हैं ﴾1﴿ पितृ ﴾2﴿ जनितृ ﴾3﴿ तत ﴾4﴿ ओपिण । पितृ शब्द ऋ0 में बहुशः प्रयुक्त है । कहीं-कहीं माता पिता के लिए साथ-साथ , पितरा, पितरौ , भी प्रयुक्त है।

सायणाचार्य ने अपने भाष्य में कभी पालक, कभी पालयिता अर्थ स्वीकार किया है। दयानन्द ने पालक, जनक, पितृवत् पालन निमित्तम् इत्यादि अर्थों द्वारा पिता शब्दगत उक्त धातुओं को ही स्वीकार किया है।

पाश्चात्य विद्वानों ने जैसे कीथ, मैक्समूलर इत्यादि ने इसे रक्षणार्थक √पा से निष्पन्न माना है। हलायुध कोष में " पाति रक्षति अपत्यं यः। पाति इति पिता। √पा + तृच् प्रत्यय (नप्तृनेष्टृत्वष्टृ उणादि सूत्र 2·95) से निष्पन्न है। ऋग्वैदिक विवरणों में पिता पुत्र के लिए सुप्राप्य है[क]। वह पुत्र को भुजाओं में उठाता है[ख]। गोद में बिठाता है[ग]। पुत्र उसका ध्यान आकृष्ट करने हेतु उसका पल्ला घसीटता है[घ]। अग्नि, इन्द्र, प्राण, इत्यादि कई देवों को पिता या उससे अधिक महत्वपूर्ण बताया गया है[ङ]।

जनितृ -

पिता के अर्थ में बहुत कम बार प्रयुक्त है। मातृ के लिए जनित्रि शब्द प्रयुक्त है। " द्यौ " के लिए एक साथ पिता एवं जनिता शब्दों के प्रयोग से ज्ञात होता है कि पिता का पर्याय भी है और विशेषण भी। पाणिनि के अनुसार " जनिता " छान्दस प्रयोग है। यास्क ने (नि० 4/21) में " जनयिता " अर्थ देकर इसका मूल स्वरूप बताया है। √जन् प्रादुर्भाव- अर्थक है, जिसमें

क· ऋ0 1·1·9

ख· ऋ0 9·3·8

ग· ऋ0 5·43·7

घ· ऋ0 3·53·2

ङ· ऋ0 4·17·17·, 8·46·4, 1·26·3, 7·32·19

णिच् एवं तृच् का प्रयोग करके " जनयिता" शब्द निष्पन्न किया जा सकता है। सायण, वेङ्कट स्कन्दस्वामी, सातवलेकर, दयानन्द आदि भाष्यकारों ने उसे उत्पादयिता, उत्पादक, जनयिता आदि अर्थ किया है (ऋ0 1·96·4)

कीथ ने इसे " सन्तान उत्पन्न करने वाले" अर्थ में पिता का वाचक माना है।

तत् – इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में मात्र 3 बार हुआ है। (ऋ0 8·91·5, 8·91·6) 8·112·3) । परवर्ती ग्रन्थों में इसका प्रयोग मिलता है। अथ0 (5·24·16) तैस0 3/2 5/3 तै0 ब्रा0 1·69·7 ऐतरेय ब्रा(5/14,7/15) ऐतरेय आरण्यक(1·3·3) और अथर्ववेद (8·4·77) में तत शब्द का प्रयोग सम्बोधन रूप में हुआ है। ग्रासमान महोदय इसे बच्चों की बोली " तत" मानते हैं, जिसे स्नेह से पिता के लिए प्रयुक्त किया गया हो। मोनियर विलियम्स के अनुसार यह शब्द संस्कृत शब्द " तात" की तरह स्नेहसूचक शब्द है। निरुक्त के अनुसार ऋकमन्त्र में प्रयुक्त " तत" नाम पिता या पुत्र दोनों का हो सकता है। ✓ तन् के कर्मकारक में क्त प्रत्यय लगाकर " तन्यतेय: स तत: पुत्र: " अर्थात् जो किया जाता है, जिसे पैदा किया जाता है वह पुत्र "तत" है और (2) अपादानकारक में "क" प्रत्यय लगाकर " तन्यते यस्मात् स तत: पिता" अर्थात् जिससे विस्तार पाता है, जन्म लेता है, वह पिता " तत" है।

ओणि – – ✓ ओण् (अपनयने" में इक् प्रत्यय लगाकर " ओणि"शब्द निष्पन्न हुआ, जिसका शब्दार्थ रक्षण या रक्षक है। ऋ0 1·61·14

माता- (ऋ0 8·89·11) (6·1·5) में प्राय: साथ- साथ उल्लेख होने से पहले पिता और फिर माता शब्द का प्रयोग है । निघण्टु में माता शब्द नदी नामों में (1·13" में पठित है और निरुक्तकारने इसे अन्तरिक्ष अर्थ में व्युत्पन्न किया है- " माता अन्तरिक्षम्, निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि (नि0 2·8) अर्थात् निस्√ मा (उत्पन्न करना) से माता शब्द निष्पन्न है । क्योंकि इसमें प्राणी उत्पन्न किए जाते हैं । भारोपीय धातु Me और अवेस्ता की ma जो नापने अर्थ में है - यहाँ इस√ मा से सम्बद्ध की जा सकती है ।

" मातृ"शब्द को दुर्गाचार्य ने" सर्वभूतनिर्मात्री " (नि0 4·14) अर्थ में माना है,जिसमें√ मा से उत्पन्न करना, बनाना, अर्थों का तात्पर्य है।हलायुध कोश में " मान्यते पूज्यते या सा । मान् पूजायाम् ।"

जनि/ जनी-

" जनि" पद√ जन् (प्रादुर्भावे) में इण् प्रत्यय (जनिघसिभ्यामिण । उणादि सूत्र 4·130) से (लगकर निष्पन्न है । जनि+ ङीष् (कृदिकारा- दिति ङीष् शब्दार्थ के आधार पर " जनि" वह पत्नी है,जो बच्चों को जन्म देती है । यद्यपि जनि या जनी अधिकतर " जाया" अर्थ में ही ऋक्संहिता में प्रयुक्त हैं परन्तु उत्पादयित्री के आधार पर इसे माता पद का वाचक भी कहा जा सकता है " जायते सन्ततिर्यस्मात् इति जनी " हलायुधकोश। उत्पत्ति- साहचर्याज्जनि: स्त्री इक् -(अमरकोशटीका 1·30) जन्यते स्वयं गर्भो वाऽस्याम् (वाचस्पत्यम्) इत्यादि निरुक्तियों द्वारा " जनि" का उत्पादयित्री स्त्री अर्थ निश्चित होता है । मोनियर विलियम्स के अनुसार " जनि " शब्द कोश में तो मातावाची है,किन्तु साहित्य में प्रयुक्त नहीं है ।

जनित्री -

पृ0 " जनितृ" के समान ही स्त्रीलि0 " जनित्री " का प्रयोग ऋक्‌मन्त्रों में लगभग 20 प्रयुक्त मिलता है । जनयित्री शब्द का ही वैदिक रूप है जनित्री शब्द ।

असुर -

ऋग्वेद में यह शब्द प्राणवान्‌ या शक्तिशाली के अर्थ में विशेष रूप से वरुण के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है । किन्तु परवर्ती ग्रन्थों में इसका ह्रास दृष्टिगत होता है । संस्कृत भाषा में " असुर " शब्द निरपवाद रूप से राक्षस नामवाची है एवं " सुर " शब्द का विलोम है ।

संस्कृत के उष्म स्‌ के स्थान पर फारसी में सदा ह्‌ वर्ण दृष्टिगत होता है । पारसी धर्म के सर्वश्रेष्ठ देव को अहुर (मज़्दा) कहा गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह संस्कृत असुर का ही ईरानी रूप है ।

" असुर " शब्द के आदि में निषेधार्थक अ लगा होने से " सुर " शब्दकाविपर्यय समझ लियागया । लोक व्युत्पत्ति के द्वारा सुर शब्द को स्वर (प्रकाश, स्वर्ग) से जोड़कर इसका तात्पर्यार्थदेव कर लिया गया । " असु" शब्दसे इसके उद्‌गम की पूर्णरूपेण उपेक्षा कर दी गई । ब्रा0 ग्रन्थों में भी सुर शब्द देवताओं के अर्थ में नहीं प्रयुक्त है । क्रमशः उपनिषदों तक आते-आते इसका प्रयोग देव अर्थ में प्रचलित हो गया ।

यह शब्द " असु क्षेपणे" से निष्पन्न है । इन्द्र के विशेषण के रूप में ऋग्वेद में इसका प्रयोग हुआ है । यथा- " त्वं राजेन्द्र, ये च देवा रक्षा

नृभ्यादृयसुर त्वमस्मात् ।" किन्तु अन्यत्र इन्द्र के विरोधी शत्रु रूप में भी असुर शब्द प्रयुक्त है । " असुन् राति ददाति इति असुर: ।" अर्थात् राक्षस इन्द्र के लिए ✓ रा दाने अर्थ में प्रयुक्त होगी। " असुन् राति ददाति इति असुर: । इन्द्र को रक्षार्थ ऋग्वेद में स्तुत किया गया है ।

देव –

✓ दिव्- प्रकाशमान, तेजस्वी, चमकना इत्यादि विविधार्थक है । दीव्यतीति देव: । धात्वर्थ केअनुसार – जो क्रीडा करता है, शत्रु को जीतने की इच्छा रखता है, उत्तम व्यवहारकरता है, प्रकाश देता है, स्तुति करता है, या स्तुति का भाजन बनता है, आनन्दित होता है, तृप्त होता है, हर्षित होता है . . . . इत्यादि वह देव है । अवेस्ता में इसके विपरीत राक्षसों के लिए " दएव " शब्द का प्रयोग है । आश्चर्य का विषय है किजिस देव शब्द का संस्कृत भाषा में भारत में देवता अर्थ है, उसी का ईरान में राक्षस अर्थ है । इस अर्थ परिवर्तन के विविध कारण हो सकते हैं ।[1] सर्व प्रथम कारण तो दोनों का परस्पर वैमनस्य ही है (2) धार्मिक विरोध भी हो सकता है ।

ऋत –

शब्द से तात्पर्य प्राचीन ऋग्वेद में समस्त सृष्टि के उस व्यापक नियम से है, जिसमें सूर्य- चन्द्रमा, दिन-रात एवं समस्त ऋतु चक्र, देव विधान आश्रित हैं । देवी सृष्टि, मानवी सृष्टि एवं भौतिकी सृष्टि क्रम का विकास इसी ऋतानुसार ही गतिमान है । अग्नि, सूर्य, जल एवं यज्ञ से जिसका परस्पर

तादात्म्य अवश्यम्भावी है । इसी ऋत में ही समस्त सृष्टि जगत का जन्म एवं लय विद्यमान है । अवेस्ता में इसे ही " अष् " नाम से अभिहित किया गया है एवं अहुरमज्दा की विशिष्टता के रूप में इसे प्रतिपादित किया गया है ।

तपस् -

अपने प्रारम्भिक काल में यह शब्द मात्र उष्णता का ही परिचायक प्रतीत होता है । ऋग्वेद में " तपसोऽध्यजायत " जैसे सन्दर्भ इसी तपस् शब्द की ओर संकेतित है । किन्तु यहाँ मन्त्र में उसे अग्नि एवं सूर्य के ही भाव में लिया गया है । क्रमशः परवर्ती काल में इसे मानवीय तपस के अर्थ में भी अभिव्यक्त किया गया । देवगण की अनन्तकालीन शारीरिक यातनामय उपासना ने ही तपस् नाम ग्रहण किया । √ तप्-तप्त होना से असुन्- प्रत्यय करके " तपस् " शब्द निष्पन्न होता है । इसी से तपस्वी इत्यादि शब्द प्रचलित हुए ।

" वैदिक छन्द "

" छन्दः पादौ तु वेदस्य" शिक्षाग्रन्थों की उक्ति विवेचनीय है । वेद के हाथ पाँव जैसे आधार रूप में छन्दों को अवमानना है । " छन्दस्" शब्द की व्युत्पत्ति "चदि आह्लादने" धातु से तथा इसी से " चन्द्र" शब्द भी व्युत्पन्न माना है[क]। किन्तु यास्क आच्छादनार्थक छद धातु से इसे व्युत्पन्न मानते हैं । वैदिक पाठ के सस्वर-व्यवस्था के आच्छादक होने से इन्हें छन्द कहते हैं । वेदमन्त्रों का वाङ्मयस्वरूप छन्दोमय होने से ही लक्षणा से वेद मन्त्र ही छन्द कहे जाने लगे । । इस प्रकार छन्द वेद का पर्यायवाची बन गया ।

वैदिक व्याकरण एवं छन्द लौकिक व्याकरण एवं छन्द की अपेक्षा बहुत ही अनियमित हैं । षडाङ्गों में छन्द भी परिगणित है । ऋग्वेद की रचना सूक्तों में हुई है,जो किसी न किसी छन्द में पिरोये हुए है । उसमें चरणोंकी संख्या एवंप्रत्येक चरण में अक्षरों की संख्या निश्चित है । चरणों के क्रम बदलने से इन छन्दों के बहुत से अवान्तर भेद भी हो जाते हैं । ऋ0 के सूक्तों में प्रयुक्त छन्दों का विवरण कात्या0 सर्वा0 में वर्णित है । वेद समीक्षकों के दो सम्प्रदाय हैं । एक संहिता पाठ की प्रामाणिकता एवं प्राचीनता के प्रति आस्थावान् हैं, दूसरे वैदिक गीतकारों के व्यापक कौशल को स्वीकारते हुए उन्हीं स्थलों में पाठ के पुनर्नियोजन को उचित समझते हैं । वैसे देखा जाय तो पाठ को न तो अनियम माना जा सकता है और न छन्दकसौटी को निरपवाद

क- "ऋग्वेद पर व्याख्यान" घाटे द्वारा" पृ0-153 वाराणसी।976

नियामक । सभी व्याख्याकार उस सिद्धान्त को मान्य समझते हैं जो सरलतम्
रूप से अधिकतम् तथ्यों का अनुमोदक है। वैदिक गीतकारों के कौशल एवं
कला के बारे में आरनोल्ड महोदय ने अपने विचार जो व्यक्त किया है -
नयी कुली कला की रचना के रूप में ऋग्वेद के छन्द प्रेरणा वैविध्य एवं रूप के
लचीलेपन की दृष्टि से आधुनिक यूरोपीय छन्दों की अपेक्षाकृत उच्च स्तर के हैं।

वस्तुतः छन्दों का गीतकारों से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा शास्त्रीय-
संगीत की समृद्ध संगादिता का कृषकों की सरल धुनों के साथ होता है। वैदिक
छन्दों का समस्त विवरण न देकर ऋ० के जितने मन्त्रों का मैंने अध्ययन किया है
उनका विवरण प्रस्तुत है -

ऋ० के छन्दों का विवरण देने से पूर्व उनकी प्रकृति का निर्देश करना
आवश्यक है यथा (1) प्रजापति (2) देव (3) असुर (4) ऋषि (5) ये छन्द
की प्रकृतियाँ हैं। इन तीनों के योग से ऋषि छन्द सम्पन्न होते हैं। ये ऋषि
छन्द गायत्री से जगती तक उत्तरोत्तर 4-4 अक्षरों से बढ़ते हैं। जैसे ऋषि गायत्री
24, "उष्णिक्" 28, अनुष्टुप् 32, "बृहती" 36, "पंक्ति" 40,
त्रिष्टुप् 44, "जगती" 48, अक्षरों की होती है। इस प्रकार क्रम से
समझने हेतु रेखा चित्र प्रस्तुत है-

क. आरनोल्ड "वैदिक मीटर," पृ० - 21

ख. ऋ० प्राति० "छन्द पटलम्" अनु० वी०के०वर्मा, वाराणसी, 1986

	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पंक्ति	त्रिष्टुप्	जगती
प्रजापति की	8	12	16	20	24	28	32
देवों की	1	2	3	4	5	6	7
असुरों की	15	14	13	12	11	10	9
ऋषि की	24	28	32	36	40	44	48

इन्हीं ऋषि छन्दों से मन्त्र एवं श्लोक का सृजन होता है । इनमें " गायत्री " 24 अक्षरों की होती है । इसमें 8,8, अक्षरों के तीन पाद होते हैं या 6,6 अक्षरों के चार पाद होते हैं । यथा -

" अग्निमीळे पुरोहितम्" यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ।। ऋ0 ।।

यदि 5,5 अक्षरों के पाँच पाद हों तो " पदपङ्क्ति" गायत्री होती है । अन्तिम पाद 6 अक्षरों का हो और शेष चार पाद 5,5 अक्षरों के हों तो वह "अरिक् पदपंक्ति गायत्री" होती है । या दो पाद एक 4 अक्षरों का , दूसरा 6 अक्षरों का हो और तीन पाद 5,5 अक्षरों के हो,तो वह भी " पदपंक्तिगायत्री" होती है ।

(2) उष्णिक् -

यह छन्द 28 अक्षर का होता है । तीन पादों से युक्त होता है।

प्रथम दो पाद 8,8 अक्षरों एवं तृतीय पाद 12 अक्षरों का होता है । जब 12 अक्षरों का पाद प्रथम हो तो वह पुरउष्णिक् तथा जब मध्यम हो तो "ककुप् उष्णिक्" होता है । उष्णिक् के अन्य भी भेदोपभेद हैं- "पिपीलिकामध्मा उष्णिक्" तनु शिरा", अनुष्टुप् गर्भा, इत्यादि ।

§3§ अनुष्टुप् -

यह 32 अक्षरों का होता है । 8,8, अक्षरों के चार बराबर पाद होते हैं । इसके भेद इस प्रकार है - कृति अनुष्टुप्, पिपीलिकमध्यमा अनुष्टुप् काविराट् अनुष्टुप्,नष्टरूपा अनुष्टप्, विराट् अनुष्टुप्, महापंक्ति, इत्यादि

§4§ बृहती -

यह छन्द 4 पादों एवं 36 अक्षरों वाली होती है । इसके तीन पाद 8,8 अक्षरों वाले और तृतीय पाद 12 अक्षरों वाला होता है । इसके भेद इस प्रकार हैं - पुरस्ताद्बृ0, विराट् बृ0, विष्टार बृ0, पिपीलिकमध्या बृ0, विषमपदा बृ0, इत्यादि ।

§5§ पंक्ति -

इस छन्द में पाँच पाद होते हैं।प्रत्येक में 8,8 अक्षरों का योग होता है । इसमें भी विराट् पंक्ति आस्तारपंक्ति, सतोबृ0 विपरीता पंक्ति, प्रस्तारपंक्ति, संस्तार पंक्ति , विष्टारपंक्ति इत्यादि भेद हैं ।

§6§ त्रिष्टुप् -

44 अक्षरों वाला छन्द है । 11, 11 अक्षरों वाले चार पाद होते हैं । "यथा पिबा सोमँभि यमुग्र तर्दः ।" इसके भेदों में विराट्स्थाना, विराटपूर्वा

क# ऋ0 6·17·1

पंक्त्युत्तरा, विराड्रूपा, ज्योष्मती, महाबृहती त्रि०, यवमध्या त्रि०, इत्यादि ।

§7§ जगती -

इसमें 48 अक्षर होते हैं । 12, 12 अक्षरों के चार पाद होते हैं । यथा " प्रदेवमच्छा मधुमन्त: इन्दव: ।" इसके भेदों में महापंक्ति जगती, महासतोबृहती ।

अक्षरों की संख्या में कुछ कमी एवं वृद्धि के आधार पर भाषा का नियोजन कितना विचित्र है ? छन्दोबद्धता से भाषा में लयात्मकता की अतिशय वृद्धि होती है । वैदिक छन्दों से स्वच्छन्दता भी द्रष्टव्य है । स्वर विशेष तथा अक्षर विशेष के प्रयोग द्वारा भाषा का आश्चर्यजनक गहन सर्वत्र प्रशंसनीय है ।

आगे मेरे द्वारा अनुवादित सूक्तों के छन्दों का उल्लेख है । आवृत्ति का भी इसी क्रम में उल्लेख किया गया है ।

प्रथम मण्डल सूक्त सं० 28 में 1-6 अनुष्टुप् 7-9 गायत्री छन्द का प्रयोग है । -4 मन्त्र में द्विपाद अपवृत्ति है । ऋ० 1·84 में 1-6 मन्त्र अनुष्टुप् 7-9 तक उष्णिक, 10-12 पंक्ति, 13-15 तक गायत्री, 16-18 त्रिष्टुप्, §प्रगाथ:§ 19 बृहती, 20 सतोबृहती ।" वस्वीरनु स्वराज्यम्" की आवृत्ति है 10,11,12, वे मन्त्र में ।

ऋ० 1·100 में छन्द त्रिष्टुप् है । " मरुत्वान् नो भवत्विन्द्र ऊती" । से 15 वें मन्त्र तक आवृत्त है ।

ऋ० 1·101 में 8-11 त्रिष्टुप्, शेष 7 मन्त्र जगती छन्द में हैं । " मारुत्वन्तं सख्याय हवामहे" की आवृत्ति 1 से 7 मन्त्र तक है ।

ऋ0 2·13 में 1-12 मन्त्र जगती छन्द में, 13 वाँ त्रिष्टुप् है ।

ऋ0 2·14 में 1-12 मन्त्र त्रिष्टुभ् ।

ऋ0 2·15· में 1-10 तक त्रिष्टुभ् छन्द ।

ऋ0 5·40 में 1-3 उष्णिक् 5·9 अनुष्टुप् 4·6·7·8 त्रिष्टुभ् ।

1-3 में " वृषन्निन्द्र वृषभिर्वृत्रहन्तम" एक पाद की आवृत्ति हुई है ।

ऋ0 6·44· में 1-6 त्रिष्टुप्, 1-6 अनुष्टुप्, 7-9 (8वाँ) विराट् ।

" सोम: सुत: स इन्द्र तेऽस्ति स्वधापेत मद:" की आवृत्ति 1-3 मन्त्र में हुई है ।

ऋ0 सप्तम मण्डल 7·55 (2, 3) मंत्र में "नि षु स्वप" की आवृत्ति हुई है । छन्द-1 गायत्री, 2-4, उपरिष्टाद्बृहती, 5-8 अनुष्टुप् । देवता इन्द्र एवं छन्द उष्णिक्, 33 शंकुमती (पिंगलमतेन)

ऋ0 8/12-10, 11, 12 " मीमीत इद्, 13, 14, 15, में ऋतस्य यद्" 25, 26, 27, में 'आदित् ते हर्यता हरी ववक्षतु: " 28, 29, 30, में " आदित् ते विश्वा भुवनानि येमिरे" की आवृत्ति हुई है ।

ऋ0 8/38 में 10 मंन्त्रों में गायत्री छन्द का प्रयोग है तथा " इन्द्राग्नी तस्य बोधतम्" 1, 2, 3, में 4, 5, 6, 7 में इन्द्राग्नी आ गतं नरा " 8, 9 मन्त्र में " इन्द्राग्नी सोमपीतये" की आवृत्ति है ।

ऋ0 8/45 में गायत्री छन्द का प्रयोग है । प्रारम्भ के 1-3 मन्त्र में " येषामिन्द्रो युवा सखा" की आवृत्ति है ।

ऋ0 8/80 -1-9 तक गायत्री छन्द तथा 10 वाँ मन्त्र त्रिष्टुप् है । स त्वं न मृळय" पाद की आवृत्ति है ।

ऋ0 8/82 में भी गायत्री छन्द का प्रयोग है । 7·8·9 मन्त्र में " पिबेदस्य त्वमीशिषे" पाद की आवृत्ति है ।

ऋ0 8·93 में गायत्री छन्द का प्रयोग है । 28,29,30, " यदिन्द्र मृळयासि नः" पाद आवृत्त है । 31,32,33, मन्त्र में " उप नो हरिभिः सुतम्" पाद आवृत्त है ।

ऋ0 8/96 में त्रिष्टुप्, 4 मन्त्र में विराट्, 21 वें में पुरस्ताज्ज्योतिः का प्रयोग है । 10,11,12 मन्त्र में " कुविदङ्ग वेदत्" पादावृत्ति है ।

ऋ0 8/98 छन्द उष्णिक् 7,10,11 ककुप् 9,12, में पुरउष्णिक् छन्द प्रयुक्त है । 4,5,6 मन्त्र में " पतिर्दिवः पदावृत्ति है ।

ऋ0 10-24-4-6 अनुष्टुप् शेष मन्त्र आस्तारपाङ्क्तिः छन्द में है । " विवक्षसे " पद आवृत्त है { 1,2,3, मन्त्र में }

ऋ0 10·47 त्रिष्टुप् छन्द है तथा " अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः" की आवृत्ति 1 से 8 तक सभी मन्त्रों में है ।

ऋ0 10·119 सम्पूर्ण सूक्त गायत्री छन्द में है एवं " कुवित् सोमस्यापामिति" की 1 से 13 मन्त्रों में आवृत्ति हुई है ।

ऋ0 10/126 वें सूक्त में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग है तथा 3,4,5,6, में "तम्मितो नाशयामसि" की आवृत्ति हुई है ।

परिशिष्ट

अधीत ग्रन्थों की सूची 494–514

अधीत पुस्तकों की सूची

1. ऋग्वेद संहिता – सायण, भाग 1-4 पूणे 1940 ई०।

2. ऋग्वेद संहिता–एच० एच० विलसन , नई दिल्ली, प्र०सं० , 1857 ।

3. ऋग्वेद संहिता– वैदिक संशोधन मण्डलेन प्रकाशित, सा०भा० सहित
प्र०भा०-1972, द्वि०भा०-1936, तृ०भा०-1941, च०भा०-1946 ।

4. ऋग्वेद भाष्य– आत्मानन्द, लाहौर , 1932 ई०।

5. ऋग्वेद भाष्य– आनन्दतीर्थ , गुरुकुल कांगडी विवि०, पुस्तक संख्या
212/42

6. ऋग्वेद – वेङ्कट, स्कन्दस्वामी, मुद्गल, उद्गीथ, भाष्यसहित,
8 भाग सं० विश्वबन्धु: विश्वेश्वरानन्द, वैदिक शोध संस्थानम्
प्र०सं०, 1954 ।

7. ऋग्वेद भाष्य– उद्गीथ, भाग 6,7 होशियारपुर, 1964-65 ई० ।

8. ऋग्वेद भाष्य– वेंकटमाधव, भाग 1-7 होशियारपुर, 1963-65 ई० ।

9. ऋग्वेद भाष्य– मुद्गल भा०- : 1,2 होशियारपुर, 1965-66ई०।

10. ऋग्वेद भाष्य– स्कन्दस्वामी, भा०-1•2 होशियारपुर, 1963 एवं 1965ई० ।

11. ऋग्वेद भाष्य– स्वामी दयानन्द सरस्वती, भाग- 1 प्रयाग, 1938
ई० एवं भाग 1-9; अजमेर-सं० 1973 से 2011 वि० के मध्य प्रकाशित सं०० ।

12. ऋग्वेद व्याख्या– माधवभट्ट, भाग-1, 1939ई०, एवं भा०-2 ।

13. ऋग्वेद संहिता , पं० रामगोविन्दत्रिवेदी, इण्डियन प्रेस, 1954 ।

14. ऋग्वेद का सुबोध भाष्य– 1-10 मं०पं० श्री पाद दामोदर सातवलेकर,
स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जिला– बलसाड, गुजरात, सन् 1970–78तक ।

15. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका – स्वामी दयानन्द सरस्वती, अजमेर सं०-2006वि० ।

16. काठक कपिष्ठल संहिता– दामोदर सातवलेकर, आन्ध्र ।

17· काठक संहिता, श्रोदरविपविर्ग, सन् 1910 ।

18· मैत्रायणी संहिता, श्रीपाद रामोदर सातवलेकर, बाम्बे, सम्वत् 2013 ।

19· तैत्तिरीय संहिता- आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली पूना 1956 ।

20· शुक्ल यजुर्वेद संहिता, श्रीमदुवटाचार्य विरचित मन्त्रभाष्येण, श्री महीधराचार्यकृत वेददीपभाष्येण च समन्विता, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली; पटना, वाराणसी, प्र०सं० 1971 ।

21· यजुर्वेद भाष्य- उवट, महीधर, बम्बई, 1929ई० ।

22· यजुर्वेद भाष्य- स्वामी दयानन्द सरस्वती, भाग 2-4, अजमेर संस्करण, भाग- 1, दिल्ली, 1972 ई० ।

22· यजुर्वेद संहिता - अजमेर सं०, 2007 वि० ।

23· सामवेद- ब्रह्मर्षि, म०म०पं० श्रीपाददामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, जिला- बलसाड, गुजरात ।

24· सामवेदसंहिता- अजमेर, सं०-2004 वि० ।

25· सामवेद संहिता- सनातन धर्म प्रेस, मुरादाबाद-1927 ।

26· सामवेद संहिता- श्री भगवदाचार्येण प्रणीतेन साम संस्कार भाष्येण समुपबृंहिता, चौखम्बा विश्व भारती, वाराणसी, जून 1974 प्र०सं० ।

27· अथर्ववेद संहिता- सायण भाष्य समेत, 4 भाग, सं विश्वबन्धु विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, 1960-62 ।

28· अथर्ववेद (भाषा भाष्य) क्षेमकरण त्रिवेदी [प्रथम काण्ड से सप्तम काण्ड तक] आर्य समाज स्थापना शताब्दी प्रकाशन, नई दिल्ली ।

29· अथर्ववेद संहिता- पं० दामोदर सातवलेकर, पारडी, स्वाध्याय मण्डल, तृ०सं० -1957 ।

30• अथर्ववेद संहिता- सायण भाष्य समेत, एस०पी० पण्डित, 1905 ।

31• अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण [अनुवादक , डा० सूर्यकान्त चौखम्बा, संस्कृत सीरीज आफिस,वाराणसी , 1964 ।

32• अथर्ववेद संहिता - अजमेर सं०-2001 वि० ।

33• अथर्ववेदीय भूमिसूक्त - डा० सिद्धनाथ शुक्ल वागाम्भृणी प्रकाशन, इलाहाबाद ,1984 ई०सं० ।

34• ऐतरेय ब्राह्मण - सायण भाष्य समेत,आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना-1896 ।

35• ऐतरेय ब्राह्मण निर्णय-सागरप्रेस,बम्बई, 1925ई० ।

36• ऐतरेय ब्राह्मण - सायण,पूना, 1931 ।

37• ऐतरेय ब्राह्मण- सायण भाष्य समेत, हिन्दी अनुवाद,प्रथम भाग,डा० सुधाकर मालवीय,तारापब्लिकेशन्स,वाराणसी, 1964 ।

38• ऐतरेयालोचन- सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, 1906ई० ।

39• ऐतरेय ब्राह्मण-एक अध्ययन,डा० नानूराम पाठक,रोशन लाल जैन एण्ड सन्स,जयपुर, 1966 ।

40• गोपथ ब्राह्मण} मूल मात्र} सम्पादक,डा० विजय पाल विद्यावारिधि, प्रकाशक- सावित्री देवी,बागड़िया-ट्रस्ट 2/0 औरंगी एप्रोच,कलकत्ता, प्र०सं०-1980 ।

41 गोपथ ब्राह्मण { सम्पूर्ण } चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी ।

42• जैमिनीय ब्राह्मण, नागपुर, 1954 ई० ।

43• जैमिनीय ब्राह्मण, आचार्य रघुवीरेण च श्री लोकेश चन्द्रेण च परिष्कृतम् , सरस्वती-विहार, नागपुर,विक्रमाब्दा: 2011 ।

44• ताण्ड्यमहाब्राह्मण-सायण विरचित भाष्य सहित,जय कृष्णादास,हरिदास गुप्त,चौखम्बा सीरीज आफिस,सं0-2008 ।

45• ताण्ड्य ब्राह्मण-कलकत्ता, 1870 ई0 ।

46• तैत्तिरीय ब्राह्मण आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि:,ग्रन्थाङ्क-37 , आनन्दाश्रम-प्रेस, 1934 ।

47• ताण्ड्य महाब्राह्मण –

48• शतपथ ब्राह्मण{ सायण भाष्य समेत, 5 भाग } लक्ष्मी वेंकटेश्वर- प्रेस, 1940-41 बम्बई ।

49• शतपथ ब्राह्मण- हिन्दी विज्ञानभाष्य,मोतीलाल शर्म्मोपिवयो य: कश्चिदपि मुक्तरक्तशर्मा अंगिरसो भारतद्वाज: वेदवीथीपथिक: जयपत्तनाभिजन: राजस्थान,वैदिक तत्व शोध संस्थान,जयपुर ।

50• शतपथ ब्राह्मण- भाग 1,2 वाराणसी, सं0-1987 ।

51 शतपथ ब्राह्मण- एक सांस्कृतिक अध्ययन,श्रीमती उर्मिला देवी शर्मा, मेहरचन्द्र लक्ष्मनदास पब्लिकेसन्स, नई दिल्ली, प्र0सं0-1982 ।

52• शाङ्खायन ब्राह्मणम् ,आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि:,ग्रन्थाङ्क 65 रा0 गुलाबराय वृजशंकर ओझा राजकोट, आनन्दाश्रमप्रेस, 1977 ।

53. तैत्तिरीयारण्यक – आनन्दाश्रम , संस्कृत सीरीज 90 ,आनन्दाश्रम, 1922 ।

54• बृहदारण्यक– गीताधर्म प्रेस, बनारस, 1950 ।

55• शांखायन आरण्यक – आनन्दआश्रम, संस्कृत सीरीज 90,आनन्द- आश्रम1922 ।

56• ईशोपनिषद् – श्री पाद दामोदर सातवलेकर ,पारडी ,जिला- बलसाड , सं0-2025 ।

57 उपनिषद्- प्रकाश श्रीमास्टर अवध बिहारी लाल,चाँदापुर पुस्तक मन्दिर,मथुरा,1959

58. उपनिषत्संग्रह - पण्डित जगदीश शास्त्रिणा,मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, वाराणसी-1970 ।

59. उपनिषदों की भूमिका- डा० राधाकृष्णन राजपालएण्ड सन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली, ५०सं०-1968 ।

60 एकादशोपनिषद् (द्वि०भा०) प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, प्रकाशक-विजय कृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी, विद्या- विहार 4, बलवीर ऐवेन्यू देहरादून ।

61. 108 उपनिषदें (ज्ञान खण्ड, श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रकाशक संस्कृति-संस्थान, बरेली, 1961)

62. 108 उपनिषदें (साधना काण्ड) श्री रामशर्मा आचार्य, प्रकाशक-संस्कृति-संस्थान, बरेली, 1961 ।

63. 108 उपनिषदें (ब्रह्म विद्या खण्ड) तदैव ।

64. एतरेयोपनिषद् सानुवाद शांकरभाष्य सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं०2001 ।

65. केनोपनिषद्-(अनुवादक व व्याख्याकर्ता) आहिताग्नि यमुना प्रसाद त्रिपाठी, प्रकाशक- मोतीलाल, दिल्ली, प्रसं० -1963 ।

66. कठोपनिषद् "(सानुवाद शंकर भाष्य सहित) प्रकाशक-घनश्याम जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० -2008 ।

67. छान्दोग्योपनिषद - आनन्दगिरिकृत टीका संवलित शांकर भाष्यसमेत वाणी विलास, संस्कृत पुस्तकालय, कचौड़ी गली, काशी, 1942 ।

68. तैत्तिरीय उपनिषद-श्री पाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डी, 1956ई०

69. प्रश्नोपनिषद्-पं० श्री पाददामोदर सातवलेकर, सम्वद्-2007 । स्वाध्याय मण्डल, आनन्दाश्रम, पारडी ।

70 माण्डूक्योपनिषद्- गौडपादीय कारिका, शंकर भाष्य मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं०-2026 ।

71· मुण्डकोपनिषद पर स्वामी चिन्मयानन्द§ उत्तर काशी§ के प्रवचन ।

72· श्रीमच्छंकराचार्यकृतं तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यम् दिनकर विष्णु गोखले मुंबय्यां कोट सासुनाविल्डिंग नं० 8, भगिलाल बच्छाराम देशाई इत्यमेन स्वीये " गुजराती" संवद्-1970 ।

73· बृहदारण्यकोपनिषद्-पं० सखारामात्मज पं० रामचन्द्र शास्त्रिणा वाणी विलास संस्कृत पुस्तकालय; कचौड़ी गली, काशी, वि०सं०-2011 ।

74· श्री शंकराचार्य विरचितग्रन्थसंग्रह: उपनिषद् भाष्यम रा०रा० हरि रघुनाथ भागवत पुण्यपत्ने अष्टेकर कम्पनी शालिवाहन शकाब्दा: 1949 ।

75· श्रीश्यामचरण संस्कृत ग्रन्थावलि श्री ब्रह्मोपनिषद् सारसंग्रह दीपिका इण्डियन प्रेस नाम्नि यन्त्रालये प्रयागे मुद्रिता विक्रमाब्द: 1972 ।

76· श्वेताश्वरोपनिषद्-डा० तुलसीराम शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्र०सं०-1976 ।

77· श्वेताश्वरोपनिषद् दार्शनिक अध्ययन-डा०वेदवती, वैदिक नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्र०सं०-1984 ।

78· श्वेताश्वरोपनिषद् सानुवाद शंकरभाष्य सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं०1995 ।

79· आदि कवि बाल्मीकिमहामुनि प्रणीतं रामायणम् मुम्बय्यां निर्णयसागर यन्त्रालयाधिपतिना मुद्रितम्, शाके 1810 वत्सरे ।

80· श्रीमद् बाल्मीकीय रामायण महर्षि बाल्मीकि प्रणीत, गीता प्रेस, पो०-गीता प्रेस, मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं०-2033 ।

81· श्रीमद् बाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा काण्ड-5, चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, प्रकाशक-रामनारायण लाल इलाहाबाद ।

82· श्री महाल्मीकीय रामायण § तृतीय खण्ड सुन्दर काण्ड तथा युद्ध काण्ड पं० चन्द्रमणि विद्यालंकार पालीरत्न प्रतिभाप्रकाशन, 13 कचहरी रोड, देहरादून 1953

83• श्रीमद् बाल्मीकीय रामायण, अरण्य काण्ड- 4, चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, प्रकाशक- रामनारायण लाल, पब्लिसर्स और बुकसेलर, इलाहाबाद, प्र०सं०-1927 ।

84• श्रीमद्बाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड- 1 चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, प्रकाशक- रामनारायण लाल, 1927 ।

85 महाभारत ﴾ 18 पर्वो का﴿ पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जिला- बलसाड, सन् 1968- 1978 तक ।

86• श्रीमहाभारतम्- पं० रामचन्द्र शास्त्री, किंजवडेकर ओरियण्टल बुक्स रीप्रिन्ट कारपोरेशन ।

87• अग्नि पुराण﴾ 2 खण्ड﴿ श्री राम शर्मा आचार्य, संस्कृति-संस्थान ख्वाजा कुतुब ﴾ वेदनगर ﴿ बरेली, प्र०सं०, 1968 ।

88• आचार्य जिनसेन कृत आदि पुराण﴾ भाग- 1, 2﴿ भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, द्वि०सं०, 1963-1965तक ।

89• गरूण पुराण﴾ प्रथम एवं द्वितीय खण्ड﴿ पं श्री राम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली, 1938 ।

90• आचार्य गुण भद्र कृत- उत्तरपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ, द्वि०सं०, 1968 ।

91• कालिका पुराण﴾ प्रथम एवं द्वितीय खण्ड﴿ विश्वनारायण शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, वि०सं० -2029 ।

92• कूर्म पुराण﴾ प्रथम एवं द्वितीय खण्ड﴿ श्री राम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेद नगर, बरेली, 1970 ।

93• पद्मपुराण-3 भाग, पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1958 ।

94• देवी भागवत पुराण (प्रथम एवं द्वितीय खण्ड) पं० श्रीरामशर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली, 1970।

95• पद्म पुराण (प्रथमो भागः) मनसुखराय मोर (श्रीमन्महर्षि कृष्ण द्वैपायन) व्यासदेव, प्र०सं०, विक्रम संवत्-2013, ई०सन् -1957।

96• भविष्य पुराण-खेमराज श्रीकृष्णदास खेतवाड़ी, बम्बई सं०-1967।

97• भविष्य पुराण (प्रथम एवं द्वितीय खण्ड) श्री राम शर्मा, बरेली, 1971।

98• ब्रह्म पुराण-हिन्दी अनुवाद सहितम् (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सन् 1976, अनुवादक-तारणीश झा, प्र०सं०।

99• ब्रह्म वैवर्त पुराण (प्रथम एवं द्वितीय खण्ड) श्री रामशर्मा बरेली, 1970।

100• मत्स्य पुराण-श्रीमन्महर्षिकृष्ण द्वैपायन व्यास नन्दलाल, कलकत्ता, 1954।

101• मत्स्य पुराण-महर्षि वेदव्यासप्रणीतम् श्री जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्येण, कलकत्ता, 1976।

102• मार्कण्डेय पुराण (प्रथम एवं द्वितीय खण्ड) श्री राम शर्मा, बरेली, 1968।

103• लिङ्ग पुराण (प्रथम एवं द्वितीय खण्ड) श्री राम शर्मा, बरेली, 1970।

104• वामन पुराण, श्री गोपाल चन्द्र, श्री चौधरी नारायण सिंह, डा० गङ्गासागर राय, सर्वभारतीय काशिराजन्यास दुर्ग, रामनगर, वाराणसी, 1968।

105• वायु पुराण-श्री राम शर्मा, बरेली, प्र०सं०, 1969।

106• वायुपुराण-मनसुखराय मोर, कलकत्ता, 1959।

107• वायु पुराण-अनुवादक-रामप्रताप त्रिपाठी, संवत् 2002, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्र०सं०।

108• श्रीमद्भागवत् महापुराण (एक से एकादश स्कन्ध तक) कृष्णाराज ठाकरसी, चतुर्भुज दास सेठ, नवनीत लाल सेठ, रवीन्द्र भाई सेठ, वि०सं०2022।

109· श्री विष्णु पुराण, मनि लाल गुप्त, प्रकाशक- घनश्याम दास जालान, गीता-
प्रेस, गोरखपुर,सं0-1990 ।

110· हरिवंशपुराण{ प्रथम एवं द्वितीय खण्ड } श्री रामशर्मा, संस्कृति संस्थान,
ख्वाजा कुतुब, 1968 ।

111 स्कन्द पुराण-पं0 श्री रामशर्मा, प्रकाशक-डा0 चमनलाल गौतम, संस्कृति
ख्वाजा कुतुब, प्र0सं0, 1970 ।

112 निघण्टु तथा निरूक्त-डा0 लक्ष्मण स्वरूप आक्सफोर्ड द्वारा संपादित
प्रथम बार भाष्यम्तरीकृत हिन्दी भाषान्तर सत्यभूषण योगी तथा
शशि कुमार मोतीलाल, बनारसी दास, प्र0सं0, 1967 ।

113· निघण्टु तथा निरूक्त { मूल हिन्दी अनुवाद} श्री छज्जूराम शास्त्री
तथा पं0 देवशर्मा शास्त्री, भारत-भारती प्रेस, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम 1963 ।

114 बृहद्देवता{ दो भाग} ए0ए0 मैकडोनैल हा0ओ0 सी0 जिल्द 5-6, 1904 ।

115· शौनकीय बृहद्देवता{ अनुवादक} रामकुमार राय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज
आफिस, वाराणसी, प्र0सं0, 1963 ।

116· निरुक्तम् यास्कमुनि प्रणीतम् विवृति प्रणेता - पं0 मुकुन्द झा बख्शी
पाण्डुरङ्ग द्वारा प्रकाशित मुद्रक - निरन्या सागर प्रेस, बाम्बे, 1930 ।

117· निरुक्तम् श्री मद्यास्कमुनिप्रणीतम् द्वारा पण्डित श्री मुकुन्द शर्मणा मेहर
चन्द लक्ष्मनदास, नई-दिल्ली, 1982 ।

118· अंग्रेजी हिन्दी-कोश, फादर कामिल बुल्के, एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी,
रामनगर, नई-दिल्ली, तृ0सं0, 1985 ।

119· अमर-कोश, डा0 सत्यदेव मिश्रा, प्र0सं0, 1972 ।

120· पाणिनीय सूत्रपाठस्य तत्परिशिष्टग्रन्थानां च शब्दकोशः म0म0वेदान्त
वागीश- पाठकोपाह्वश्रीधरचरणशास्त्रिणा तथा विद्यानिधिचित्रावोपाह्व-

सिद्धेश्वरशास्त्रिणा संगृहीता: भाण्डार प्राच्य विद्यासंशोधनमन्दिराधिकृते: 1935 ।

121· प्राचीन चरित कोश-महामहोपाध्याय विद्यानिधि सिद्धेश्वरशास्त्री चित्राव, विनायक सिद्धेश्वरशास्त्री चित्राव, भारतीय चरित्र मण्डल, 1206 अ/ 45 जंगली, महाराजपथ, पूना, 1964 ।

122· पौराणिक-कोश, राणा प्रसाद शर्मा, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्र०सं०, 2028 ।

123· ब्राह्मणोद्धार कोष: - होशियारपुरम् विश्वेश्वरानन्द संस्थानम्, प्र०सं०, 1966 ।

124· भाषा-विज्ञान भोलानाथ तिवारी, किताब मण्डल, 15 थार्न हिल रोड, इलाहाबाद, 1986 ।

125· भाषा का इतिहास, भगवद्दत्त इतिहास प्रकाशन मण्डल, पंजाबी बाग, दिल्ली, तृ०सं०, सम्वत्-2021 ।

126· भारतीय पुरा इतिहास कोश ॥ अरूण ॥ अनुप्रकाशन शिवाजी मार्ग, मेरठ शहर, बम्बई-बाजार, मेरठ कैण्ट, प्र०सं०, 1978 ।

127· भारतीय शोधसार संग्रह भाग- 1 1979 भारतीय मन्दिर, अनुसंधान-शाला, आर- 2, विश्वविद्यालय पुरी, जयपुर - 4 ।

128· वाचस्पत्यम् ॥ 1· 6भाग ॥ श्री तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्येण चौखम्बासंस्कृत सरीजआफिस, वाराणसी, 1962 ।

129· वैदिक इन्डेक्स आफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स (दो भाग) मैकडोनेल तथा कीथ, मोतीलाल बनारसीदास, 1958 ।

130· वैदिक इन्डेक्स आफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स ॥ हिन्दी अनुवाद ॥ रामकुमार राय, चौखम्बा-विद्या भवन, वाराणसी, 1962 ।

131• वैदिक कोश, डा० सुर्यकान्त,वैदिक रिसर्च समिति,बनारस,हिन्दी वि०वि०,1963 ।

132• वैदिक शब्दार्थ पारिजात-विश्वबन्धु शास्त्री ।

133• वैदिक पदानुक्रम कोश वी०वी० आर० आई इन्स्टीट्यूट,होशियारपुर, 1979,प्र०सं०-1963,वि० 2019 ।

134 संस्कृत हिन्दी कोश वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी ।

135• सैन्ट पीटर्सबर्ग संस्कृत जर्मन कोश,राथ तथा वाट्लिंग सेण्ट पीटर्सबर्ग1961 ।

136• हलायुध कोश§ अभिधान रत्नमाला§ सम्पादक – जयशंकर जोशी, हिन्दी समिति,सूचना-विभाग उ० प्र०,लखनऊ,द्वि०सं०-1967 ।

137• ऋग्वेद प्रतिशाख्यम्- डा० वीरेन्द्र कुमार वर्मा,काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी,प्र०सं०,1970 ।

138• ऋग्वेद सूक्त विकास या ऋग्वेद सूक्तों का कालक्रमानुसार दर्शन, ह०रा० दिवेकर,प्र०सं०,1970 ।

139• ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी § शौनककृताऽनुवाकानुक्रमणी च § उमेश चन्द्र शर्मा, वीणा शर्मा,विवेक पब्लिकेशन्स,सँसद-रोड,अलीगढ,प्र०सं०-1977 ।

140• ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पं० विश्वश्वरानन्द,मोतीलाल, बनारसीदास ।

141• ऋक् संचय : प्रथमो भाग:, सुशील प्रकाश नागर, मूलचन्द्र एण्ड ब्रदर्श चौक,फैजाबाद,द्वि०सं०,1985- ।

142 ऋक् सूक्त संग्रह, डा० हरिदत्त शास्त्री, डा० कृष्ण कुमार,साहित्य-भण्डार,सुभाष-बाजार,मेरठ,1980 ।

143• ऋक् सूक्त-सुधा,डा० सत्यनारायण पाण्डेय,रामनारायण बेनी प्रसाद, इलाहाबाद,वि०सं०-2020 ।

144· ऋक् सूक्त रत्नाकर: डा० रामकृष्ण आचार्य, विनोद पुस्तक मन्दिर, हास्पीटल रोड, आगरा, प्र०सं०, सन्-1963 ।

145· ऋक् सूक्त वैजयन्ती-प्रा० हरि दामोदर वेलणकर, प्रकाशक-श्री० वा० श्री सोनटक्के और श्री चि०ग० काशीगर मन्त्री, वैदिक संशोधन मण्डल, तिलक विद्यापीठ नगर, पूणे-1, ई०सं०-1965 ।

146· ऋगर्थ दीपिका श्री लक्ष्मण स्वरूप, काशी संस्कृत पुस्तकालयाध्यक्षः मोतीलाल बनारसीदास, 1919 ।

147· ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट [पाँच भाग] जे० म्योर [अनुवादक] राम कुमार राय, चौखम्भा, विद्या-भवन वाराणसी, 1970 ।

148· ऋग्वेद सभाष्य 5 मो भाग: [सप्तमाष्टम मण्डलात्मक: [होशियारपुर विश्वेश्वरानन्द, वैदिक शोध संस्थानम्, 2021 वि० - 1964, प्र० स० ।

149· ऋग्वेद संहिता-अंग्रेजी अनुवादक स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती और सत्यकाम विद्यालंकार, भाग-9 अष्टम मण्डल सूक्तानि (1-40) विद्याप्रतिष्ठान, [नई दिल्ली ।

150· ऋग्वेदः सभाष्य होशियारपुरम्, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थानम्, 2020 वि० पञ्चम षष्ठ मण्डलात्मक मयो भाग:, 1964, प्र०सं० ।

151· ऋग्भाष्य-संग्रह, स्व० डा० देवराज चानना, मुंशी राम मनोहर लाल, नई दिल्ली, प्र०सं०, 1961, द्वि०सं०-1972 ।

152· ऋग्वेद पर व्याख्यान घाटे द्वारा का हिन्दी अनुवादप्र०सं०, 1976, प्रकाशक-संस्कृत विभाग, दिल्ली - वि०वि०, दिल्ली -9 ।

153· ऋग्वेदसंहिता 6-8 मण्डलात्मक: तृतीयो भाग: [सायण भाष्य सहित) वैदिकसंशोधन 3 मण्डलेन प्रकाशिता, पूना, 1941 ।

154. ऋग्वेद संहिताप्रथमो भाग वैदिक संशोधन मण्डलेन प्रकाशिता (सायण भाष्य समेता).

155. ऋग्वेद संहितासायण भाष्य समेता, वैदिक संशोधन मण्डलेन प्रकाशिता, चतुर्थो भाग: 9-10 मण्डलात्मक, 1946 ।

156. गीत गोविन्द-विनय मोहन शर्मा, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-1955

157. द ऋग्वेद, प0 केगी अमरको बुक एजेन्सी, वी0 42, अमर कालोनी, नई-दिल्ली, वि0सं0, 1975 ।

158. आन द वेद-अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी, 1964 ।
आन द वेदाज द्वारा विलियम व्हिटनै संस्कृत पुस्तक भण्डार, कलकत्ता, 1972 ।

159. द यास्क एटिमालॉजी आफ यास्क, सिद्धेश्वर वर्मा विश्वेश्वरानन्द, वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, 1953 ।

160. द वेदाज़, मैक्समूलर, वाराणसी, 1969 ।
दैवत-संहिता-प्रथम भाग, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, औंध, जि0-सातारा ।

161. दैवत-संहिता(तृतीय भाग) पं0 श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, बसन्त, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर,स्वाध्याय मण्डल, 1948 ।

162. धर्म शास्त्र का इतिहास, मूल लेखक पी0वी0काणे, अनुवादक-अर्जुन चौबे, हिन्दी-समिति, ग्रन्थमाला, 132, प्र0सं0-1966 ।

163. पाणिनि समाज, धातुपाठ द पाणिनि आफिस, बहादुरगंज, इलाहाबाद 1909

164. पुराण विमर्श-बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1965 ।

165. भारतीय संगीत का इतिहास, उमेश जोशी, राम गोपाल शर्मा, मानसरोवर-महल, फीरोजाबाद,प्र0 सं0, 1957 ।

X166. भारतीय संगीत का इतिहास-डा॰ शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे, चौखम्भा, संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, प्र०सं० -1969 ।

X167 मनुस्मृति (प्रथमो भाग:) सम्पादक-ज० ह० दवे, भारतीय विद्या-भवन, मुम्बई, 1972 ।

168 महाभारत-कर्ण पर्व, मूल संस्कृत श्लोक और हिन्दी अर्थ सहित । म०पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, सं०-2029, शक-1895, सन् -1973 ।

169 माधवीया धातुवृत्ति: श्रीसायण विरचिता (पाणिनीय धातुपाठव्याख्यात्मिका) सम्पादक: स्वामी स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, प्राच्य भारती प्रकाशनकमच्छा, वाराणसी, 1964 ।

170. बृहद् स्तोत्र रत्नाकर-सम्पादक डा०-चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली ।

171 राजशेखर काव्य मीमांसा (सं०डा० गंगासागर राय) चौखम्बा, विद्या-भवन, वाराणसी, प्र०सं०, 1982 ।

172. वेदचयनम्, विश्वम्भर नाथ शास्त्री, सं० गुरु प्रसाद शास्त्री, वि० वि०-प्रकाशन, चौक, वाराणसी , 1980 ।

173. वेदमीमांसा सूत्रकार एवं भाष्यकारआचार्य लक्ष्मीदत्त दीक्षित, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली , भारत प्र०सं०, 1980 ।

174. वेद सञ्चयनम्-डा० यदुनन्दन मिश्र, चौखम्भाप्रकाशन, चौखम्भा विद्या-भवन, वाराणसी-1, प्र०सं०,सं०-2027 ।

175. वेदान्त परिभाषा, डा० गजानन शास्त्री, मुसलगाँवकर, सम्पादक-श्री राम शास्त्री, मुसलगाँवकर, प्रकाशक- चौखम्भा, विद्याभवन, वाराणसी, द्वि०सं०, 1977 ।

176• वेद रहस्य (तीन भाग) श्री अरविन्द, अनुवादक एवं सम्पादक-आचार्य अभयदेव विद्यालंकार, श्री अरविन्द आश्रम प्रेस, पाण्डिचेरी ।

177• वेदप्रकाश सत्यज्ञानंनवतीर्थ पट्टाभिराम शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, विद्या-विलास प्रेस, वाराणसी, 1934 ।

178• वेदार्थ विचार - म०श्री सीताराम शास्त्री, द प्रिंसिपल संस्कृत कालेज, बंकिम चन्द्र चटर्जी, कलकत्ता- 12 ।

179• वेद विद्या-डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा ।

180 वेद-लावण्यम्-डा० सुधीर कुमार गुप्त, भारतीय मन्दिर गोरखपुर ।

181• वेद रश्मि, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, वसन्त श्रीपादसातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल ।

182• वेद कालीनसमाज-डा० शिवदत्त ज्ञानी, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, प्र०सं०, वि०सं०-2023 ।

183• वैदिक देवता उद्भव औरविकास(प्रथम एवं द्वितीय खण्ड) डा० गया चरण त्रिपाठी, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, वाराणसी, प्र०सं०, 1982 ।

184• वैदिक-देवशास्त्र-डा० सूर्यकान्त, श्री भारत भारती (प्राइवेट लि०) अन्सारी रोड़,नया दरियागंज, दिल्ली, 1961 ।

185• वैदिकी-डा० पार्थसारथि डबराल, 33/9 करैलाबाग कालोनी, इलाहाबाद प्र०सं०, 1969 ।

186• वैदिक धर्म एवं दर्शन (प्रथम भाग) आर्थर वेरीडेल कीथ रचित द रिलीजन एण्ड फिलोसफी आफ दिवेद (एण्ड उपनिषद्) हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज 31 का हिन्दी रूपान्तर, मोतीलाल बनारसीदास देहली, वाराणसी, पटना, प्रथमावृत्ति 1963 ।

187• वैदिक धर्म एवं दर्शन, अनुवादक डा० सूर्यकान्त, द्वि० भाग, अध्याय-20-29, प्र०सं०, 1965 ।

188• वैदिक ग्रामर , डा० उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1964 ।

189• वैदिक माइथॉलॉजी- वैदिक पुराकथाशास्त्र § अनुवादक -रामकुमार राय, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1961 ।

190• वैदिक माइथालाजिकल टेक्स्ट्स, आर०एन० दण्डेकर, एस० वसन्त फार बसन्त, फार अजन्ता पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1979 ।

191• वैदिक वाङ्मय का इतिहास § प्र० एवं द्वि०भाग§ पं० भगवद्दत्त, पं० भगवद्दत्त वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मॉडल टाउन, 1974 ।

192• वैदिक व्याकरण-डा० राम गोपाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र०सं०, 1965 ।

193• वैदिक व्याकरण § मूल लेखक§ आर्थर अन्थोनी मैकडोनेल § अनुवादक§ सत्यव्रत शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, प्र०सं०, 1971 ।

194• वैदिक व्याकरण , डा० सत्यपाल नारङ्ग, देववाणी प्रकाशन, 1157/14 रोहतासनगर, शाहदरा, दिल्ली - 32, प्र०सं०, सन्-1970 ।

195• वैदिक - कोष, राजवीर शास्त्री, प्रकाशक-आर्ष साहित्यप्रचार ट्रस्ट, कमला-नगर, दिल्ली, प्र०सं०, दिसम्बर-1975 ।

196• वैदिक व्याकरण द्वि०भाग-डॉ० राम गोपाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र०सं०, 1969 ।

197• वैदिक व्याख्या विवेचन-डा० राम गोपाल , नेशनल पब्लिशिंग हाउस-23, दरियागंज, नई-दिल्ली, प्र०सं०, 1976 ।

198• व्याकरण चन्द्रोदय (प्र0 एवं द्वि0 खण्ड) श्री चारूदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास,प्र0सं0, 1970 ।

199• वैदिकयुग के भारतीय आभूषण-डा0 राय गोविन्दचन्द्र, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, प्र0सं0, 1965 ।

200• वैदिक साहित्य का इतिहास-कुंवर लाल जैन, भारतीय विद्या प्रका0, दिल्ली, भारत, प्र0सं0, 1978 ।

201• वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, आ0 बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, 37 बी रवीन्द्रपुरी, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, प्र0सं0, 1980 ।

202 वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, डा0 निर्मला भार्गव, देवनागरप्रका0, चौड़ा रास्ता, जयपुर, 1972 ।

203• वैदिक साहित्य की रूपरेखा-प्रो० सत्यनारायण पाण्डेय तथा डा० रसिक बिहारी जोशी, साहित्य-निकेतन, कानपुर, 1957 ।

204• वैदिक साहित्य-पं0 राम गोविन्द त्रिवेदी, ज्ञानपीठ, काशी, प्र0सं0 1950 ।

205• वैदिक साहित्य और संस्कृति-लेखक- वाचस्पति गौरोला, प्र0सं0, 1969 ; संवर्तिका-प्रकाशन, 33/9 करेलाबाग कालोनी, इलाहाबाद-3 ।

206• वैदिक साहित्य-पं0 राम गोविन्द त्रिवेदी, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस, प्र0सं0, 1950 ।

207• वैदिक साहित्य की रूपरेखा,पाण्डेय एवं जोशी कृत साहित्य निकेतन, कानपुर, 1957 ।

208• वैदिक साहित्य का इतिहास-प्रो0 राम मूर्ति शर्मा, प्रकाशक-इस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, भारत, द्वि0सं0, 1987 ।

209· वैदिक स्वर बोध, डा0 ब्रज बिहारी चौबे,प्रकाशक- वैदिक साहित्य सदन,होशियारपुर,प्र0सं0, मार्च,1972 ।

210· वैदिक सिद्धान्त कौमुदी, श्रीमद्भट्टोजिदीक्षित प्रणीता ﴾ पं0 श्री गोपाल शास्त्री﴿ हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला - 11 चौखम्बा, संस्कृत सीरीज,वाराणसी, 1977 ।

211· वैदिकसिद्धान्त मीमांसा, युधिष्ठिर मीमांसक, बहालगढ , सोनीपत हरयाणा ।

212· वैदिक स्वर मीमांसा, युधिष्ठिर मीमांसक, प्रका0-श्री हंसराज कपूर,श्री-रामलाल कपूर, ट्रस्ट,गुरु बाजार,अमृतसर,प्र0सं0,सं0-2015,अप्रैल-1958ई0 ।

213· व्याकरण चन्द्रोदय ﴾ प्र0 एवं द्वि0 खण्ड﴿ श्री चारुदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, प्र0सं0, 1970 ।

214· वैदिक सूक्त संग्रह , डा0 वेद प्रकाश उपाध्याय एवं विजयशंकर पाण्डेय, अक्षयवट प्रकाशन,इलाहाबाद,प्र0सं0,1985,द्वि0सं0-1988 ।

215· वैदिक देवता दर्शन-प्रो0 प्रभु दयाल अग्निहोत्री,ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली, भारत,प्र0सं0, 1989 ।

216· वैदिक सृष्टि एवं उत्पत्ति रहस्य, डा0 विष्णु कान्त वर्मा,भाग- 1 वैदिक रसायन एवं नाभिकी विज्ञान वैदिक प्रकाशन प्र0सं0, 1986 ।

217· वैदिक सम्पत्ति द्वारा श्री रघुनंदन शर्मा, कान्ति लाल गिरधरलाल, शाह,स्वाध्याय मण्डल,मझोदा, पुवाड़ि,प्र0सं0,1987,द्वि0सं0-1996सं0 ।

218· लघु सिद्धान्त कौमुदी-भैमीव्याख्या﴾ प्र0 एवं द्वि0 भाग﴿ भीमसेन शास्त्री, भैमी प्रकाशन,537 लाजपत राय मार्केट, दिल्ली, द्वि0सं0-1983 ।

219• सिद्धान्त कौमुदी-वसुदेव लक्ष्मन शास्त्री ,चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान , जवाहर-नगर ,बंगलो रोड ।

220• संस्कृत प्रवेशिका-डा० सुदर्शन लाल जैन ,सिद्ध सरस्वती प्रकाशन ,दमोह , 1981 ।

221• वैदिक स्वर मीमांसा, युधिष्ठिर मीमांसक, चन्द्र शेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वर गंज ,वाराणसी , सं० -2014 ।

222• वैदिक शिव सूक्त - एक अध्ययन - डा० ओम प्रकार पाण्डेय,आराधना ब्रदर्स,गोविन्द नगर, कानपुर, प्रकाशक- ग्रन्थम् रामबाग,कानपुर,सं० -1979 । -

223• सूक्त वाक् - व्याख्याकार-डा० हरिशंकर त्रिपाठी ,वेद पीठ प्रकाशन ,डी० वाघम्बरी रोड,दारागंज ,इलाहाबाद ।

22•4 नागरी प्रचारिणी पत्रिका अर्थात् प्राचीन शोध सम्बन्धी त्रैमासिक पत्रिका ﴾ नवीन संस्करण﴿ भाग- 14 अंक- 1 काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित ,सम्वत्-1990 ।

225• वैदिक स्वर एक परिचय - लेखक श्री पद्मनारायण आचार्य ,काशी ।

226• वैदिक संस्कृति और सभ्यता- डा० मुंशी राम शर्मा, ग्रन्थम् ,शोध ग्रन्थों के प्रकाशक ,रामबाग,कानपुर ।

227• वैदिक सम्पत्ति द्वारा श्री रघुनंदन शर्मा कान्तिलाल गिरधरलाल शाह,स्वाध्याय मण्डल, बड़ोदा, पूर्वार्द्ध, प्र०सं० -1987, सं०,द्वि०सं० -1996 सं०,तृ०सं०2004, सं०।

228 पौराणिक धर्म एवं समाज ﴾ सिद्धेश्वरी नारायण राय,पञ्चनद पब्लिकेशंस, इलाहाबाद , प्र०सं० -1968 ।

229• चन्द्र संस्कृत व्याकरणम्-डा० नेमि चन्द्र शास्त्री, प्रकाशन-मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ,पटना, वाराणसी, चौक,प्र०सं० -1968 ।

230· पदम् चन्द्र कोश॥ प्र0भाग॥ अ–न डा0 धमेन्द्र कुमार गुप्त एवं आचार्य विपिन चन्द्र बन्धु,मेहरचन्द्र लक्ष्मनदास पब्लिकेशन्स,नई दिल्ली, प्र0सं0-1982 ।

231· शिव स्तोत्रावली–श्रीमदीश्वरप्रत्यभिज्ञाकराचार्य चक्रवर्तिवन्द्याभिधानोत्पल झा – आचार्य विरचिता,चौखम्भा संस्कृत सीरीज,1902 ।

232· संस्कृत साहित्य का इतिहास-मूल लेखक ॥ ए0बी0 कीथ॥ भाषान्तर डा0 मंगलदेव शास्त्री,मोतीलाल बनारसीदास,दिल्ली, पटना, वाराणसी, वि0सं0-1967 ।

233· वैदिक संस्कृति और दर्शन-डा0 शिवम्भर दयाल अवस्थी,प्रका0 - सरस्वती,प्रका0 मन्दिर,इलाहाबाद,प्र0सं0-1978 ।

234 संस्कृत शोध प्रक्रिया एवं वैदिक अध्ययन–डा0 कृष्ण लाल उपाचार्य,संस्कृत वि0,दिल्ली-वि0वि0 दिल्ली,प्र0सं0,सं0-1978 ।

235· संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास,सत्यकाम वर्मा,मोतीलाल बनारसीदास,प्र0सं0-1971 ।

236· संस्कृत व्याकरण॥ मूलक लेखक ॥ डब्ल्यू डी0 ह्विटनी ॥ अनुवादक॥ डा0 मुनीश्वर झा, उ0प्र0 हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,लखनऊ,प्र0सं0-1971 ।

237· स्वर अवधारणा, डा0 पारस नाथ त्रिपाठी,संदीप प्रकाशन,बस्ती-प्र0सं0, 1978 ।

238· स्तोत्रार्णव ॥ सं0॥ टी0 चन्द्र शेखरन्, पब्लिश्ड अण्डर द आर्डर्स आव द गवर्नमेन्ट आफ मद्रास,1961 ।

239· द प्रैक्टिकल डिक्शनरी द्वारा सूर्यकान्त,दिल्ली आक्सफोर्ड वि0वि0- प्रेस,वाम्बे,कलकत्ता,मद्रास,1981 ।

240• वेद में इन्द्र एक समालोचनात्मक विवेचन-डा० जयदत्त उप्रेती , भारतीय विद्या-प्रकाशन, दिल्ली, वाराणसी ,भारत,प्र०सं०-1985 ।

241• शुक्लयजुर्वेद माध्यन्दिनी संहिता (दर्शपूर्णमासपर्यन्ता) डा० हरिशंकर त्रिपाठी, वेदपीठ प्रकाशन डी बाघम्बरी रोड,इलाहाबाद,(उ०प्र०) सं०-2040, सन् -1983 ।

जर्नल

1• कल्याण श्री गणेश अङ्क , गीता प्रेस, गोरखपुर ।

2• प्रबुद्ध भारत कलकत्ता ।

3• गुरुकुल पत्रिका हरिद्वार ।

4• भारती जयपुर राजस्थान ।

5• विश्व ज्योति ।

6• विश्वेश्वरानन्द इण्डोलॉजिकल जर्नल, होशियारपुर ।

7• सुधर्मा संस्कृत दिन पत्रिका रामचन्द्र अग्रहारम् मैसूर ।

8• वेदवाणी मासिक , हिन्दी वाराणसी , जुलाई 1959ई०, (वर्ष 11 अंक-9)